श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

सहजानन्द ज्ञानामृत प्रवचन

प्रवक्ता :
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक :
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

प्रथम संस्करण १०००] सन् १९७७ [लागत ५)७५ रु०

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सरक्षक, अध्यक्ष एव प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ
(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१	श्रीमान् सेठ भंवरीलाल जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
२	,, वर्णीसघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय,	कानपुर
३	,, कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,, सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	श्रीमान् मित्रसैन नाहरसिहजी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,, प्रेमचन्द ओमप्रकाश, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,, सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,, दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,, बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,, बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,, केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,, सेठ गैदामल दगडूशाह जी जैन,	सनावद
१४	,, मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मडी,	मुजफ्फरनगर
१५	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	श्रीमान् जयकुमार वीरसैन जी जैन,	सदर मेरठ
१७	,, मत्री, जैन समाज,	खण्डवा
१८	,, बाबूराम अकलकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,, विशालचन्द जी जैन रईस,	सहारनपुर
२०	,, बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	श्रीमती सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जनसघी,	जयपुर
२२	,, मत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	श्रीमान् सेठ समल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,, बा० गिरनारीलाल चिरजीलाल जी जैन,	,,
२५	,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी	,,

२६	श्रीमान् सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,, सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बडौत
२८	,, गोकुलचंद हरकचद जी गोधा,	लालगोला
२९	,, दीपचद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इजीनियर,	कानपुर
३०	,, मत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मडी,	आगरा
३१	श्रीमती सचालिका, दि० जैन महिलामडल, नमककी मडी	,,
३२	श्रीमान् नेमिचन्द जी जैन, रुडकी प्रेस,	रुड़की
३३	,, झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,, रोशनलाल के० सी० जैन,	,,
३५	,, मोल्हडमल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	,,
३६	,, बनवारीलाल निरजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,, स्व० सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	दिगम्बर जैनसमाज	गोटेगाँव
३९	श्रीमती माता जी धनवती देवी जैन, राजागज,	इटावा
४०	श्रीमान् ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द"	रुडकी
४१	,, लाला महेन्द्रकुमार जी जैन,	चिलकाना
४२	,, लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन,	,,
४३	,, हुकमचद मोतीचद जैन,	सुलतानपुर
४४	,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४५	,, इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४६	श्रीमती कैलाशवती जैन, ध० प० चौ० जयप्रसाद जी	सुलतानपुर
४७	श्रीमान् * गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज,	गया
४८	,, * बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छावडा,	झूमरीतिलैया
४९	,, * सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन वडजात्या,	जयपुर
५०	,, * बा० दयाराम जी जैन आर एस. डी ओ.	सदर मेरठ
५१	,, × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
५२	,, × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोटः—जिन नामोके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये है, शेष आने है तथा जिन नामोके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया, सभी बाकी है।

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मै वह हूं जो है भगवान, जो मै हूं वह है भगवान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मै जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहू अभिराम ।।५।।

[धर्मप्रेमी बधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोपर निम्नाकित पद्धतियों मे भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए ।

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोके बीचमे श्रोतावो द्वारा सामूहिक रूपमे ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रो द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घटा पूर्व परिवारमे एकत्रित बालक-बालिका, महिला तथा पुरुषो द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओ द्वारा ।

ज्ञानामृत प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

(१)

मै ज्ञानमात्र हू, मात्र ज्ञानका ही परिणमन मुझमे संभव है, ज्ञानका ज्ञानरूपसे ही परिणमन हो, यही मेरी रक्षा है, जिसकी निशानी है निर्विकल्प अलौकिक परम सतोषका अनुभव ।

ज्ञानामृतपानके उद्यवनका ज्ञापन—इस आत्माको आवश्यक है ऐसे ज्ञानामृतका पान करना कि जिससे अज्ञानजन्य सताप शात हो जाय । जितना भी जीवको संताप है वह सब अज्ञानका फल है । जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा न समझना, उससे विपरीत समझना, इस बातमे तो दुःख होना प्राकृतिक बात है । यदि दुःखोसे मुक्त होना चाहते है तो अज्ञान अन्धकारको दूर करें, सत्य ज्ञानका प्रकाश पायें तो वहां सताप नही ठहरते । तो ऐसा ज्ञानामृतका पान बने । काहेके द्वारा ? कटोरी गिलाससे नही, किन्तु अपनो ज्ञानवृत्तिके द्वारा । ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समा जाय यह ही है वास्तविक अमृतका पान । तो उस ही के प्रसगमे यहाँ इस प्रथम निबधमे चार बातोपर प्रकाश पड़ रहा है—मै क्या हूं, मुझमे क्या हो सकता है, मेरी रक्षा किसमे है, और मेरी रक्षा हो गई या रक्षाका उपाय पा लिया, इसकी निशानी क्या है ? ये चारो परिज्ञान आत्महितके लिए बहुत उपयोगी है । मैं कौन हू, इतनी ही बात नही जानी गई तो फिर सुखी किसको करता ? मुझमे फिर क्या सम्भव है, जब यह ही परिचय न हो तो मैं अपनेमे पौरुष क्या कर सकता हू ? किसमे मेरी रक्षा है, यह ज्ञात ही न हो तो रक्षाका उपाय कौन करेगा ? और मेरी रक्षाका उपाय बन गया, मै ठीक सही मार्गपर चल रहा, इसका कोई चिह्न भी समझमे न आये तो कैसे यह सतोष करेगा और कैसे यह अपने

ज्ञानपथमे बैठेगा ? तो देखो ये चार बातें समझ लेनी बहुत उपयोगी है ।

"मै क्या हूं" प्रथम जिज्ञासाका समाधान—अब उन चार बातोमे से पहली बातपर ध्याय दीजिए—जिज्ञासा हुई कि मै क्या हू ? मैं ज्ञानमात्र हू । मात्रका अर्थ है—केवल, सिर्फ याने जो मेरेमे स्वभाव है बस वही मैं हू, इसमे निषेध किसका किया गया ? जो विकारभाव है, नैमित्तिक भाव है, पराश्रित भाव है उनको मना किया गया कि ये मै नही हू । अभेददृष्टि मे तो यह निर्णय है कि मैं ज्ञानमात्र हू, पर कुछ भेददृष्टिसे परखे तो इस ज्ञानके साथ ज्ञानके सहभावी अनेक गुण विदित हुए है । मैं ज्ञानमात्र हू, मैं दर्शनस्वरूप हू, चारित्ररूप हू, आनन्द रूप हू, सम्यक्त्वरूप हू, अनेक बाते समझी जा सकती हैं, पर वे सब अनेक बाते भी अभेद-दृष्टिसे निरखनेपर 'मै ज्ञानमात्र हू' ऐसा ही समझा जायगा । भेददृष्टिमे तो गुण अनेक है तो उन अनेक गुणोमेसे ज्ञानमात्र की ही भावना क्यो बनाई गई ? इसका कारण यह है कि यदि हम अपनेमे किसी अन्य गुणरूपसे अपनेको मानकर चले तो ज्ञानको छोडकर अन्य गुणके जाननेकी बात नही आती । तो जाने बिना, अनुभवे बिना अन्य गुणोको मैं क्या समझ सकूगा ? इसलिए सर्व गुणोमे से ज्ञानगुणको ही एक छाट लें, और अपनेको यह अनुभव करे कि मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञानमात्र अनुभवनेमे आत्माका सर्वात्मक अनुभव बन सकता है और यहाँ कोई पराधीनता भी नही बनती, क्योंकि ज्ञानके ही द्वारा जानना है और ज्ञानके ही रूपमे सब गुणोसे जानना है, इस कारण मै ज्ञानमात्र हू, मै ज्ञानमात्र हू, ऐसी बराबर दृष्टि बनी चली जाय । यह तो है प्रथम जिज्ञासाका समाधान—मै ज्ञानमात्र हू ।

"मुझमे क्या सम्भव है" द्वितीय जिज्ञासाका समाधान—अब दूसरी बात लीजिए । मुझमे कौनसी बात सम्भव है ? जब अपनेको ज्ञानमात्र तका तो उस ही प्रकारसे यह उत्तर आयगा । मुझमे मात्र ज्ञानका ही परिणमन सम्भव है । अपनेको देखा जा रहा है ज्ञानस्वरूप । और कोई भी वस्तु परिणमे बिना रहती नही और मै हू ज्ञानस्वरूप । तो मुझमे जो परिण-मन बनेगा वह ज्ञानरूप परिणमन ही बनेगा । मेरेमे ज्ञानपरिणमन ही सम्भव है । अन्य परिणमन मुझमे सम्भव नही । देखो जीवमे भले ही विकार तो होते जाते है, पर यह तका जा रहा है इस विधिमे कि मेरेमे अपने आपसे ही अपनेमे परका आश्रय लिए बिना क्या सभव है ? तो यह केवल जाननहारकी स्थिति सम्भव है । यहाँ विकारादिक सम्भव नही । तो दूसरा प्रश्न था, जिज्ञासा भी थी कि मेरेमे क्या सम्भव है ? देखो यह जीव मानता तो सब कुछ है कि मेरेमे सुख भी आता है, दुःख भी आता है, आनद भी मिलता है, सर्व बातें समझ तो रहा है, मगर वह सब ज्ञानके उपयोगकी करतूत है और वे मोहयुक्त उपयोगके विकाररूप है । क्योकि सबमे ज्ञानपरिणमन बना हुआ है । मुझमे दुःख है, इसका अर्थ क्या है कि मै ।

परपदार्थोंको अपनानेका विकल्प बहुत किया। यह ही तो कष्ट है, जीवमें और है क्या? अपने अपनेमे देखो—हम आप सब जीव ये अपनेमे है, ज्ञानस्वरूप है, इनमे कष्टकी क्या बात है? कहाँसे कष्ट आयगा? कष्ट क्या कोई बाहरी चीज है? जो किसी बाहरी पदार्थसे आये, बस एक ऐसा विकल्प किया कि जिससे मोह रागद्वेष विकल्परूप बन गया, ज्ञानके ऐसे परिणमनसे ही कष्ट हो रहा, कष्ट कही बाहरकी चीज नही, किसी बाहरी वस्तुसे आता नही, किन्तु अपनेमे उस प्रकारका विकल्प बनाया और कष्ट होने लगा। तो जो कुछ भी और-और बातें सोची जा सकती हैं वे सब ज्ञानके ही परिणमनरूप है। तो यही बात अन्तमे आयी कि मुझमे ज्ञानका परिणमन ही सम्भव है और कुछ सम्भव नही। यह जीव अज्ञानवश बहुत बड़े वैभवको अपनाता है और उसमे दुःखी होता है। जिस समय वैभव मिला हुआ है उस समयमे भी यह जीव सुरक्षित नही है। उसके मोहके विकल्पमे, रागके विकल्पमे बरबादी कर रहा है यह प्राणी। तो जहाँ मोह है वहाँ क्लेश, राग है वहाँ क्लेश, द्वेष है वहाँ क्लेश। तो यह क्लेशकी विडम्बना मेरे ज्ञानके परिणमनके माध्यमसे ही तो बन रही है। तो ज्ञानका परिणमन ही उनमे सम्भव है। मुझमे अन्य बात सम्भव नही है।

"किसमें अपनी रक्षा है" तृतीय जिज्ञासाका समाधान—अब तीसरी समस्याको निरखिये—तीसरी बात यह पूछी गई है कि मेरी रक्षा किसमे है? देखो यह जीव ज्ञानका परिणमन करनेके सिवाय और कुछ नही कर पाता। भले ही हमारे विकारके निर्माणमे पर-उपाधिका सग आवश्यक है और परपदार्थमे उपयोग देकर हम अपनेको कष्टमे ही डालते है। हम आप भगवानको पूजने रोज-रोज क्यो आते? सुबह हुआ, नहाया धोया, मदिरमे आते, प्रभुभक्ति करते, सब लोग बडा शोरसा मचाते, सब अपनी-अपनी धुनमे पूजा कर रहे हैं। अगर किसीकी शोरसे स्वयको बाधा आती है तो वह खुद जोरसे बोल बोलकर पूजा करने लगता है। कभी तो ऐसा गम नही खाते कि अरे वही तो पूजा है जो रोज-रोज करते, वही तो मन्दिर है, वही तो भगवान है। कभी ऐसा तो मन नही मानता कि आज न जावें दर्शन, पूजन करने। क्यो ऐसा करते? यो करते कि यहाँ शान्ति मिलती है। प्रभुके गुणोका स्मरण होता है। बाहरके मोह रागद्वेषके विकल्प वहाँ टूट जाते हैं। सहज आनन्द प्राप्त होता है।

तो बात क्या हुई यहाँ? जिसका हम पूजन करते, ध्यान करते वह है विशुद्ध ज्ञानका परिणमन और यहाँ भी उनका चिन्तन करके ज्ञानका ही परिणमन चल रहा है। तो अपना ज्ञान-परिणमन सुधारनेके लिए मन्दिरमे हम आते हैं। देखो मन्दिर आनेका प्रयोजन समझ लो। लक्ष्य, प्रयोजन समझे बिना यह मन्दिरका आना भी आपके लिए बोझ ही कहलायगा, उससे मार्ग न मिल पायगा। तो इसका प्रयोजन समझ लो। ज्ञानके परिणमनके

सिवाय और कुछ कर सकते नही ? जब ज्ञानका परिणमन ढगसे न हो तो क्लेश होता है, ढगसे हो तो शान्ति मिलती है। वह ढग क्या है कि हम तो ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपको ही जाने। किसी भी परपदार्थमे मोह रागद्वेषका लगाव न रखें, शान्ति मिल जा"गी। तो अब इतनेसे ही समझ गए होगे कि हमारी रक्षा है तो ज्ञानका किस तरह परिणमन हो, उसमे रक्षा है कि ज्ञान ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमन करे, याने विशुद्ध ज्ञाता दृष्टा रहे इसमे मेरी रक्षा है। ज्ञाता दृष्टा रहना, आनन्द स्वरूपका उपयोग रखना यह एक ऐसा महान दृढतम दुर्ग है कि जहाँ कषाय बैरियोका प्रवेश नही हो सकता। तो मेरी रक्षा कहाँ हुई, मेरे ज्ञानका ज्ञानरूप से ही परिणमन बने, बस यही मेरी रक्षा है। जगतमे देख लो एक ओरसे दूसरी ओर तक। जो भी दुःखी है वह मोह रागद्वेष रूप जीवनकी वजहसे दुःखी है और दुःखी भी प्राय. सब है। कोई कहे कि हम दु.खी नही होते, इस दूसरेका विकल्प हम लगा लेते है, तो अलग लगा क्या ? कोई किसीपर कितनी भी करुणा करे, कितना भी कोई नाते रिश्तेदार समझाये, कितने ही मैत्री सम्बन्ध बढाये, पर यह कभी नही किया जा सकता कि भाई तुम्हारा परिणमन मै कर देता हू। सबका अपना-अपना परिणमन है और वह परिणमन ज्ञान द्वारा प्रकट हो रहा। सो ज्ञानका परिणमन है। अब यह ज्ञानका परिणमन ज्ञानरूपमे ही रहे, ज्ञाता दृष्टा रहे, ज्ञानस्वभाव मेरा स्वरूप वही ज्ञानमे बसे तो इस जीवको कोई कष्ट नही हो सकता। तो रक्षा अपनी इसमे है कि ज्ञान ज्ञानरूपमे रहा करे।

"अपनी सुरक्षाका चिन्ह क्या है ?" चतुर्थ जिज्ञासाका समाधान—अब चौथी बात सुनो, मेरा ज्ञान ज्ञानरूपमे ही वर्त रहा है और अब मैं सुरक्षित हो गया हू। मेरेको अब किसी प्रकारका कष्ट नही है। इसकी निशानी क्या है ? कैसे समझे कि मेरी रक्षा हो गई ? उसकी निशानी है "निर्विकल्प अलौकिक परमसन्तोषका अनुभवन।" मेरेको ज्ञान जगा है, मेरे ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाया है इसकी पहिचान क्या है ? खुद ही जान पायेगे, दूसरा न जान सकेगा। इसकी पहिचान है परमसतोषका अनुभव। वह सतोष कैसा है ? निर्विकल्प और अलौकिक। देखिये—भोजन करते समय जो सुख मिलता है वह सुख विकृत दशा है या अविकृत दशा है ? विकृत दशा है। जो जो काम हम करते चले जा रहे है उन कामोमे हमको लाभ कुछ नही है। अपनी रक्षा है अपनेको सतोष मिलेगा तो निजस्वरूपका भान करें और उसमे ही मग्न होनेका पौरुष बनाये। जब तक ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाया रहता है तब तक जीवको अलौकिक सतोष होता है। तो इस ही सतोषके अनुभवमे सामर्थ्य है कि वह भव-भवके कर्मोको दूर करता है।

चार जिज्ञासाओके समाधानमे ज्ञानामृतपानकी योजना—यहाँ अपनेको समझनेके

लिए चार बातें कही गई है कि मै ज्ञानमात्र हू । उसका अनुभव बने कैसे ? मेरेमें मात्र ज्ञान का ही परिणमन होता है, मेरेमे किसी बाहरी चीजकी आफत नही लगी । ज्ञानमे ज्ञानरूपसे ही परिणमन होता है । ज्ञानका परिणमन ही मुझमे सम्भव है—दूसरी यह बात समझें । तीसरी बात क्या समझें कि मेरी रक्षा किसमे है ? लाखो करोडोका वैभव जाड ले, तो क्या इसमे मेरी रक्षा है ? अच्छी पार्टी समागम जुट जाय तो क्या इसमे मेरी रक्षा है ? मेरी रक्षा है मेरे ज्ञानमे ज्ञानदेवता समाया रहे । ज्ञानका विशुद्ध सहजस्वरूप क्या है ? ज्ञान ज्ञानमे बर्तता रहे, इस भावमें मेरी रक्षा है, और उसकी निशानी है निर्विकल्प सन्तोषका लाभ । तो इसका अधिकाधिक प्रयोग करते रहना चाहिए कि मैं ज्ञानमात्र हू । मै ज्ञानको ही कर सकता हूं और ज्ञानको ही भोग सकता हू, ऐसी अपने स्वरूपकी ओर दृष्टि हो तो यह कहलाता है ज्ञानामृतका पान करना, जिससे कि यह जीव अमर हो जाता है । सब लोग कहते है और चाहते है कि मै अमर हो जाऊँ, पर अमर होनेकी विधि यह है कि जो मेरा स्वरूप है उसका भान हो, यह मै हू ऐसा परिचय हो, सतोष हो तो समझो कि हम ज्ञानपरिणतिमे आगे बढ़ते चले जा रहे है । सो ज्ञानका ज्ञानरूप परिणमते रहनेमे अपनी अमरता है ।

(२)

मुझमे खोटेसे खोटा यही सम्भव है कि अज्ञानरूप (विकल्परूप) से परिणाम लूँ, यो ज्ञानका अज्ञानरूपसे परिणाम जाना ही मेरा विघात है, जिसकी निशानी है इन्द्रियविषय या नामवरीमे चित्तका रमना ।

विषय कषायके विकल्पोमे आत्मप्रभुका विघात— यहाँ यह विचार चल रहा है कि मुझमे खोटीसे खोटी बात किसी भी प्रकारसे हमको क्या बना सकती है ? देखो जब कोई धैर्य की ओर बढता है तो अधिकसे अधिक मेरेपर क्या विपत्ति आ सकती है, क्या परिणमन हो सकता है ? उसकी यह जीव कल्पना करता है और उसे मानकर उसे तुच्छ जानकर धैर्य लाता है । तो यहाँ विचारें कि मेरेमे खोटीसे खोटी बात क्या सम्भव है ? खोटीसे खोटी यह बात सम्भव है कि मै विकल्परूप परिणमता हू । मेरेमे खोट, कषायें आयी है, आप सब अपने-अपनेमे देखें कि मेरेमे खोट कितनी कि मैं अज्ञानरूप परिणम रहा हू । जितने विकल्प है वे सब अज्ञान कहलाते है । तो इस ज्ञानका ऐसा यह सब कुछ परिणमन अज्ञान हो रहा है, बस यही मेरी हत्या है, मेरा विघात है सो जानें तो सही । देखो आज है इस भवमे और आर्तध्यान व रौद्रध्यानमे समय गुजार दे तो भला बतलावो इस भवके लिए भी मैने क्या पाया ? तो अपने आपपर दया करके अपनी ऐसी परिस्थिति बनाये कि जहाँ ऐसी उमग बने कि मैं अज्ञानरूप, विकल्परूप न परिणमूँगा । मैं तो जैसा शाश्वत जिस स्वरूप हूं उस रूपसे

ही मै रहूगा । देखो सब संकट दूर हो जाते है । तो ज्ञानका अज्ञानरूप परिणमा लेना बस यही मेरा विघात है । हां, जैसे पहली विधि बतायी थी कि मेरी रक्षा किसमे है और उसकी निशानी क्या है ? तो यहा एक यह बात खोज निकालें कि मेरी बरबादी किसमे है ? और उस बरबादीकी निशानी क्या है ? मेरी बरबादी है अज्ञानरूप होनेमे । परको अपनाया, राग बनाया, यही बरबादी है । देखो मोह करना कितना सरल लग रहा है लोगोको ? कुछ अटक ही नही लगती । झट मोह करते है, वहा कुछ बीचमे ध्यान भी नही है । कितना सरल जच रहा है मोह, कितना सस्ता लग रहा है राग करना, पर यह याद करना चाहिए कि मोह और राग करते समयमे हम अपने आत्माकी अनन्त हिंसा कर रहे है । कहा तो ज्ञानस्वरूप भगवान यह आत्मा आनन्दनिधान, यह आत्मतत्त्व और इसको न जानकर बाह्य पदार्थोमे रागद्वेष मोह करके हम अपना कितना विघात कर रहे है ? वही माननेको तैयार होता यह मोही प्राणी । जैसे किसी छोटी बच्चीसे कहा कि तू तो लडका है तो वह झट कह उठती— हट मै क्यो लडका होऊँ ? और किसी लडकेसे कहो कि तू तो लडकी है तो वह झट कह उठता—हट, मै क्यो लडकी होऊँ ? तो जो जिस पर्यायमे है, उस पर्यायके खिलाफ अपनेको माननेमे वह तैयार नही होता । यह जीव मोहमे रगा है, रागमे रगा है तो यह माननेको तैयार नही होता कि मोहसे ही मेरी बरबादी है, रागसे ही मेरे लिए कष्ट है । राग और मोह छोडें तो कष्टसे छुटकारा होवे । जैसे कोई बच्चा खानेकी चीज लिए है और उसपर दो-चार बच्चे उस चीजको छुडानेके लिए उसपर हावी हो रहे है तो वह बच्चा चिल्लाता है, रोता है, दुःखी होता है । पर वह बच्चा अगर अपनी मुट्ठी खोलकर उस चीजको बाहर फेंक दे तो उसके उस विषयक सारे कष्ट तुरन्त दूर हो जाये । फिर उसका वे उद्दण्ड बच्चे क्या कर सकेंगे ? फिर कुछ प्रसग ही नही । तो यह जीव अपने अज्ञान भावसे मोह बसाये है, राग बसाये है, उसका कष्ट भोग रहा है और भीतरसे वह कष्टकी जडको छोडना नही चाहता । सो दुःखी कौन हो रहा ? यह खुद ही दुःखी हो रहा । यदि सकटोसे छुटकारा पाना है तो अपना अज्ञानरूप परिणमन मत करो । जो बात जैसी है, खुद जैसे है, यह लोक जैसा है वैसा ही समझ लें । अगर नही समझ सकते तो इसमे विघात है, बरबादी है ।

आत्मविघातकी निशानी—जीवकी बरबादीकी मूल निशानी यह है कि इसका चित्त किसी इन्द्रिय विषयमे जा रहा है या अपनी नामवरीके सोचनेमे जा रहा है । दो निशानी बरबादीकी बतला रहे है । भीतरमे बरबादी हो रही है, मैं अज्ञानरूप परिणम रहा हू, इसकी निशानी क्या है ? इन्द्रिय विषयोमे चित्त लगना । स्पर्शनका विषय सुहाये, खाने-पीनेमे रसीली चीजें सुहायें, सुगधित तेल फुलेल लगाये, अच्छे अच्छे रूप देखना सुहाये । अरे अच्छा-पच्छा

कुछ नही है, कल्पनामे जैसा आ गया सो अच्छा। अच्छे शब्द सुहायें, यह निशानी है इस बातकी कि निरन्तर बरबादोकी बात चल रही है, अथवा नामवरीमे चित्त जाय, मेरा ऐसा यश फैले, मेरी ऐसी कीर्ति हो, मेरे नामपर धब्बा न लग जाय, मेरा खूब प्रकट गुणप्रकाश फैले, कुछ भी बात रखें, लोग मेरा नाम लेते रहे, मेरी बात सबके चित्तमे जम जाय, यदि ऐसी धारणा है तो वहाँ कष्ट है। यह तो बरबादीकी निशानी है। सो भाई कष्टोसे छुटकारा पाना है तो सम्यग्ज्ञान बनाओ और उस ज्ञानके द्वारा अपना उपयोग निज सहज ज्ञानप्रकाशमे रखो, कोई भी कष्ट हममे नही है।

(३)

अनादि अनन्त अहेतुक सहज चैतन्यस्वभावके आश्रयमे ही सम्यक्त्वका आविर्भाव है, पर या परभावके आश्रयसे तो अनर्थक विकल्पका ही प्रादुर्भाव है, अतः आत्मस्वभावके आश्रयमे ही आत्माका कल्याण है।

सम्यक्त्वके आविर्भावमें आश्रेय तत्त्व—सम्यक्त्वका आविर्भाव कैसे होता है, यह बात बहुत ध्यानसे, प्रमुखतासे समझनी चाहिए। कुछ भी भाव उत्पन्न होनेके लिए किसी न किसीका आश्रय होता ही है। यह उपयोग, कही न कही लगता ही है। तो जब उपयोग अपना व्यापार निरन्तर करता ही रहता है, तो हमे इस व्यापारमे ही यह समाधान पाना है कि उपयोगका कौनसा व्यापार सम्यक्त्वकी उत्पत्ति कराता है? साथ ही यह भी जान लिया जायगा कि उपयोगका कैसा व्यापार विकल्प उत्पन्न करता है, सम्यग्दर्शनका क्या स्वरूप है? निर्विकल्प, अखड एक सहज चैतन्यस्वरूप आत्मतत्वमे 'यह मै हू' इस प्रकारकी आस्था होना इससे विपरीत आशयका दूर हो जाना यह बात पायी जाती है सम्यक्त्वमे। तब सम्यक्त्व एक निर्विकल्प तत्त्व है। तो निर्विकल्प तत्त्वका आविर्भाव विकल्पसे नही हो सकता। इतना तो सीधा गणित जैसा उत्तर है। निर्विकल्पभावका आविर्भाव निर्विकल्प तत्त्वके आश्रयसे ही सम्भव है। तो यहाँ इतनी बात तो आ ही गई कि सम्यक्त्वका आविर्भाव निर्विकल्प भावके आश्रयसे होगा। अब वह निर्विकल्पभाव क्या है? अत्यन्त निर्विकल्प भाव याने विकल्प हो, विकल्प मिटे, ऐसी परिणति की भी बात नही कह रहे, किन्तु जो स्वत. अखण्ड है, निर्विकल्प है उस सहज भावके आश्रयसे सम्यक्त्वका आविर्भाव होता है। सम्यक्त्व है अपने आपकी परिणति। अपने आपकी कोई भी परिणति किसी परके आधारमे नही बनती। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि यदि विकाररूप परिणति है तो वह किसी परका आश्रय करके बनता है यदि व्यक्त विकारका प्रसग हो। और व्यक्त विकारका प्रसंग नही तो मात्र वास्तविक निमित्त के सन्निधानमे इस जीवमे अव्यक्त विकार होता ह। सो विकार तो अवश्य नैमित्तिक है, पर

वह भी इस जीवकी भूमिकामे ही होता है। फिर यहाँ तो सम्यक्त्वकी बात कह रहे है। समीचीनता, स्वच्छ आशय, विपरीत आशयसे दूर होना—यह होता है निज निर्विकल्प सहज चैतन्यस्वभावके आश्रयसे। मेरा निजस्वरूप क्या है? चैतन्यमात्र। सहज चैतन्यस्वरूप यह है मेरा स्वरूप। मेरे आश्रयसे ही सम्यक्त्वका आविर्भाव होता है।

सहज चैतन्यस्वभावकी अनादिनिधनता—यह सहज चैतन्यभाव कबसे आया है जीव मे? जबसे जीव है तबसे ही यह सहजभाव है। जीव कबसे है? कोई भी सत्पदार्थ पहले न हो और बादमे हो, ऐसा कभी नही होता। जो है वह अनादिसे है। तो यह अपने आत्मा का चैतन्यस्वभाव भी अनादि है। इसकी आदि नही है। इस समयसे चैतन्यस्वभाव बना ऐसी यहाँ कुछ भी वार्ता नही है और जब यह चैतन्यस्वभाव अनादि है तो यह अनन्त भी है। जो सत् है, जिसकी आदि नही उसका अन्त नही। जिसकी आदि नही उसका अन्त कभी हो ही नही सकता। भले ही कुछ प्रश्न उठें कि देखो अज्ञानभावकी आदि तो नही, अनादिसे अज्ञानभाव चला आ रहा है। उसका अन्त कैसे हो गया? मिथ्यात्व व कषाय कब से है? इसकी भी आदि नही। अनादि कालसे जीवके साथ मिथ्यात्व और कषायभाव लगे चले आ रहे है, किन्तु उनका अन्त तो हो जाता है। तो ऐसी आशका उठे तो उसका समाधान यो पाइये कि कोई भी अज्ञानभाव अनादिसे नही होता। मिथ्यात्वभाव, कषायभाव से नही होता। उसकी परम्परा अनादिसे है। जैसे वर्तमानमे जो क्रोधभाव जगा तो जो क्रोध भाव जगा क्या वह अनादिसे है? आज जगा, किसी बाहरी पदार्थका विचार करके जगा, उसका जो रूपक है, उसकी जो मुद्रा है वह तो अभी हुई है, इसी प्रकार अन्य अन्य कषायें भी अनादिसे नही है, लेकिन इनकी परम्परा अनादि है। कषायें अनादिसे चली आ रही है। इसके बाद दूसरी कषाय, उसके बाद अन्य कषाय, इसी प्रकार मिथ्यात्वभाव भी अनादि परम्परासे चला आ रहा है, न कि जो मिथ्यात्वपर्याय है वह पर्याय अनादिसे है, क्योकि मिथ्यात्वपर्याय तो प्रत्येक क्षण नवीन-नवीन होती चली जा रही है, क्योकि उस मिथ्यात्वके आशयमे प्रभाव भी नया-नया नये-नये समयमे बनता चला जा रहा है। तो कोई भी पर्याय अनादिसे नही होती। हा पर्यायोकी सतति अनादिसे है। यो यहा निज चैतन्यस्वभावकी बात कही जा रही है। यह चैतन्यस्वभाव अनादिसे है, सहजभाव है, एकस्वरूप है, अखण्ड है, ध्रौव्याश वाली बात कही जा रही है। यह चैतन्यभाव अनादि है, और ऐसा अविचल निरखकर एक सहज भावका जब आदि नही है तो उसका अन्त भी कभी नही हो सकता। साराश यह समझिये कि किसी भी सत् पदार्थका आदि नही है तो उसका अन्त भी नही है। सत् अनादि अनन्त होता, तो सहजस्वरूप भी अनादि अनन्त होता।

सहज चैतन्यस्वभावकी अहेतुकता—जो अनादि अनन्त है उसका कोई कारण नही, वह तो स्वय अपने आपसे है । जिन बातोमे कारण होता है उनकी आदि है और अन्त हैं, जितनी कषाये मिथ्यात्व मोह आदिक विकार है वे सहेतुक है अर्थात् कर्मविपाकका निमित्त पाकर जीवद्रव्यमे उस योग्य उपादानमे किसी समय हुए है । यद्यपि ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे देखा जाय तो ऋजुसूत्रनय चूंकि एक समयकी पर्यायको ही निरखता है, दूसरा कुछ देखता ही नही है, इसके मायने यह नही है कि दूसरा कुछ है ही नही । द्रव्य है, पूर्वकी पर्याये है, उत्तर की पर्याये है, सब कुछ होनेपर भी ऋजुसूत्रनयका विषय तो एक समयकी पर्याय है । तो जब ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे तका जा रहा है तो पर्याय अहेतुक कही जाती है, क्योकि पूर्व उत्तर का कुछ भी इस नयकी निगाहमे नही है, लेकिन क्या अहेतुक है, इतना ही सत्य है ? इसका एकान्त करे तो वह असत्य दर्शन हो जाता है । ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे पर्याय अहेतुक है, लेकिन द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे जिस द्रव्यमे पर्याय हुई है वह द्रव्य पहले भी है, बादमे भी है । और द्रव्यमे पर्याय निरखो जो कि द्रव्यार्थिकनयके भेदरूप व्यवहारनयकी दृष्टिसे कहा जायगा कि पूर्व पर्याय सयुक्त द्रव्य वर्तमान पर्यायका उपादान कारण है और जो विकार वाली पर्याय है उसमे कोई परउपाधिका संसर्ग निमित्त है तो परिणमन तो सहेतुक है, पर सहजस्वभाव सहेतुक नही, वह अनादि अनन्त है तथा अहेतुक है, ऐसे अनादि अनन्त अहेतुक सहज चैतन्य-स्वभावका जो भव्य प्राणी आश्रय करते है उनके सम्यक्त्वका आविर्भाव होता है ।

परपदार्थ या परभावके आश्रयसे विकल्पका प्रादुर्भाव—अब इसकी विपरीत बात समझिये—जो पुरुष इस सहज चैतन्यस्वभावका आश्रय नही करता है तो किसका आश्रय कर रहा होगा ? आश्रय तो जरूर है, वहाँ या तो परपदार्थका आश्रय है या परभावका आश्रय है । परपदार्थका आश्रय तो कहलाता है व्यवहारसे, परभावका आश्रय होता है निश्चयसे । यह निश्चय है अशुद्धनिश्चयनय । जो जीव किसी परपदार्थका आश्रय कर रहा याने मकान, धन-धान्य, स्त्री-पुत्र मित्रादिक बाह्य पदार्थका आश्रय कर रहा है उस पुरुषके सम्यक्त्वका आवि-र्भाव नही होता, किन्तु विकल्पका ही आविर्भाव होता है । यहाँ एक बात और समझनी है कि जब-जब विकल्पका आविर्भाव है तब तब सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका सम्बध नही है । सम्य-क्त्वकी उत्पत्ति अखण्ड निर्विकल्प ज्ञानस्वभावकी अनुभूतिपूर्वक होती है । पश्चात् भले ही अनुभव न रहे और सम्यक्त्व बना रहे, ऐसा हो सकता है, लेकिन प्रथम ही प्रथम जब सम्य-क्त्वका आविर्भाव होता तो अखण्ड निर्विकल्प सहज ज्ञानस्वभाव, सहज चैतन्यस्वभावका आश्रय करता हुआ यह जीव निर्विकल्प होतेमे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति पाता है । किसी भी पर-पदार्थका आश्रय किया जाय तो वहाँ विकल्प ही जगता है । जैसे लोग बाह्य पदार्थका ध्यान

रखकर जो कुछ वृत्ति करते हैं, विकल्पकी ही वृत्ति करते है—इससे यह बात शिक्षाकी मिलती है कि हम आपको अगर आत्माका हित चाहिए तो परपदार्थ और परभावका आश्रय करना उचित नही है। यहा थोडी इतनी बात समझ लो कि भगवान वीतराग देव, परमात्मदेव यद्यपि ये परपदार्थ है, व्यक्ति दूसरा है, लेकिन वह तो स्वच्छ है। जैसा स्वभाव है वैसा ही विकास है, इसलिए परमात्मप्रभुके सहज विकासका जो उपयोग करते है, उनकी भक्ति करते है तो परपदार्थके नातेसे नही करते, किन्तु अपने ही सहजस्वभावका वह दर्पण है, इस नातेसे करते है। इसलिए भगवद्भक्तिमे यह बात न कहना कि यह नोकर्म है या यह परव्यक्ति होने से भक्ति हेय है। परव्यक्तिके नातेसे प्रभुताकी भक्ति नही की जाती, किन्तु जो उस स्वरूपको समझता है वही तो स्वरूपको भक्ति करेगा। सो भले ही प्रभु दूसरा जीव है, फिर भी जैसे यहा लोग अपने मित्र, पुत्र रिश्तेदारका आश्रय करते है क्या समझकर कि यह मेरा रिश्तेदार है, यह मेरा पुत्र है, तो यहा कुछ परपदार्थ ही तो ध्यानमे लाये गए। इस तरह परपदार्थोंके ढगसे प्रभुका आश्रय नही किया जाता। प्रभुका आश्रय होता है तो अपने ही स्वरूपका दर्पण समझकर किया जाता है। तो जिसको आत्महित चाहिए उसका कर्तव्य है कि वह किसी पर-का या परभावका आश्रय न करे, एक अनादि अनन्त अहेतुक अखण्ड सहज ज्ञानभाव चैतन्य-स्वभावका आश्रय करे।

स्वहितके अर्थीका तात्कालिक उद्यम—भैया! अपने आप कभी अपनेमे निरखिये—मेरा हित किसी पर या परभावके आश्रयमे नही है। जगतमें मित्र परिवार रिश्तेदार लोकके वे कहलाते है जो किसी कषायभावमे सहयोग देते है। जो कषायसे निवृत्त होनेमे सहयोग पहुचा सकता है वह अलौकिक आत्मा होता है। लौकिक जनोका प्रसग तो एक मिथ्यात्व मोह कषायभावकी उत्पत्ति और वृद्धिमे ही सहयोग देता है, सो वह सब सम्बन्ध बरबादीका कारण है और मोह कषायभावसे हटनेका प्रेरणा जिससे मिले वह पुरुष अलौकिक है। उनको ही साधु सत ज्ञानी शब्दसे पुकारा गया है। तो हमे आश्रय किसका करना? निश्चयसे तो अनादि अनन्त अहेतुक अखण्ड एक सहज स्वभावका आश्रय करना है और व्यवहारमे इस चैतन्यस्वभावके अनुरूप जहाँ विकास हो चुका है या जो जो पुरुष इस विकासमे लग रहे है उन पुरुषोकी भक्ति उपासना सत्सग करना है।

(४)

कृपालु अभूतार्थनय भूतार्थनयके निकट पहुचाकर अपनी बलि दे देता, कृपालु भूतार्थ-नय अखण्डस्वानुभवके निकट पहुचाकर अपनी बलि दे देता, कृपालु स्वानुभव आनन्दधाममे

परमविश्राम देकर कृतार्थ कर देता।

स्वानुभवके लिये भूतार्थनयका साक्षात् व अभूतार्थनयका परम्परया सहयोग—देखिये अपने आपके कल्याणकी बात स्वानुभवसे प्रकट होती है। हमारा अन्तिम पौरुष स्वानुभव है। जहाँ स्वानुभव जगता है वहाँ सकट नही ठहरते। भव-भवके बाँधे हुए कर्म निर्जीर्ण होते, मोक्षका मार्ग स्पष्ट इसके होता है। परखो—स्वानुभवका अर्थ क्या ? निज सहज चैतन्य-स्वभावरूप स्वका अनुभव होना और बहुत सीधे सरल शब्दोमे यो समझ लीजिए कि जैसे हम नाना पदार्थोका ज्ञान किया करते है, बाहरमे रहने वाले पदार्थोका खम्भा, दरी, चौकी, भीत आदिकका जो ज्ञान किया जाता है तो इसका ज्ञान न होकर, इसका ज्ञान न कर एक ज्ञानस्वभावका ही ज्ञान बना रहे, ऐसा ज्ञान अगर कुछ क्षण बना रहता है तो वही कहलाती है स्वानुभवकी दशा। जिस ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ही समाया हुआ है अर्थात् जो ज्ञानव्यापार निज सहज ज्ञानस्वरूपका ही ज्ञान कर रहा है वह स्थिति कहलाती है स्वानुभवकी स्थिति। अब आप समझिये कि ऐसी परम अमृतमय स्वानुभवकी स्थिति क्या विकल्प द्वारा बनेगी ? विकल्प द्वारा तो न बनेगी। मगर स्वानुभवसे पहले क्या निर्विकल्प दशा रहती ? दोनो बातें समझनी है। स्वानुभव विकल्प द्वारा नही होता और स्वानुभव विकल्पके बाद होता है। तो स्वानुभवमे पहिले निर्विकल्प दशा नही। सो इतना तो मानना ही होगा, फिर भी स्वानुभवसे पहले कोई विकल्प रहता तो है ही, इस बातको मना नही कर सकते है। अब उस विकल्पमे सोचना है कि वह विकल्प अगर विकल्प बढाने वाला विकल्प है तो उसके बाद स्वानुभव नही होता और वह विकल्प विकल्पको समाप्त करने वाला विकल्प है। तो उस विकल्पके बाद स्वानुभव होता है। ऐसा कौनसा विकल्प है जो विकल्पको समाप्त करनेकी पद्धति रखता है इस ही विकल्पको कहते है भूतार्थनय।

भूतार्थनय व स्वानुभवकी निकटता—इस प्रसगमे ये दो नय है—अभूतार्थनय और भूतार्थनय। भूतार्थनय भी विकल्परूप है और अभूतार्थनय भी विकल्परूप है, मगर भूतार्थनय तो विकल्प समाप्त हो इस पद्धतिसे विकल्प करता है, यह पद्धति अभूतार्थनयमे नही। अधिक से अधिक अभूतार्थनयका कला-कौशल है तो यह कि वह भूतार्थकी ओर पहुचा दे, इस तरह की पद्धति रहती है। तो भूतार्थनयका विषय है अखण्ड अवक्तव्य एक सहजभाव। देखिये भूतार्थ और स्वानुभव—इन दोनोका क्षेत्र निकट-निकट है, पर सीमा जरूर पडी है भीतर। जैसे कोई दो खेत हो, है वे पास पास, मगर वे दो खेत कब कहलाते ? जब कही बीचमे थोडी बहुत भी सीमा हो। तो भूतार्थनय विकल्प है, स्वानुभव अविकल्प स्थिति है। मगर भूतार्थ-नयके निकट है स्वानुभव। भूतार्थनयसे जाना गया एक अखण्ड निज सहज ज्ञानस्वभाव।

जब तक इस एकके परखनेका विकल्प है तब तक तो है भूतार्थनय की स्थिति और जहाँ इस एकका भी विकल्प नही रहता है, जहाँ ज्ञानमे निज सहज ज्ञानभाव एकदम अवगाहित हो गया वहाँ है स्वानुभवकी स्थिति। यों समझिये कि जैसे किसी इष्ट क्षेत्रमे पानी भरना है तो उसके पास एक छोटी मेड लगा दी जाती है। मेडपर वह पानी पूरा रुका हुआ है। वह पानी रुका तो है, पर है उस इष्ट क्षेत्रके निकट। जैसे ही वह सीमा हटे, उन दो क्षेत्रोमे भेद डालने वाली सीमा जैसे ही समाप्त हुई कि वह सारा जल इष्ट क्षेत्रमे अवगाहित हो जाता है। ऐसे ही हमारा अभीष्ट है स्वानुभव। उस स्वानुभवमे यह सहज ज्ञानभाव अवगाहित हुआ है। तो उसके निकट अभी एक रूप विकल्पकी सीमामे भूतार्थनयके आश्रयमे वह सहजभाव छिपा हुआ है और भूतार्थनयसे इस सहज ज्ञानभावको परख है, ज्ञप्ति है, बस एक वह एकरूपताकी सीमा बनी है और जहाँ एकका भी विकल्प न रहा इस प्रकारसे ज्ञानमे सहज ज्ञानस्वभावका अवगाहन हुआ, बस वही है स्वानुभवकी स्थिति।

भूतार्थनयकी अनुपम कृपा—देखिये अब नयोकी कृपाये परखते जाइये। अभूतार्थनय भी कृपाशील है, भूतार्थनय भी कृपाशील है और स्वानुभव तो कृपाशील है ही। इस आत्मा का उद्धार उपयोग एक स्वानुभवसे होनेमे भूतार्थनयकी कृपा तो परखिये—इस भूतार्थनयकी कैसी अनुपम कृपा है कि इस भूतार्थनयने अखण्ड स्वके अनुभवके निकट पहुँचा दिया। और अखण्ड स्वके अनुभवके निकट पहुचाकर अपना विनाश कर लिया। कोई दूसरेका उपकार मरकर भी करे तो उसको लोग कहते है कि बडा निरपेक्ष उपकारी है। अपना भी विनाश कर लिया, पर किया दूसरेका उपकार। तो भूतार्थनय जिसकी दृष्टिमे जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप—ये ९ तत्त्व भूतार्थनयसे जाने गए हुए है। तो ये सम्यक्त्वके कारण बनाये गए है, स्वय सम्यक्त्वरूप नही है। यद्यपि भूतार्थनय परिचय सम्यक्त्वके आविर्भावके निकटको अवस्था है और यह है भूतार्थनयकी स्थिति। तो भूतार्थनयकी अनुपम कृपा देखिये कि इस नयने इस उपासकको अखण्ड स्वके अनुभवके निकट पहुचाया और अपने आपका विनाश कर लिया। स्वानुभवके समय भूतार्थनयकी दृष्टि नही रहती। भूतार्थनयसे भी अतीत है स्वानुभव। देखो स्वानुभव तो अनुपम कृपाशील है ही। भूतार्थनय की भी कैसी विलक्षण कृपा है?

अभूतार्थनयकी अनुपम कृपा—अब थोडा अभूतार्थनयकी कृपा भी परखिये। अभूतार्थनय असत्य नही कहलाता वह एक उद्दण्डता है कि किसी प्रकारका अभूतार्थनय असत्य हो तो सारे अभूतार्थको असत्य कह दे, यह एक अज्ञानकी महिमा है। अभूतार्थनय तो ऐसा अनुपम कृपाशील है कि इसकी कृपा बिना तो यह भूतार्थमे नही पहुच सकता और भूतार्थमे

न पहुच सके आत्मा तो स्वानुभवमे भी नही पहुचा जा सकता। अभूतार्थनयका अर्थ क्या है ? अखण्ड एक सहज स्वभावका परिचय करानेके लिए उसमे भेदपूर्वक जो भी वर्णन किया जाता है वह अभूतार्थ है। जो स्वयं निरपेक्ष न हो ऐसा अर्थ है अभूतार्थका। अभूतार्थ नयके बिना न कोई पढ़ सकता, न बाँच सकता, न समझ सकता, न सुन सकता, कुछ भी बात नही चल सकती। अभूतार्थनय अर्थात् भेदप्रतिपादक, गुणप्रतिपादक, पर्यायप्रतिपादक, अभूतार्थनय, इन्होने ७ तत्त्व और ६ पदार्थोका ज्ञान कराया।

अब इन तत्त्वोका ज्ञान करके अब हम भूतार्थ पद्धतिका सहारा लेते है तो हम और आगे बढते है। आपको अगर पहले दो तीन कक्षाओमे किसी पटवारीने पढाया या छोटे मास्टरने पढाया और आप आगे बढ बढकर कालेजमे एम. ए पास हो गए तो क्या आपको इन सबके प्रति कहना चाहिए कि अरे स्कूल फिस्कूल सब बेकार। उनसे क्या होता हे ? सीधे कालेजमे जावो, बढिया तत्त्व तो यहाँ होता है ऐसा सबसे कहो तो वह सबका उपकार है या बरबाद करने वाला वचन है। ऐसे ही आप समझिये कि अगर हम अभूतार्थका आश्रय करके, उसको उपयोग करके ७ तत्त्व ६ पदार्थकी बात सीख गए और उसके बाद आगे बढ कर भूतार्थसे वहाँ एकत्व समझा गया तो क्या हम दुनिया भरको यह कहे कि अभूतार्थके निकट बिल्कुल मत जावो, वह भारी झूठ है, धोखा है, ऐसा कहनेमे हम क्या सबपर कृपा कर रहे है या सबका विघात कर रहे है ? सब अपनी-अपनी पदवोकें अनुसार बात है। सर्वप्रथम तो अभूतार्थनयसे हमको पथ मिलता है और उसकी कृपा देखिये कि जब यह अभूतार्थ भूतार्थ मे पहुचा देता है तो यह स्वय अपना विनाश कर लेता है। तो अभूतार्थसे भूतार्थमे आये, भूतार्थसे स्वानुभवमे आये, यह है पद्धति एक स्वानुभवके पानेकी।

(५)

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता कभी हो ही नही सकता अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके पर्यायरूप परिणमता नही, इस सम्यक् बोधमे अहकार और कायरता दोनोका परिहार है।

अहङ्कार व कायरताकी परेशानी दूर करनेके उपायकी जिज्ञासा—जीवोको अहकार और कायरता ये दो प्रकारके भाव सताते रहते है। अहकारमे शान्ति नही और कायरतामे शान्ति नही। अहकारी पुरुष यद्यपि कुछ देखनेमे कर्मठसा नजर आता है, किन्तु वहाँ शान्ति का लेश नही। कायर पुरुष कायर ही दिख रहा है, सर्व अपराध, अन्याय, अत्याचारोको सह लेता है, किन्तु उसके अन्तरमे रोषकी अग्नि प्रज्वलित रहा करती है। तो ससारी जीवो को अहकार और कायरता—इन दो भावोने सता रखा है। ये दो भाव कैसे मिटें ? कौनसा बोध मिले कि अहकार और कायरता दोनो भाव समाप्त हो जायें ? जरा इसकी खोज तो

करो। भले ही कुछ उपाय समझमे आयेंगे—शरीरका बल बढा लो, अपनी पार्टी बढा ले, और-और प्रकारके साम, दाम, दड, भेद रच लें, कायरता मिट जायगी। भले ही ऐसा कोई प्रयोग करें, लेकिन इसमे कायरता मलिनता नष्ट नही होती। और जिसे समझ रखा कि कायरता मिट गई, कुछ कुछ कर्मठ बन गया वहाँ वास्तवमे कुछ भी कर्मठता नही है, थोडी देरको एक काल्पनिक शूरता ला दी, लेकिन फिर वही कायरता आ जाती है।

जैसे घरमे रहने वाले लोग जब किसी खुशीका समाचार सुनते है, धन वैभव बढाने या कुटुम्ब परिवारमे कुछ तरक्की हो, कुछ भी बात सोचते है तो जरा वहाँ कुछ कर्मठसा और वीर धीरसा नजर आता है, लेकिन कुछ ही कालमे जब इष्टवियोग हुआ या अन्य कुछ प्रतिकूलतायें आयी तो यह प्राणी कायर बन जाता है। फिर लौकिक उपायोमे कोई भी उपाय ऐसा नही है कि जो इस जीवकी कायरता मिटा सके और इसका अहकार बहुत कठिन है। जब कुछ पुरुष मिलकर किसीकी बहुत बडी तारीफ करने लगते है तो वह नम्र बन जाता और अहकार न हो, ऐसी वाणी बोलता, लेकिन क्या वहाँ यह बात सत्य है कि अहकार न रहा हो ? वह एक परिस्थिति है। किसीको चाहिए तो छाछ और देवे कोई दूध तो वह तो बडी शान्ति, समता गम्भीरता सब कुछ दिखायगा और चाहता हो दूध और छाछ दे तो पता पड जायगा कि इसमे कितनी धीरता है, गम्भीरता है ? तो लौकिक बाहरी बातोसे कुछ निर्णय नही बन पाता, इसके लिए तो तात्विक बोध चाहिए तब अहकार और कायरता ये दोनो समाप्त हो सकते है।

परका अपनेमें अकर्तृत्व व खुदका परमे अकर्तृत्व सुविदित होना अहंकार व कायरताकी परेशानी मिटनेका उपाय—वह बोध क्या है जिसके पानेपर अहङ्कार व कायरता मिट जाती है ? कई प्रकारोमे बोध मिलेगा, पर एक यह प्रकार देखिये जहाँ वस्तुवोका सही स्वरूप जाना कि प्रत्येक पदार्थ स्वतत्र सत् है, किसी भी पदार्थकी सत्ता किसी अन्य पदार्थकी कृपापर नही हुई। जो है सो अपने आप है, और जो है सो अपनेमे उत्पाद व्यय कर रहा है। तो इससे यह ही निष्कर्ष तो मिला कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नही होता। इसके मायने यह है कि कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यके गुणका उत्पाद नही करता। और स्पष्ट समझना चाहे तो समझिये कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्यायरूपसे नही परिणमता। जो परिणमेगा तो अपने स्वरूपसे परिणमेगा। जैसे कुम्हारने घडा बनाया, लोकव्यवहारमे ऐसा कहा जाता है वहा कुम्हारने अपने हाथका खूब व्यापार किया और उस व्यापारकी प्रेरणासे उस व्यापारका निमित्त पाकर मिट्टी भी पसरी, बढी, घडा बना।

देखो देखनेमे कैसी प्रेरणा लग रही है कि उस मिट्टीको कुम्हार दबा रहा है, घसीट

रहा है। जैसे हाथ चलाता वैसी मिट्टी बढ़ रही है। इसपर भी मिट्टी घडेरूप परिणमी तो क्या कुम्हारकी परिणति लेकर परिणमी ? मिट्टी तो अपनी परिणतिसे घडारूप परिणमी। भले ही निमित्त सग बिना ऐसा नही परिणम सका, कुछ भी परिस्थिति हो, फिर भी परिणमा तो वह खुद खुदमे ही। प्रत्येक द्रव्य अपने आपकी पर्यायरूपसे परिणमते है। कोई किसीका उत्पाद नही करता, कर्ता नही होता, अन्यकी पर्याय रूपसे नही परिणमता, यह है एक बोध जिससे प्रेरणा क्या मिलती है कि कोई द्रव्य किसी दूसरेका कर्ता नही होता है। तो मै क्या किसी द्रव्यका कुछ कर दूंगा ? कुछ नही कर सकता। मै अपनेमे अपना काम करता हू, किसी बाहरी पदार्थकी परिणतिसे नही करता हू। देखो निमित्तनैमित्तिक योग है, फिर भी देखते है एक द्रव्यकी ओर नजर देकर तो जब कोई वस्तु किसी दूसरेका परिणमन करता नही तब यह बोध जग जानेपर अहकार आयगा ही कैसे ?

अहकारकी निष्पत्ति और विपत्ति—अहकार आता है तब, जब यह कल्पना रहा करती है कि मै इस पदार्थको यो करता हू, यो कर दूगा, सो जब परपदार्थके विषयमे करनेकी दम भरता है; यह जीव विकल्प करता है तो इसको अहकार होता है—मैंने ऐसा किया, मै ऐसा कर रहा हू, मै ऐसा कर दूगा, इस तरहके विकल्पमे इस जीवके अहकार भाव जगता है और जैसे-जैसे अहकार होता है वैसे-वैसे अहकारके फलमे क्लेश ही मिलता है, शान्ति नही मिलती, क्योकि अहकार विकारी भाव है, विषम भाव है। विकारी भावमे निराकुलता कहाँसे आये ? समस्त विकार आकुलतारूप ही होते है। इतना भी तो अन्तर नही पडता कि राग करनेसे दु ख होता। यो कहो कि राग ही खुद दु:ख है, इतना अन्तर नही कि राग करो तो उससे दु:ख होता। अरे यह राग ही दु:खरूपताको लिए हुए है। पहले समयमे राग करें, अगले क्षणमें दु:ख हो, ऐसा नही होता। जब ही अतरगमे राग भाव आता है उसी समय इस जीवको क्लेश होता रहता है। जब अहङ्कार भाव आया तो इस जीवको कष्ट ही होता है। अपने ज्ञानस्वभावसे हट गया, किन्ही बाह्य असार विकल्पोमे लग गया और उसका अहकार बन गया। बडो-बडोका भी अहकार न टिक सका। रावण जैसे अहकारी भी इस धरती पर न टिक सके, बडे-बडे धीर वीर पुरुषोको भी आखिर इस भवसे जाना पडा। तो हम आप किस बातका अहकार करने है ?

देखिये शिक्षा लेनी है तो जहाँ चाहे ले सकते हैं। सडकसे जब गुजरते है और बहुतसे सूअर मिलते है, किसीका पेट मलसे भिडा, किसीका मुख, किसीके कान, तो उन्हे देखकर एक अहकार तो मिट जाता है, किस बातका अहकार कि ऐसी पर्याय यदि मिल गई तो फिर क्या हाल होगा ? आज हम आप मनुष्य है तो जैसा चाहे विकल्प बनाते है। न होते मनुष्य, ऐसी

स्थितियोमे होते तो वहाँ अहकारकी क्या बात थी ? जगतके जीवोकी दशाओका परिचय मिले तो उससे बहुत शिक्षा मिलती है ।

चारो अनुयोगोसे आत्महितकी शिक्षाके प्रसंगमे प्रथमानुयोगकी उपयोगिताका दिग्दर्शन——आचार्यो सतोने जो चार अनुपयोगोमे ग्रन्थोका निर्माण किया तो यो ही फोकट बात न समझिये । उनसे बडा बल है, कही ऐसा एक एकान्त न बनाये कि कोई एक यही अनुयोग या द्रव्यानुयोग, बस यही-यही देखो, यही पढो, यही सुनो । अरे उसके शब्द रट गए तो कहो ठठेरेके कबूतर जैसे बन गये । उसके शब्दोसे भीतरके परिवर्तन नही हो पाये, कषाय जैसीकी तैसी जग रही और कहो कषाय दबी रहती है तो जब कषाय उगलती है तो तेज उगलती है । तो एक पक्ष ही तो मत पकडो । अरे सभी अनुयोगोका आदर करें । सभी प्रथमानुयोगके ग्रन्थ पढनेसे, चरित्र पढनेसे एक उत्साह जगता है । हम आप लोग धर्मपालनके प्रसंगमे उत्साह क्यो नही कर रहे कि हम चारो प्रकारके अनुयोगोका उपयोग नही करते । जब कोई चरित्र पढते, मान लो श्रीरामका चरित्र पढते है और उनकी स्थिति निरखते है, अन्तमे सब कोई कैसे-कैसे अलग हुए, कैसे निर्वाण पाया, तो वहाँ अपनी बुद्धि ठिकाने आती है कि अरे हम उद्दण्डता न करें, अन्याय न करें, अपने आत्माको सावधानरूप रखें, ऐसी एक शिक्षा मिलती है । अरे इस जीवनमे न मिला लाखोका धन तो उससे इस जीवका बिगाड क्या ? थोडे ही मे गुजारा कर लेना है । जो गृहस्थ धर्मका पालन करता है वह बडी शान्ति समृद्धिमे बना हुआ है ।

करणानुयोगके अध्ययनकी उपयोगिताका दिग्दर्शन——करणानुयोगका जब अध्ययन करते है तो करणानुयोगकी बहुत बडी विशेषता है । प्रभाव डालनेके लिए याने दुनियाका कितना बडा क्षेत्र है, लोक कितना बडा है यहाँ सर्वत्र उत्पन्न हुए, यह कितनासा प्रेम क्षेत्र है, यह किसने सिखाया ? करणानुयोगने । काल अनादि अनन्त है और कैसे-कैसे कालकी रचनाये बनती है, इतना काल मोह रागमे गवाया, यह किसने सिखाया ? करणानुयोगने । जीवकी दशायें कैसी-कैसी विचित्र होती है, एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक नरकादिक गतियोमे कैसे-कैसे जीव होते है, यह बात किसने सिखायी ? करणानुयोगने । अब जरा उनका प्रभाव देखिये——जब ज्ञानमे आता है कि यह सारा लोक क्षेत्र बहुत बडा है । जैसे अभी आजके विज्ञानसे भी समझिये तो कहाँ अमेरिका, कहाँ रूस, कहाँ क्या, और कितना बडा हिन्दुस्तान, और आगमसे समझें तो ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमे आजकी यह परिचित दुनिया लोकके आगे समुद्रके बिन्दुके बराबर है । इतने सारे लोकमे हम कहाँ-कहाँ नही पैदा हुए और कहाँ-कहाँ नही पैदा हो सकते है ? एक इस थोडेसे क्षेत्रका ही मोह करनेसे इस जीवको क्या मिलता है ? जिस जगह पैदा हुए कुछ थोडीसी जगह, जिसके अदरमे हुए, कुछ धन-सम्पदाका

क्षेत्र मिले तो उससे क्या पूरा पडता है ? यह तो एक पूर्व पुण्यकी परिस्थिति है जो प्राप्त हुई है । इसका कोई भरोसा है क्या कि यह सदा साथ रहेगा ?

लोकका परिज्ञान करनेसे वैराग्यमे, ज्ञानमें कितनी वृद्धि होती है ? अच्छा कालका आप परिचय बनाओ । कितना बड़ा काल है ? अनादि अनन्त, याने बडा भी न कहो, बडेकी भी कुछ सीमा होती है कि इतना बडा । मगर यह तो अनन्त है, अनन्तको हम बडा नही कह सकते । जिसकी सीमा नही, जिसका अन्त नही वह तो अनन्त है । तो अनादिकालसे कितना समय हमने गुजर डाला और आगे हमारा कितना समय गुजरेगा ? इन सारे समयोके बीच अगर ५०-६० वर्षकी यह जिन्दगी पायी है तो यह तो समुद्रके बिन्दुके बराबर भी नही बैठता । इतनेसे समयके लिए नाना विकल्प कषायें मचाकर अपने आजके भवको बरबाद कर देना, निष्फल गवा देना, यह तो उचित नही है । कालका जब परिचय होता है तो इस जीव को बहुत शिक्षा प्राप्त होती है । जीवोकी दशाओका परिचय देखो । जीवस्थान मार्गणा आदिक विधियोके अनुसार एकमे दूसरेको घटाकर इस जीवकी दशाओका परिचय पाते है । कैसी-कैसी जीव दशायें है ? आज हम मनुष्य है, कभी पेड पौधे भी थे, निगोद भी थे । तो यह बात निश्चित है कि हम आज मनुष्य न होते, पेड-पौधा होते, कीडा-मकोडा होते तो आज ये कष्ट काहेको भोगने पडते ? वहाँ तो उन तुच्छ भवो जैसे कष्ट भोगते । यहाँ है तो यहाँ मनुष्यभवमे नाना विकल्प बना-बनाकर कष्ट भोगे जा रहे है तो जीवकी दशाओका परिचय होनेसे ज्ञान और वैराग्यकी वृद्धि होती है ।

चरणानुयोगकी उपयोगिताका दिग्दर्शन—अच्छा चरणानुयोगकी बात देखो—वह सबक सिखा रहा है कि हे भव्य प्राणी, जो तेरेमे विकार व्यक्त होते है, जिन विकारोमे तू झुझला जाता है, सतप्त हो जाता है । जानता है ना कि ये व्यक्त विकार बनते किस तरह है ? जगतके इन दृश्यमान पदार्थोमे उपयोग जोडते है तो ये विकार प्रकट होते है । तो तू इनमे उपयोग मत लगा । यही तो चरणानुयोगकी शिक्षा है कि तू उपचरित निमित्तमे अपना उपयोग मत जोड । उपयोग न जुडे इन बहिरग कारणोमे, इसके लिए त्यागकी विधि बतायी गई है । यद्यपि किसी बाह्य वस्तुका त्याग करनेपर भी किसीके उसका विकल्प रह सकता है, मगर गधाको मिश्री मीठी नही लगती तो इसके मायने यह तो नही कि मिश्री मीठी ही नही होती । यदि किसी अज्ञानीको त्यागकी बात नही जचती है तो इसका अर्थ यह न होगा कि त्याग निष्फल होता है और त्यागका कोई अर्थ नही है । पूजामे पढते ही है कि "जो ससार विषे सुख होता तीर्थङ्कर क्यो त्यागे ?" सयमकी आराधना की तीर्थङ्करोने, इन बाह्य वस्तुओ का त्याग किया, तो विधि तो यही है कि बाहरी आश्रयभूत पदार्थोका त्याग करें, कुछ न कुछ लाभ है ही । सम्यग्ज्ञान सहित त्याग है तो मोक्षमार्गका लाभ है । सम्यक्त्वरहित त्याग है तो

मोक्षमार्ग का लाभ है। सम्यक्त्वरहित त्याग है तो भी सद्गतिका तो लाभ है। तो चरणानुयोग यहाँ सिखाता है कि तुम्हारा व्यक्त विकार इन बाहरी पदार्थोंके आश्रयसे होता है, इसमे उपयोग जोडनेसे होता है तो तुम इनमे उपयोग मत जोडो और सामने रहे जाय और उपयोग न जोडे, यह कठिनाई लगती है ना, सो हम उनका त्याग करें।

द्रव्यानुयोगकी उपयोगिताका दिग्दर्शन—द्रव्यानुयोगके दो विषय है—अध्यात्म और न्याय। न्याय भी द्रव्यानुयोगकी बात कहता है, न्यायसे श्रद्धा पुष्ट होती है। जहाँ युक्तियोसे वस्तुका स्वरूप समझा वहाँ उसकी समझ बडी दृढ हो जाती है। केवल आगमके आधारसे वस्तुस्वरूपको माना जाय तो वहाँ पुष्टता नही जचती। यद्यपि आगममे शङ्का न करनी चाहिए। पर यो ही ऊपरी वचनमात्र श्रद्धा भी न करनी चाहिए, यह बात उसके बनती है कि जिसने प्रयोजनभूत तत्त्वोको अनुभवसे परख लिया कि यह वास्तविक तत्त्व है, सही स्वरूपमे है, उस ही को सर्व आगमके प्रति आस्था होती है, फिर भी अगर युक्तिबलसे वस्तुका स्वरूप समझ लिया जाय तो उसकी श्रद्धा और दृढ हो जाती है। तो द्रव्यानुयोगका भेद जो दार्शनिक शास्त्र है उसका परिचय इस जीवकी श्रद्धाकी दृढताके लिए है और अध्यात्मशास्त्रसे अपने आपके उपयोग द्वारा अपने आपमे परीक्षा करे, परख बनावे। वह तो बहुत ही एक पक्का निर्णय देता कि वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। देखो सुनी बात सही होती कि झूठ? सही कम होती, झूठ ज्यादह होती और सुनी बातसे देखी हुई बात सच होती कि नही। सच होती, मगर कभी कभी देखी हुई बात भी झूठ होती है। किन्तु अनुभवमे आयी हुई बात सही होती है, उसे कोई नही डिगा सकता।

अनुभूत विषयमे श्रुत और दृष्टिसे भी अधिक पुष्टता—जैसे सुनी हुई बात तो झूठ होती है, यह सबकी समझमे है। बात कुछ हो, सुनाई कुछ गई, उसने दूसरेको सुनाया तो कुछ और बढाकर सुनाया, उसने सुनाया तो और बढाकर सुनाया, ऐसे ही अलग-अलग कानोमे बात गई तो वह झूठ झूठ बढ़ती चली जाती है। सुनो हुई बातका कोई विश्वास भी नही मानता। कहते है ना अरे तुम्हारी सुनी हुई बात है कि देखा हुई बात है? तब वह कहता है कि भाई देखी हुई तो नही है, सुनी जरूर है। तो उसे सुनकर ही वह अप्रमाण बता देता है। अच्छा यह बताओ—देखी हुई बात क्या सभी सच होती है या झूठ भी निकलती है।

जरा एक दो कथानकोसे देखो देखी हुई बात कैसे झूठ? कोई पुरुष अपना एक दो तीन वर्षका बालक छोडकर बाहर धन कमानेके लिए चला गया। और १३—१४ साल बादमे आया और आकर घरमे घुसा और देखा तो वह माँ तो अपने बेटेके साथ सो रही थी और वह पुरुष यह समझ रहा था कि यह तो किसी परपुरुषके साथ सो रही है। देखनेमे

आया ऐसा, मगर वहाँ देखो विकारका कोई लेश नही उस माँ के और सुनो गुजरात प्रान्तका एक किस्सा है। एक राजाने किसी गरीबका उपकार किया तो गरीब तो बड़ा उपकार मानते है, वे घरके सारे उसका बडा उपकार मानते । अब राजाके पापका उदय आया, सो उसका राज्य छिन गया, तो गरीब बनकर वह इसी धुनमे घूम रहा था कि मैं कैसे अपना राज्य वापिस लूं ? तो उसने एक सेना जोडी, कुछ बल लगाया, कुछ लड़ाई ठानी, लेकिन वह विजय न पा सका। और जाडेके दिन होनेसे उसको ठंड लग गई। ठंडसे त्रस्त हुआ राजा जैसे मानो निमोनिया हो गया, बहुत परेशान हुआ, तो उस गरीबके घरके पाससे गुजरा। उस समय पुरुष तो न था पर उसकी स्त्री घरमे थी। तो उस गरीब स्त्रीके पास कोई विशेष साधन तो था नही ठडसे बचानेका सो उस गरीब स्त्रीने कहा कि यहाँ ठडसे बचानेका और कोई उपाय तो है नही, पर हाँ हमारे शरीरकी गर्मी तुममे पहुंच जाय तो इस तरह भी तुम्हारी सर्दीका रोग दूर किया जा सकता है। तो उस समय बीचमे तलवार लगाकर वह स्त्री और राजा दोनो एक साथ सो गए। अब उस स्त्रीका पुरुष आता है और देखता है तो उसको देखकर उसे बडी शङ्का हो जाती है। उसे देखी हुई बात सच तो लग रही है, लेकिन थोडी ही देरमे उसने परखा कि यहाँ तो विकारका रच भी काम नही। यह बेचारा तो मर ही रहा है और आडमे तलवार लगा ली। तो ऐसी कितनी ही बातें देखनेको मिलेंगी जो दिखती कुछ है और वहाँ बात कुछ है। अच्छा तो सुनी बात भी झूठ हो सकती, देखो बात भी झूठ हो सकती, पर अनुभवमे आयी हुई बातको दखो—कोई एक पुरुषके दो स्त्रियाँ थी, छोटी स्त्रीके तो बालक था और बडोके बालक न था तो उसे ईर्ष्या हुई और अदालत कर दा कि यह बच्चा तो मेरा है। अदालतमे युक्तिसे भी उस बडी स्त्रीने बताया कि दखो पतिका जो धन है उसमे स्त्रीका भी हक होता ना ? और सभी लोग कहते है कि यह बालक इस पतिका है, तो जो पतिका धन है उसमे स्त्रीका भी हक है। यह मेरा बालक है। तो राजाने उसके न्यायकी तारीख दे दी। इतनेमे ही उसने उसका न्याय सोच लिया। और पहलेसे ही सिपाहियोको समझा दिया। अब वे दोनो स्त्रियाँ आयो, लडका भी साथ था, तो बडी स्त्री कहती है कि यह लडका मेरा है और छोटी स्त्री कहती है कि यह लडका मेरा है। तो वहाँ राजाने यह निर्णय दिया कि देखो लडका पतिका है, पतिके धनपर स्त्रीका बराबर हक होता है, इस लडकेके दो टुकडे बराबर बराबर कर दो और एक एक टुकडा दोनो स्त्रियोको दे दो। तो सिपाही लोग नगी तलवार लेकर उस लडकेके दो टुकडे करने के लिए तैयार हुए कि छोटी स्त्री बोल उठी—महाराज यह मेरा लडका नही है, यह इसीका है, इसीको दे दो और उधर बड़ी स्त्री खुश हो रही थी—अच्छा न्याय हो रहा। तो अनुभवने बता दिया कि

जो स्त्री मना कर रही उसका है यह बालक, बडी स्त्रीका नही है । तो अनुयोगोकी चर्चावोमें हम सर्वत्र लाभ पाते है । हमे आर्षपर, आगमपर आस्था होनी चाहिए और सब तरहसे हम अभ्यास बनायें तो हम अपने ज्ञान और वैराग्यका संतुलन ठीक रख सकते है ।

वस्तुस्वातन्त्र्यके परिचयमे अहंकार व कायरता दोनोका विनाश—यहाँ चर्चा चल रही है कि जगतके प्राणी अहकार और कायरता—इन दोनो बातोसे परेशान है । कोई उपाय है क्या ऐसा कि ये दोनो बातें समाप्त हो जायें । उस उपायमे बताया जा रहा है कि हम वस्तु के सही स्वरूपको जान लें, अहकार खत्म हो जायगा । जितने लोग दिख रहे है ये कोई वास्तविक चीज है क्या ? जो दिखनेमे आ रहे वे केवल जीव नही है, वे न केवल पुद्गल है, न न केवल जीव है, न केवल कर्म है, किन्तु जीव, कर्म और शरीर—इन तीनोका यह पिडोला है । जैसे कि बिस्तरमे दरी, गदेला, रजाई रहती है, ऐसे ही ये सब भोले-भाले मनुष्य भी *बिस्तर बने बैठे हुए है । इनमे कोई सही पदार्थ है क्या कि ये जीव हो या शरीर हो या कर्म ।* इन तीनका पिण्डोला है, ये मायारूप है । इनको निरखकर या ऐसा अपना स्वरूप समझकर कि मै यह हू, अहकार बन जाता है ।

मैं धनी हू, गुणी हू, ज्ञानी हू, साधु हू, अमुक पक्षका हू, अमुक सम्प्रदायका हू, ऐसी भीतरमे वासना जगी तो अहकार हो गया । और यह समझमे आया कि यह तो मै कुछ नही हू । शरीरमे शरीर है, कर्ममे कर्म है, मुझमे मै हू । ऐसा निराला चैतन्यस्वरूप मात्र, इसमे दूसरा कोई वास्ता ही नही रखा, और यह मै चैतन्यस्वरूप मात्र किसी परसे कुछ वास्ता ही नही रख सकता । तो मै बाहरमे कुछ कर ही नही सकता, यह ज्ञान जगता है तो उसके अहकार न बन सकेगा । तो जैसे अहकार मिटानेका उपाय है वस्तुस्वातत्र्यका परिचय, ऐसे ही कायरता मिटानेका उपाय भी है वस्तुस्वातत्र्यका परिचय । भले ही निमित्तसन्निधानमे विकार परिणाम होते, मगर इन विकारपरिणमनोरूप परिणमने वाला तो यह मै हू, दूसरा नही है । और सामान्यतया जब यह बोध हो जाता है कि मै किसीका कुछ नही कर सकता तो दूसरे भी मेरेमे कुछ सही कर पाते । बात तो दोनो ही जगह है । अन्य-अन्य पदार्थ अपनेमे अपना परिणमन करते है । जब कोई दूसरा मेरे कुछ कर ही नही पाता तो अब यह कायरता क्यो जगेगी, कायरता उस परिचयमे होती है जहाँ यह बात समझ रहा हो कोई कि यह मेरा बिगाड़ कर देगा, यह मेरेको विपत्तिमे डाल देगा, किन्तु ऐसा है ही नही । कोई दूसरा मुझे विपत्तिमे नही डाल देता, मै ही खुद क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदिके परिणामोमे रहता हू, इसकी आस्था रखता हू, खुद अपने आप दु खी होता रहता हू, मेरेको कोई दूसरा दुःखी नही कर सकता । तो जब दूसरेके द्वारा मेरा कुछ नही किया जा सकता है, यह बोध होता

है, तो वहाँ कायरता नही टिक सकती ।

जगतके सब जीव इन दो अवगुणोसे परेशान है—अहंकार भाव होना और कायरताका भाव होना । जो वस्तुस्वरूपको सही समझता है, क्षमा वही पुरुष कर सकता है । कायर पुरुष क्षमा भी नही कर सकता । अहकारी पुरुषके तो मोहविष चढ़ा हुआ है ना । उसको तो यह दम है कि मै इस सारे विश्वका तोड-मरोड कर सकता हूं । मेरेमे ऐसी माया है कि मै सारे विश्वको तोड-मरोड कर देता हू । जो इतना अहंकार रखता हो वह दूसरे जीवोके प्रति क्षमा का भाव कहाँसे ला सकता है ? इसी तरहसे जो कायर बन गया हो—मै क्या कर सकता हूं दूसरे करते है सब कुछ, मेरा भी वही करता है सब कुछ, मै किसी लायक नही हूं, ऐसा जिसने बोध बनाया हो उसकी कायरता कैसे मिट सकती है ? तो देखो यह परिचय कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको करता नही है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके गुणमे उत्पाद कर नही सकता, और कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्यायरूप परिणम नही सकता । ऐसा जिसको परिचय हुआ है वही पुरुष अहकार और कायरता—इन दोनो अवगुणोको दूर कर सकता है ।

(६)

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका भोक्ता कभी हो ही नही सकता अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके पर्यायको कभी भी अनुभवता नही, इस सम्यक् बोधमे मिथ्या सतोष न रहकर सत्य सतोप होता है ।

परका मुझमे अभोक्तृत्व व खुदका परमे अभोक्तृत्वके परिचयसे सत्य संतोषका लाभ—प्रत्येक जीव चाहता है कि मेरेको वास्तविक सन्तोष मिले । जितना भी ये जीव परिश्रम करते है सतोषके लिए करते है । सतोषमे इसके शान्तिकी समझ है । सो तो ठीक है, संतोष होना चाहिए, पर वास्तविक सतोष है क्या ? इसपर तो विचार करो । सतोष आता कहाँसे ? इसपर भी तो कुछ ध्यान दो । क्या किसी बाहरी पदार्थसे मुझमे सतोष आ सकता है ? किसी भी अन्य पदार्थसे मेरेमे न द्रव्य, न गुण, न पर्याय, न किसी प्रकारका भाव प्रभाव कुछ भी नही आता है । मैं ही स्वयं इन बाहरी बातोका आश्रय करके इनपर दृष्टि देकर अपने आपमे कल्पनायें मचाता हू और कल्पनामे सतोष सुख दुःख पाया करता हू । तो इतना तो निश्चित है कि जो मेरेमे आता है वह मेरेसे ही आता है, किसी बाह्य वस्तुसे नही आता । और यह भी निश्चित है कि मैं ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानमात्र हू, ज्ञानमय हू, ज्ञानकी वृत्ति जगे यह ही मेरा काम है, ज्ञानकी वृत्ति जगे यह ही मेरा अनुभव है । सतोषका सम्बध अनुभवसे है । जिस प्रकारका अनुभव बनेगा उसके अनुरूप सतोष और असतोष प्रकट होगा । शान्ति किसी बाहरी वस्तुसे नही, सतोप भी बाहरी वस्तुसे नही, किन्तु अपने आपके अनुभवके आधारपर

सन्तोष और असतोष है। ज्ञान सच्चा बनायें, मै क्या अनुभव कर सकता हू ? मैं किसी बाहरी पदार्थका अनुभव नही कर सकता।

बाह्य तो बाह्य ही है, पर ही है, उनसे मेरा सम्बध नही, फिर अनुभव जैसी घनिष्टता उसमे आ ही कैसे सकती है ? एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका भोक्ता नही, मैं भी किसी अन्य पदार्थका भोक्ता नही, दूसरा भी कोई मेरा भोक्ता नही। मेरा अनुभव मेरेसे मेरी पर्यायमे पर्यायका होता है। मै अन्य किसीकी पर्यायको नही अनुभव सकता। मै अपनी ही पर्यायको अनुभव सकता हू। एक द्रव्यमे दूसरे द्रव्यकी पर्यायका भवन ही नही है। अनुभवन कैसे हो ? भवन और अनुभवन कोई अलग बात नही है। जो पर्यायका होना है उसे कहते है भवन और उस पर्यायके अनुसार ही सुख दु ख आदिक कुछ भी होता है उसे कहते है अनुभवन। तो मै किसी द्रव्यमे अपना भवन नही कर सकता, दूसरे द्रव्यका मुझमे कुछ होता नही। इसलिए कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको भोग नही सकता, जब ऐसा बोध जगता है तो इस बोधमे जीवको सत्य सतोष मिलता है।

मात्र खुदके ज्ञानस्वरूपको भोगनेकी श्रद्धामे सत्य सतोषके मार्गकी उपलब्धि—मै किसी दूसरे पदार्थको भोग ही नही सकता। मै ज्ञानको भोगता, अज्ञानको भोगता। जब अज्ञानभाव जगता तब विषयकषायके परिणाम बनते है, तो यह जीव उन विषयकषायके अनुकूल अपनेमे सुख-दु.ख प्राप्त करता है। और सुखका भोगना, यह भी मेरे लिए सत्य संतोषकी बात नही। विषयोका भोगना, इसमे तो सतोष नजर आता ही नही, सुख-दुःख दोनोसे परे केवल अपने सहज आनन्दका अनुभव जगे तो इस अनुभवमे सतोष प्राप्त होता है। लोकव्यवहारमे लोग सोचते हैं कि मैने भोजन भोगा, कपडे भोगे, और और विषय भोगे, लेकिन जो विषयभूत पदार्थ है जब उनका मेरेमे भवन ही नही, परिणमन ही नही तो मै उनको भोग कैसे सकता ? हाँ उनका आश्रय पाकर, विषय बनाकर अपनी कषायके अनुकूल जो कल्पना जगती है मै उस कल्पनाको भोगता हू। तो जब मैं किसी बाह्य पदार्थको भोगता ही नही, मात्र कल्पनाओको ही भोग सकता हू तो अपनी कल्पना ऐसी बनायें ना, विचार ऐसा बनाये कि जो अपने सहजस्वभावके दर्शनमे बाधा न दे। यही तो एक जीवपर विडम्बना है कि ऐसी खोटी कल्पना विचार बन जाता है कि जिन विचारोमे भटककर यह जीव अपने स्वभावके दर्शनका स्वयं बाधक बन जाता है। स्वभावका दर्शन यही है एक अलौकिक लाभ। अपने-अपने स्वभावका दर्शन नही होता तब जीवमे व्याकुलता रहती है और अनेक पदार्थोंका विषय बना-बनाकर यह अपनेमे सतोष बनाये रहता है। तो चाहिए जीवस्वभावका दर्शन। यह बात यो साध्य है कि जब हम यह निश्चय कर ले कि मै किसी पदार्थको नही भोगता, केवल

अपने आत्माके स्वरूपको ही भोगता रहता हू तो इस जीवको उसमे स्वभावदर्शनकी रुचि उत्पन्न होती है, और जहाँ स्वभावका दर्शन है वहाँ इस जीवको सत्य सतोष प्राप्त हो जाता है।

(७)

प्रत्येक द्रव्य अपने आपकी परिणतिसे अपने आपमे अपने आपका कर्ता है अर्थात् स्वय ही स्वयमे स्वयकी परिणतिसे स्वयके पर्यायिरूप परिणमता है, इस सम्यक् बोधमे अनधिकृत्य अधिकारकी दुर्वासना समाप्त हो जाती है।

अनधिकृत्य अधिकार जमानेके आशयकी विडम्बना—इस जीवको एक संकट और लगा हुआ है कि जिसमे अपना अधिकार नही है उसमे अपना अधिकार समझता है। यह एक बहुत बडी विडम्बनाका कारण बन गया। किसी भी बाहरी पदार्थमे मैं कुछ परिणमन कर दू, इस सम्बन्धमे मेरा क्या अधिकार है? सर्व पदार्थ स्वतंत्र सत् है, अपना-अपना उत्पाद व्यय लिए हुए है। सबके अपने-अपने भाव है, सबका अपना-अपना परिणमन है, मेरा तो किसी बालकपर भी अधिकार नही, मैं जैसा चाहू वैसा चले ऐसा कभी हो नही सकता, क्योकि वह स्वतन्त्र पदार्थ है। यह तो परस्परका मन मिलेका सौदा है। पुत्रने समझा कि मै आज्ञा मानता रहू पिताकी तो मेरेको बडा सुख मिलेगा, आराम मिलेगा, इसलिए पुत्र पिताकी कोई बात मान लेता है। पिता सोचता है कि यह पुत्र ठीक रहे, चले, इसको देख-कर मेरेको बडा सुख मिलेगा और यह मुझे कभी सुख-शान्ति देगा, कुछ भी कल्पनायें बनाता है, उन कल्पनाओके आधारपर पुत्रसे प्रीति करता है और कभी-कभी परस्परकी स्वार्थपूर्तियो के प्रसगमे कोई समझ बैठता है कि मेरा तो इसपर अधिकार है और अधिकार वास्तवमे है जरा भी नही, और मानता है अधिकार। बस सबसे बडी विडम्बनाका मूल कारण यह हुआ, तो यह अनधिकृत पदार्थमे अधिकार माननेकी खोटी वासना जब तक समाप्त नही होती तब तक यह जीव समता शान्तिके मार्गमे प्रवेश नही कर सकता। तो चाहिए यह कि यह बात समझमे आ जाय कि मेरा किसी भी परपदार्थमे कुछ भी परिणमन कर देनेका अधिकार नही है।

अनधिकृत्य परपरिणमनपर निजका अनधिकार समझनेपर अनेक सकटोसे छुटकारा—किसी भी पदार्थका परिणमन करनेका मेरा अधिकार क्यो नही है, यो कि प्रत्येक द्रव्य अपने आपका कर्ता है, मै किसीको करता नही हू। भले हो कुछ योग मिल जाय ऐसा पुण्य योग वहो, किसी भी प्रसगकी बात समझ लीजिए। मैने कहा और आपने माना, एक योग जुड गया, तो मैने कहा इसलिए आपने माना, यह कभी सम्भव नही। आप मानते है अपने आपमे

अपना विचार बनाकर अपनी सुख साताके लिए और मै करता हू तो अपनी कल्पनाके अनुकूल अपनेमे अपनी कुछ बात समझ कर करता हू। एकका दूसरेके प्रति कुछ भी कर्तृत्वका सम्बन्ध नही है। प्रत्येक पदार्थ स्वय ही अपने आप अपनेमे अपना परिणाम करता है।

देखो विषय पर्यायोमे निमित्तनैमित्तिक भावको मेटा नही जा सकता, लेकिन निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी पदार्थ तो अपनेमे अपना ही परिणाम करता है। इससे और अधिक विकट उदाहरण क्या पायेंगे कि तबला बजाने वाला तबलेपर कितना जल्दी अगुली मटकाता है और उसके अनुकूल उसमे से आवाज निकलती है, लेकिन अगुलियां मटक गईं, अगुलियोका सम्पर्क हो गया तो बात तो है वह अलग और उसमे जो आवाज निकलती है वह है एक अलग चीज। तो जो उस तबलेमे आवाज निकली सो वह भाषावर्गणाकी स्वतन्त्र पर्याय है। यह पर्याय बन रही है तो अपनी परिणतिको लिए। उस शिल्पकी प्रतीक्षा नही करता। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है और उस शिल्पीके हाथ ठोके बिना आवाज भी नही निकलती, इतना होने पर भी आवाज अपनेमे स्वतंत्र है। आवाजकी परिणति होनेके लिए किसी दूसरे द्रव्यकी अपेक्षा नही बन रही। याने दो द्रव्योकी मिलकर एक परिणति नही होती। वहां केवल एक स्कध ही अपनी परिणतिको बनाता रहता है।

तो आप देखो परमार्थ दृष्टिसे तो किसीका किसी दूसरे पर कुछ अधिकार भी है क्या? कोई द्रव्य किसीको करता नही। कोई द्रव्य किसीमे गुणका उत्पाद करता नही। स्वय ही स्वयकी पर्यायरूप परिणमता है। ऐसी सर्वपदार्थोंकी बात अनादिसे अनन्तकाल तक बनी हुई है। जब ऐसा यह सारा जगत है, किसीका किसीसे मेल नही तब ऐसी परिस्थितिमे हम अनधिकृत्यपर अधिकार जमायें यह अज्ञानता है। और भीतरमे ऐसी हठ होनेका फल व्याकुलता है। इसलिए सर्व जगतके पदार्थोंका सही स्वरूप जाने, सर्वकी स्वतत्रताको परखे और अपनी स्वतत्रताकी आस्था बनाकर अपने आप अपनेको निरखकर अपना ही विशुद्ध परिणमन बनाते हुए अपनेको सकटोसे मुक्त करे।

(८)

प्रत्येक द्रव्य अपने आपके भवनसे अपने आपमे अपने आपका भोक्ता है अर्थात् स्वय ही स्वयमे स्वयकी सभूतिसे स्वयके पर्यायको अनुभवता है, इस सम्यक् बोधमे अनधिकृत्य रमणकी विडम्बना मिटकर सत्य सतृप्ति होती है।

परके भोक्तापनकी बुद्धिमे मिथ्यासंतोषका सताप—जगतमे जीवोको एक विडम्बना यह लगी है कि वे मिथ्या सन्तोषमे अपने आपको गर्क बनाये रहते है। जहाँ वास्तविकता नही विपरीत परिणमन है, विपरीत कल्पनाये है और उसमे वे अपना आराम समझते है, यह

हमारी विपरीत सतोषमे चित्त लगानेकी बात कैसे मिटे ? रोज रोज विषयसाधन बनाते है, खाते है, खाते समय अच्छा लगता है। कल्पनाये जगती है, मानते है कि हम सुखी हो रहे, दुःख है मुझमे, व्याकुलता है मुझमे, इसकी परख उन्हे नही बन पाती, इस भोगोपभोगके प्रसंग मे यह ज्ञान नही हो पाता कि हममे अशान्ति बसी है। अशान्तिको शान्ति समझ ली तो फिर अशांतिसे कैसे दूर हो सकते ? दुःखको जो सुख समझ ले वह दुःखसे कल्पित सुखसे कैसे विरक्त हो सकता है ? फल यह होता है कि उन अज्ञानकी चेष्टाओमे लगे रहते है और अपना जीवन खो देते है। प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी पर्यायके अनुभवमे पडा हुआ है। खुदको ही भोगने वाला है, खुद ही स्वयं की पर्यायको अनुभवता है, खुद ही में निजके भवनका अनुभवन होता है। तो मेरेमे किसी दूसरेकी बात तो नही आ सकती, विषयका अनुभवन तो नही बन सकता। मै अपनेमे अपनी कल्पनाको ही तो अनुभव सकता हू, सो कल्पनायें मेरा स्वरूप नही है। ये कर्मकृत उपद्रव है, इनमे तृप्त होना यह जीवके लिए भलाईकी बात नही है।

प्रभुवत् अपना स्वरूप जानकर, निहारकर अन्तः प्रसन्न होनेकी भावना—आनन्द पावो। जैसा प्रभुका स्वरूप है ऐसे ही स्वरूपको बनाकर आनन्द पावो। यह स्वरूप बनाया नही जाता, किन्तु अपनी स्वरूपदृष्टि करते-करते और स्वरूपदृष्टि जैसे दृढ हो उस अनुरूप अपना व्यवहार बनाकर अपने स्वरूपमे मग्न हो, वहाँ वह शुद्ध पर्याय प्रकट होती है। प्रभुदर्शन में यह ही तो निरखना चाहिए कि हे प्रभो ! मेरा कही भी कुछ भी आनन्द नही, कुछ भी सतोष नही, कही भी शान्ति नहीं। शान्ति तो है जैसा आपका स्वरूप है इस स्वरूपमे शान्ति है। यह स्वरूप मेरेको कैसे प्रकट हो, यह ही बात एक समझने की है, अपनेमे अनुभवनेकी है, अपनेको ऐसा स्वतत्र अनुभवना हो तो ऐसा ही स्वभाव है मेरेमे तो सर्व बाह्य भावोसे, पर्यायोसे दृष्टि हटाकर एक अपने आपके स्वभावमे दृष्टि लगायें। मैं सबसे निराला अविकार शुद्ध तत्त्व हू। तो जब अपने आपके स्वरूपमे दृष्टि जगती है तो इस जीवको सत्य सतोष प्राप्त होता है और अब तक जो यह क्षोभ सतोष करता आया है उसकी विडम्बना सब समाप्त हो जाती है। देखो सम्यग्ज्ञानमे ही कल्याणका मार्ग मिलेगा, अज्ञानमे कल्याणका मार्ग नही मिल सकता। इस जीवके साथ एक ज्ञान तो सदा रहता ही है पर ऐसी एक अशुद्ध परिस्थिति है कि अनेक अवगुण भी इसपर लदे हुए चले जा रहे है। क्रोध, घमड, छल, कपट, ईर्ष्या, तृष्णा, आशा, प्रतीक्षा आदिक अनेक अवगुण इस जीवपर लदे हुए है। देखो गुण तो है एक ज्ञान और अवगुण लद गए अनेक, लेकिन ज्ञानमे ऐसा बल है कि यह ज्ञान अपनेको सभाल ले तो ये अनेक अवगुण होकर भी इस ज्ञानकी दृष्टिमे क्षणमात्रमे ध्वस्त हो सकते है, पर जिसको कुटेव ऐसी पडी हो कि अज्ञानसे ही प्रीति जगे, ज्ञानमे रुचि न जगे, उस जीवको

सतोष अथवा शान्तिका मार्ग कैसे मिल सकता है ? अपना स्वरूप देखो, अपने अन्दरमे अपनी सारी विधि समाई हुई है । हम अपनी विधिसे अपने आपपर अपने बलसे अपनेको सुखी और संतुष्ट बना सकते है । दूसरेकी आशासे, दूसरेकी प्रतीक्षासे, दूसरेकी कृपासे हम सतोष नही पा सकते । हमे सतोष मिलेगा तो अपनी कृपासे मिलेगा । मेरा वही तो स्वरूप है जैसा प्रभुका स्वरूप है । जाति तो एक है । बिरादरीकी पंगत हो और उसमे गरीब भी आया हो, धनिक भी आया हो तो पगतकी दृष्टिसे तो दोनोकी समानता है । बिरादरी तो एक है, ऐसे ही प्रभु और मै जातिमे तो एक ही हू, वह भी चेतन है, मै भी चेतन हू । जो स्वरूप उनका है सो स्वरूप मेरा है । कुछ अन्तर पड गया गरीबी अमीरीका । प्रभु तो अमीर है और यहाँ हम जगतके सब जीव गरीब है । उनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द और अनन्तशक्ति प्रकट हुई है । मेरेमे यह सब निधि दबी पडी हुई है । वह अपने स्वच्छ स्वरूपका अनुभव किया करता है । और जगतके ये प्राणी अपने मोह कषायका अनुभव किया करते है । ऊपरी वृत्तिमे अन्तर है, पर अन्त. स्वरूप तो एक समान है । हम प्रभुके स्वरूपको देखकर अपने स्वभावका भान करें और अपनेको प्रभुके स्वरूपके निकट ही ले जायें । मेरेको तो यह अविकार स्वभाव निरखना है, अन्य बातसे, अन्य घटनासे मेरेको कुछ प्रयोजन नही । अपनेमे अपनेको देखो और अपनेको सुखी अनुभव करो ।

सहजस्वरूपके अवगमसे परमसतोषका लाभ—यहाँ ये चार बाते समझनी हैं—२ विधिरूप और २ निषेधरूप । प्रत्येक पदार्थ अपने आपका ही कर्ता है । मै अपनेको ही करता हू । कोई पदार्थ किसी दूसरेको नही करता, मैं किसी दूसरेको नही करता । प्रत्येक पदार्थ अपने आपको ही भोगता है, मै अपने आपको ही भोगता हू । कोई किसी दूसरे पदार्थको नही भोगता, मै किसी दूसरेको नही भोगता । इन तथ्योके समझनेसे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मैं स्वय अपने स्वरूपमात्र हू, अपने स्वभावमे तन्मय हू । यह ही स्वभाव मेरेको दिखे, इस ही मे मेरा अनुभव जगे, इस ही मे मेरा वास्तविक कल्याण है । अगर कल्याण चाहिए है तो एक ही निर्णय है कि बाहरी पदार्थोका आश्रय तजकर एक अपने आपके स्वरूपका आश्रय लें, अपनेको अनुभव करें कि मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञान ही ज्ञान हू । यह ज्ञान मेरा स्वरूप है, ज्ञान ही मेरा अभेद भाव है, ज्ञान ही सर्वस्व है । ज्ञानमे इस स्वरूपमे किसी दूसरी चीजका प्रवेश नही होता । हाँ यह ज्ञान ही बिगड जाय । कल्पना करने लगें तो अपनी कल्पनासे यह जीव अपनेमे आकुलता पाता है, पर मेरे ज्ञानमे किसी दूसरेका प्रवेश नही, इस कारण मुझपर किसीका भार नही । अपने विशुद्ध ज्ञानस्वरूपको देखो और अपनेको भाररहित अनुभव करो । मेरेको करनेको कुछ पडा ही नही बाहरमे और अन्दरमे कुछ करनेके लिए कोई जरूरत भी

नही'। वस्तु है उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है। तो स्वभावसे ही अपनेमें उत्पाद करता रहेगा, तो स्वयं सहज जैसा जो कुछ मेरेमे उत्पाद हो सो होता रहे, मेरेको बाहरमे करनेको कुछ नही पडा है। कष्ट मेरेमे है ही नही, मेरा स्वरूप तो आनन्द है। जो मेरेमे मेरे कारण मेरे ही सत्त्वसे परके सम्बन्ध बिना हुआ करे सो मेरी निधि है। मेरेमे सहज आनन्द है, वह आनन्द मेरेमे मेरेसे हो प्रकट होता है। मेरेमें कष्टका कही काम नही। जब कष्ट ही नही मेरे स्वरूपमे तो असंतोष किस बातका हो? असतोष होता है परका ख्याल बनानेसे। अरे परसे मेरेको कभी कुछ मिल ही नही सकता, तो उसका ख्याल बना बनाकर मै अपना जीवन कष्ट ही कष्टमे क्यो गुजारूँ? मैं परसे रहित हू, कष्टसे रहित हू, स्वयं सहज आनन्दमय हू, ऐसा स्वरूपका दर्शन रहा करे तो इस जीवको परमसन्तोषका लाभ होता है।

(६)

प्रत्येक द्रव्य अपने आपका ही स्वामी है, स्वय ही स्वके स्वभावरूप है, किसी भी एक वस्तुका अन्य समस्त परवस्तुओमे अत्यन्त अभाव है, स्वतन्त्रताके सम्यक् बोधमे ममता मिट कर क्षमता प्रकट होती है।

सर्व आकुलता व विडम्बनाका मूल ममताभाव—जीवकी आकुलताकी निष्पत्तिमे एक ममताका बहुत बडा सहयोग है। ममता मायने ममकार, जो मेरा नही है उसको मानना कि यह मेरा है, ऐसे भावको कहते है ममकार। मेरा क्या-क्या नही है? ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त, मेरे चैतन्यस्वरूपके अतिरिक्त समस्त तत्व, समस्त भाव, सर्व परभाव उनमे से कुछ भी मेरा नही है, फिर उनको समझें कि मेरा है, बस यहीसे विपत्ति प्रारम्भ हो जाती है। लोकव्यवहारमे भी देख लो। जब तक किसी पदार्थके बारेमे मेरा है ऐसा विकल्प नही होता तब तक आनन्द है, शान्ति है, चैन है और जब यह भाव बन जाता है कि यह मेरा है बस तभीसे अशान्ति होती है। कई जगह ऐसी घटनायें होती है कि जिसके केवल एक ही बच्चा या बच्ची हो और कदाचित् उसका वियोग हो जाय तो यह कहते सुना गया कि इससे तो न होता तो अच्छा था, उसका ख्याल न आता, वेदना न होती। हुआ और चला गया। उसकी वेदना है। तो जब तक नही था तब तक आकुलता तो न थी, सुख चैनसे रहते थे और जहाँ हुआ कि आकुलता हुई बस वहीसे शान्ति छूट जाती है। जैसे कहते है सगाई, तो सगाई मायने स्वकीयता, स्वकाई मायने अपना हो गया—यह इस प्रकारकी कल्पना आनेका नाम है सगाई। देखो एक गुरुजीके पास शिष्य आता था पढने, एक दिन वह नही आया तो गुरु जो ने पूछा—बेटा तुम कहाँ रहे? कल नही पढने आये थे? तो शिष्यने कहा महाराज मेरी सगाई हो रही थी। तो गुरुजी बोले—अब तुम अपने गाँवसे गए।···कैसे? सगाई होनेके

बाद बस दिमागमे ससुरालका गाँव ही झूमता रहता है और जिस गांवमे रहते उसका कुछ भान नही। फिर कुछ दिन बाद वह शिष्य न आया, फिर गुरुजी ने पूछा—बेटा तुम पढने क्यो नही आये थे। तो शिष्यने कहा—महाराज—मेरी शादी हो रही थी, तो गुरुजी ने कहा अब तो तुम अपने घरसे भी गए।" कैसे?...बस ससुरालके घर वाले ही सब कुछ दिखाई पडते, साला, साली, सास-ससुर वगैरा। वहाँ फिर अपने घरके लोगोको भूल जाते। फिर कुछ दिन बाद वह शिष्य न आया।...क्यो नहीं आये थे?...महाराज विदा कराने गये थे तो कहा—अब तुम अपने माता पितासे भी गए। जब स्त्री घर आयी तो माता पिताकी कौन परवाह करता? एक स्त्री ही उसके चित्तमे बसी रहा करती है। तो देखिये विडम्बना सगाईसे शुरू हुई और विदा तक हुई। यहाँ विदाका अर्थ समझो शान्तिकी विदाई विदाई नाम वियोगका है। तो मालूम होता है कि शान्तिकी बिदाईका नाम है विदा। विदा हो गई मायने शान्तिकी विदाई हो गई और अशान्तिकी मिलाई हो गई। तो सर्व आपत्तियो की जड ममताभाव है।

दुःख मेटनेके उद्यमियोंको ज्ञानार्जनके उपायको करनेका संदेश—लोग दुःखी होते हैं और दु खको मेटनेका बहुत पौरुष करते है। अरे जहाँ हम अनेक पौरुष करते हो दुःख मिटाने के लिए वहाँ जरा भीतरमे एक ज्ञानका पौरुष भी तो बनावें कि जगतमे मेरा कही कुछ नही है, शान्ति मिल जायगी। अभी जिसको जितना धन-वैभव मिला है वह उसमे खुश थोडे ही है। कोई अपनेको सुखी नही समझता, और इससे मान लो एक कष्ट ही मिलता है। जितना धन आज मिला है उसका १६वा हिस्सा ही मानलो मिला होता तो क्या उससे गुजारा न चलता? चलता ही है, देख लो अपनेसे कम धनिकोको और मान लो आज जितना धन है उससे १६ गुना अधिक धन हो जाय तो क्या सुखी हो जावोगे? अरे आपसे १६ गुना अधिक धन जिनके पास है उन्हे देखलो सुखी है कि नही? वे भी तो दु.खी नजर आते। तो वे दु.खी क्यो है? यो कि अपनेसे अधिक धनिकोपर उनकी दृष्टि रहती है। उससे अधिक धन प्राप्त होनेकी निरन्तर आशा बनाये रहते है यही कारण है कि उन्हे सन्तोष नही हो पाता। तो सर्वक्लेशोकी खान ममताभाव है। क्लेश दूर करना चाहते हो तो ममताविनाशक ज्ञानार्जनके उपायको मत भूलो। ऐसा ज्ञान बनाओ जिससे ममता दूर हो। तभी आकुलता दूर होगी अन्यथा आकुलता दूर नही हो सकती। देखते भी तो है—जैसे कोई पहले खोमचा ही फेरता था या किसी छोटी दुकानपर नौकरी ही करता था, समय गुजरा, बडा धनिक हो गया, लख-पति करोडपति हो गया। इतना होनेपर भी वह चैन नही मानता। हायरी ममता डाइन, तूने इस जगतके प्राणीको कुचल डाला, मार डाला, चबा डाला। और दु ख किस बातका है?

इस लोकके इस गाँवके किसी जगहके एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तकके आदमियोको देख लो, कोई साधुसत ही बिरला ऐसा है जो सुखी मिलेगा, बाकी सबने दुःख ही दुःख पाये ।

कल्पनाजन्य ममतासे क्लेशकी निष्पत्ति—जब दुःख आता है तब तो सोच लेते है कि अब मै किसी विडम्बनामे न पड़ूगा और जैसे ही दु.ख कम हुआ कि फिर वही विडम्बना शुरू हो जाती है । एक आदमी नारियलके फल तोडनेके लिए नारियलके पेडपर चढ तो गया और नारियलके फल भी तोड लिये, अब जब उतरनेको हुआ निगाह नीचे किया तो कांप गया, डर गया, हाय अब गिर गया तो क्या होगा ? तो वहाँ वह विचार करता है कि यदि मैं राजी खुशीसे नीचे उतर गया तो १०० ब्राह्मणोको भोजन कराऊँगा । खैर कुछ नीचे खिसका, मानो करीब आधो दूर आ गया तो फिर सोचा कि १०० तो नही, पर ५० को जरूर खिलाऊँगा, कुछ और नीचे उतरा तो फिर सोचा कि ५० को तो नही, पर २५ को जरूर खिलाऊँगा । इस तरहसे वह ज्यो ज्यो नीचे उतरता गया त्यो त्यो कम करता गया । और जब बिल्कुल ही नीचे जमीनपर उतर आया तो सोचा—अरे क्यो ब्राह्मणोको खिलाऊँ ? उतरा तो मै हू, मै तो अब एक भी ब्राह्मणको न खिलाऊँगा तो हर एक विडम्बनामे आप यही बात पायेगे । समस्त परेशानियोंका कारण ममतापरिणाम है । देखो जीवन तो बिताये जा रहे हो धनके उपार्जनमे, सुखमे, मौजमे, मगर यह न समझो कि हमारा जीवन सही चल रहा है । कभी भी कोई कष्ट आ धमके, कुछ भी बात आपपर गुजर जाय तो आप दु.खी हो जाते है । मानो आपने आज सुबह कोई चीज खरीद ली और शामको ऐसा सुननेमे आया कि उसका भाव सवाया या ड्योढा बढ गया तो वहाँ आप यह ख्याल बनाते कि इसमे तो हमे १० हजार रुपयेका लाभ हुआ है, बस वहाँ आप उस प्रकारके ख्यालसे ही सुख मानते और मान लो यह खबर मिल जाय कि उस चीजका भाव गिरकर कम रह गया तो वहाँ आप ऐसा ख्याल बनाकर दु.खी होते कि अरे इसमे तो दस हजारका टोटा पड गया । यो सुख दु खकी बात आपके ख्यालके आधारपर चलती रहती है । यहाँ सुख दु ख माननेका कोई निश्चित आधार (साधन) तो नही है । न जाने ऊट किस करवट बैठ जाय, न जाने कौनसी बात विचारमे आ जाय और यह जीव क्लेश मान बैठे । तो उन सब क्लेशोका कारण है ममतापरिणाम । क्लेशोसे बचना है तो इस ममतासे दूर पहले होना चाहिए ।

ममता विनाशका उपाय सबकी निजनिजस्वामिताका परिचय—अच्छा अब जरा वह उपाय बताओ कि जिससे ममता दूर हो जाय । कैसे ममता दूर हो ? चीजको बिगाड दो, चीजको छोड दो, दूर देशमे पहुच जावो, कही उपयोग बदल लो, अनेक उपाय करलो तो भले ही कुछ थोड़ी ममता दबसी जाय या न भी दबे, किन्तु ये उपाय ममता दूर करनेके नही है,

तो फिर क्या उपाय है ममता दूर करनेका ? अरे ममतासे उल्टा चलें तो ममता दूर हो जायगी। ममतामें क्या बात है कि यह मेरा है, तो अब क्या आशय बना लें कि यह मेरा नही है, बस ममता दूर हो जायगी। यह मेरा नही है—यह आशय कैसे बने ? तो यह मेरा नही है यह आशय बनेगा यह मेरा नही है ऐसी समझके द्वारा। वह समझ कैसे आयगी ? बस अपनेको व ममताके विषयभूतको भिन्न-भिन्न जान लें, मै जुदा हू, ये जुदे है, बस ऐसा भाव बन जायगा कि ये मेरे नही है। देखो किसीके भरोसे मत बैठो कि कोई दूसरा मुझे सुखी शान्त कर देगा ? खुदका ही ज्ञान बल बढाना पडेगा तब शान्त हो सकेंगे। वह बल क्या है ? यही ज्ञानबल जरा समस्त पदार्थोंको जिसका जैसा स्वरूप है उसी स्वरूपमे जरा समझ तो लो प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है। सबकी सत्ता उसकी उसमे ही है। किसीका कोई दूसरा मालिक नही है। ससार है, बंधन है। योग जुडता है, बच्चे है, बच्ची हैं, स्त्री है। लोग समझते है कि ये मेरे है, इन पर मेरा अधिकार है और वास्तविकता यह है कि कुछ भी मेरा नही है। किसी पर मेरा अधिकार नही। तो ऐसा जब सही बोध हो तो ममता जगेगी कैसे ? तो यह ही सम्यक् बोध करना, प्रत्येक द्रव्य अपना ही स्वामी है। कोई किसी का स्वामी नही है। स्वामी शब्द स्वसे ही तो बना। जो जिसका स्व है, जो जिसका निज स्वरूप है वह उसका स्वामी है। कोई पदार्थ किसी अन्यका स्वामी नही है।

एकका अन्य समस्तमे अत्यन्ताभावके परिचयसे—अब जहाँ-जहाँ ममता जगती हो उस-उस पदार्थके बारेमे अपनी तर्कणा बना लें कि यह मेरा कैसे लग सकता है ? कुछ भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थका कुछ भी नही लगता, प्रत्येक पदार्थ खुद ही खुदके भावरूप है, स्वरूप रूप है, स्वभावरूप है। कोई किसीके स्वरूपसे नही है। यह तो वस्तुका स्वरूप ही है। यह बात तो किसीने बनायी नही, हाँ बतायी है प्रभुने, बतायी है ज्ञानियोने। बनता कुछ नही है। जो पदार्थ है सो है, वह नष्ट नही होता। जो नही है सो नही है। हालाकि इन शब्दोमे नही बता सकते कि जो नही है सो कुछ नही है बताओ जरा। अरे बताओगे तो वह है ही बन गया। सत्का विनाश नही, असत्का उत्पाद नही। भगवद्‌गीतामे भी लिखा है कि सत्का कभी विनाश नही होता। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' जो है उसका विनाश नही, जो नही है उसका उत्पाद नही। तो अब बतलावो कौन किसका हैं ? किसी पदार्थका कोई दूसरा मालिक नही, खुद ही खुदके स्वरूपका मालिक है। जब ऐसी बात है तब फिर जगतमे कोई कुछ मेरा कैसे हो सकता ? जब नही हो सकता तो फिर ममता कहाँ ठहरे ? ममताका पिता है अज्ञान। अज्ञानसे ममता जगती है। जहाँ सही ज्ञान हो गया वहाँ ममता का क्या काम ? तो पहला ज्ञान यह बनाये कि प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक जीव, प्रत्येक

अणु, परमाणु सब एक दूसरेसे जुदे जुदे है। किसीका कोई मालिक है ही नही। धर्म किसे कहते, योग किसे कहते ? बस ऐसा सम्यग्ज्ञानमे ही उपयोग बना रहे, जो बात जिस तरह मिल सकती है उसे उस तरह पाना चाहिए। तो हाँ बनाओ ममताविनाशक ज्ञान। प्रत्येक पदार्थ अपने आपका स्वामी है। खुद ही खुदके भावरूप है। एक पदार्थका अन्य समस्त पदार्थोमे अत्यन्ताभाव है, त्रिकाल अभाव है। न एक दूसरे रूप कभी हुआ, न अब है और न कभी हो सकेगा। भले ही विकार परिणमनोका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, पर निमित्त-नैमित्तिक भाव होने पर भी कोई पदार्थ किसी पदार्थकी पर्यायरूप नही परिणमता। एकका दूसरेमे अभाव है। एकमे दूसरेका अभाव है। सर्व अपना-अपना स्वरूप लिए हुए अपनी सत्ता से रहते है। यो सर्व पदार्थ स्वय है, स्वतत्र है, ऐसा जब समीचीन बोध बनता है तो उनकी ममता ठहर नही सकती। ममता मिटी कि सारे सकट दूर हो जाते है।

(१०)

अपना ज्ञान किसी भी अनात्म पदार्थमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके बाह्यमे उपयुक्त हो तब कष्ट होना प्राकृतिक ही बात है, क्योकि आत्मकुलकी बान छोडकर यह सब अकृत्य ही तो किया जा रहा है।

अपना उपयुक्त कर्तव्य—यह भावना जिज्ञासा बनती है जब कभी भी कि अपनेको क्या करना चाहिए, अब क्या करें ? यह बात मनमे आती है कि क्या करना उपयुक्त है ? तो इसका सक्षिप्त उत्तर यह हो सकता है कि अपने कुलके अनुरूप काम करना उपयुक्त है। अपने बडप्पनके अनुरूप जिस वशमे उत्पन्न हुए उसके अनुकूल अपने को काम करना है। लौकिक विधिमे सब कुछ समझमे आ रहा होगा। जब कोई महापुरुष, कुलका बडा कोई पुरुष, बडे घरका आदमी जब कोई हल्का काम करने पर उतारू होता है तो लोग समझाते है कि अरे भाई तुम क्या कर रहे हो ? अपने पुरखोको तो तको। अपने कुलको तो देखो। यही बात जरा अपने दिमागमे लावो कि हे आत्मन् ! बतला तेरा कुल क्या है ? कुलके मायने सतान। जिसकी सततिमे बराबर प्रवर्तन हो उसका नाम है कुल। तो मै किस सततिमे रहता हू ? मै रहता हू अपने चैतन्यकी सततिमे। मै था कही वही चैतन्य, मै हू यहाँ वही चैतन्य, मै होऊँगा आगे यही चैतन्य। मेरा कुल है चैतन्य। जैसे लोग कहते है कि यह कुलका दीपक है, यह वश चलाने वाला है, तो मेरा कुल है चैतन्य। उस कुलका दीपक कौन ? यह मैं स्वय। जैसा अपनेमे सहज भावरूप हू वह हू मै दीपक इस चैतन्यकुलका। इस चैतन्यवश को पवित्रता बनाओ। मायने मै रागद्वेष मोह तजकर मात्र ज्ञाता दृष्टा रूपसे रहू तो यह ही है मेरी पवित्रता। जहाँ यह पवित्रता हुई वहाँ चैतन्य कुल भी पवित्र बन गया। तो क्या

करना ? अपने कुलके अनुरूप काम करना। मेरा कुल है चैतन्यस्वरूप। मेरा अनुरूप काम है ज्ञाता द्रष्टा रहना, जाननहार रहना, देखनहार रहना।

मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहनेमे प्रसन्नता—जैसे कि कोई अजायबघरमे चीज देखने जाता है तो वह केवल जानने वाले रहता है। किसी चीजको छूता नही है। छुवे, पकड रखे किसी चीजको तो वही गिरफ्तार हो जाता है। तो ऐसे ही जगतमे जितने जो कुछ पदार्थ है उन समस्त पदार्थोंको केवल जानते रहे, देखते रहे, उनमे से किसीको छुवें नही, न राग करे, न द्वेष करे, न मोह करे। बस जानते देखते रहे। भला अपने-अपने अनुभवसे सोचो तो जरा। आपको अपना बच्चा तो बहुत प्रिय लगता, और पडौसके गैरके औरके अन्य लोग उतना प्रिय नही जचते, तो यह अन्तर जो आपके हृदयमे बना है। बतलावो यह मलीमसताका आशय है कि नही ? जब अपने एक शुद्ध धर्ममार्गमे चलते है ऐसी जब आपमे इच्छा जगे उस समय आप परख लें कि जब घरके बच्चे भी भिन्न जीव है, बाहरके बच्चे भी भिन्न जीव है, भिन्नतामे सब समान है। जैसे भिन्न गैर लडके वैसे ही भिन्न घरके लडके, पर देखो परिस्थिति है ऐसी कि अपने घरके बच्चोका पालन करना चाहिए। घरके बच्चोकी चिन्ता भी रखनी पडेगी। यह तो गृहस्थीकी व्यवस्था है कि प्रत्येक गृहस्थ अपने घरके बच्चोको सबको सुरक्षित रखे तो व्यवस्था ठीक रहेगी। यह बात तो अलग है, मगर उसके आगे जो कदम बढायेगा उसको अपना मानना, उसमे चित्त लगा रहना, यह ही मेरा सर्वस्व है, ऐसा जो भीतरमे आशय जग गया, इसकी तो जरूरत नही गृहस्थीमें। ये क्यो अधिक काम किए जा रहे है, कही भी जरूरत नही। सत्य श्रद्धान बनावें, मेरा मात्र मै ही हू, मेरा जगतमे अन्य कुछ नही। श्रद्धा सही रहेगी, कल्याण होगा। जहाँ कि कोई विडम्बना हो, घटना हो, चिन्ता हो, खोटी स्थिति हो, किसीकी परवाह मत करो, मेरेमे कुछ खोटापन नही, सब बाहर बाहरकी बाते है, उनसे मेरा क्या सम्बन्ध ? अपने भीतरके स्वरूपको देखो और अपनेमे अपने स्वभावकी उपासना करके प्रसन्न हो जावो, निर्मल हो जावो। सारे सकट दूर हो जायेगे।

अपने चैतन्यकुलकी बान न छोड़नेमे ही शान्तिपथका लाभ—तो देखो कब विडम्बना बनती है, जब अपना ज्ञान किसी अनात्म पदार्थमे लग गया। जो मेरा कुछ नही है उसमे उपयोग जुड गया है, उसमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि रख रहा, यह मेरा अच्छा, यह मेरा बुरा, इस इष्ट अनिष्ट बुद्धिने कैसी दुविधा डाल दी कि जैसे मकडी जालमे फसी रहती है ऐसे ही यह पुरुष इष्ट अनिष्ट बुद्धि रखने वाला पुरुष अपने आपकी कल्पनामे ही अपना जाल पूरता है और अपने ही उस जालमे घिरा रहता है। जाल पूरने कोई दूसरा नही आता। खुद ही जाल पूरता है और खुद ही जालमे घिरा रहता है, तब यह जीव जब ऐसी योग्यता रखता है तो

कषायसे प्रेरित होकर अनेक बाह्य पदार्थोमे अपना दिल फंसाये रहता है। उस समय कष्ट होता है सो प्राकृतिक बात है। जब हमारा उपयोग हमारे ही ज्ञानसमुद्रसे अलग हो गया तो वह तो तडफेगा ही। जैसे कोई मछली अपने निवास जलसे अलग हट गयी तो वह तो तडफेगी ही, और तडफ तडफकर मरण कर जायगी। तो जो भी कष्ट होता है वह क्यों होता है ? यो कि हमने इन बाहरी पदार्थोमें अपना उपयोग फंसा लिया। क्या किया वहाँ ? हम अपने आत्मकुलकी बान छोड़ बैठे। मेरा कुल चैतन्यस्वरूप है। मेरी बान है ज्ञातादृष्टा रहना, पर अपने कुलकी बान छोडकर हम अकृत्यमे जा फंसे। अकृत्य क्या है ? जो मेरेको करने योग्य नही सो अकृत्य है। जो मेरे द्वारा किया ही नही जा सकता और उसमे करनेका विकल्प बनाया वही है अकृत्य, जो कभी मेरा नही हुआ, न है, न होगा, उसमे यह बुद्धि बनी कि यह मेरा है, बस यही कहलाता है अकृत्य। तो अपने कुलकी बात छोडकर हम अकृत्यमे पहुचे तो यह मेरा चूकि कुल विरुद्ध आचरण है, सो हममे कष्ट होना प्राकृतिक बात है। यदि ऐसे कष्ट न चाहिएँ तो अपने चैतन्यकुलकी बान मत छोडें। जो हमारे पुरुखोने किया—पुरखा कौन ? ज्ञानी सत, आचार्य, भगवान, जो कुछ उन्होने किया उस ही रास्ते पर हमको चलना है तो हम अपनेमे शान्तिका पथ प्राप्त कर सकते है।

(११)

अपना ज्ञान बाह्य पदार्थको भिन्न, असार, विनश्वर, अशरण जानकर, ज्ञानस्वभावको स्वय, सार, ध्रुव व शरण जान बाह्य पदार्थोसे हटाकर ज्ञानको ज्ञानरूपसे परिणमानेमे उद्यत हो, तब शान्ति होना स्वाभाविक है।

कषायके लगावमे क्लेशका संताप—यह प्राणी अनादिकालसे कषायोसे परेशान होकर अशान्त होता चला आया। इसकी अशान्तिका कारण कषायका अनुराग है। यह कषायका छोडना नही चाहता, सो कषायकी ज्वालामे सतप्त रहता है। कौन सी कषाय ऐसी है जो शान्तिमे सहयोग दे ? जब क्रोध उमडता है तो क्रोधमे यह जीव अपने गुणोको भस्म कर डालता है, परका भी अपकार कर डालता है, क्रोधमे इसे शान्ति नही। जब घमडभाव आता है तब क्या इसे शान्ति है ? अज्ञान छाया है। जगतके इन जीवोसे मैं कुछ अधिक जचू, कुछ विशेष कहलाऊँ, ऐसा विचार कर जगतके समस्त इस अतस्तत्त्वका भान कर रहा है। जब छल कपटकी बात चित्तमे आती है तो कितनी ही तो उलझने आया करती है। उन उलझनो से धर्मका प्रवेश नहा है। नोकर्म तृष्णाभाव, इनसे यह जीव कायर बन जाता है। तो जितनी अशान्ति जीवको मिल रही है वह सब कषायके अनुरागका फल है। यदि शान्ति चाहिए तो कषायकी प्रीति छोडनी होगी। और वह बात कब बन सकेगी, जब यह अपनेको समझे कि कषाय मेरी गाँठकी चीज नहीं है, कषाय तो आगतुक है, कर्मविपाकका प्रतिबिम्ब है। मै

तो इस प्रतिबिम्बसे रहित, इस छाया मायासे विविक्त केवलज्ञानस्वरूप हूं, यो सही अपना सहजस्वरूप जानकर ज्ञान ज्ञानरूपसे परिणमनेमे ही उद्यमी रहे, ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ही विषय रहे तो इस जीवको शान्ति प्राप्त हो सकती है। यह खुद है, ज्ञानस्वरूप है। उसे अनन्त पदार्थोसे इसका क्या मतलब पडा है? क्या सम्बन्ध है? सब अपने अपने स्वरूपमे है। किसी पदार्थका किसी अन्य पदार्थके साथ कुछ सम्बन्ध हो नही, तब यह क्यो अनेक पदार्थों का विकल्प कर, ख्याल कर कषायोसे अनुराग बढाकर अपने आपका विघात कर रहा है?

ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमन होनेमें ही शान्तिकी संभवता—शान्ति चाहिए, तृप्ति चाहिए तो उसका उपाय यह है कि यह ज्ञान ज्ञानरूपसे परिणमने लगे। काम तो यहाँ एक ही हो रहा है। यह ज्ञान परिणमन करता चला जा रहा है। अब यह ज्ञान जब कषायरूप को अपनाता हुआ परिणमन करता है जो कर्मविपाकका प्रतिफलन है, कर्मविपाक है। इस की चेतनामे आया है। उसको अपनाता हुआ, उस रूपसे अपनेको मानता हुआ ज्ञानका परिणमन करता है तब इस जीवको अशान्ति मिलती है और जब उन परभावोको छोडकर जो मेरे निजकी गाँठकी चीज नही, कर्मकी छाया माया प्रतिफलन है उसे तजकर जब सहज विशुद्ध ज्ञानस्वभावरूपसे अपनेको परिणमाता है, यह ज्ञान ज्ञानरूपसे अपना प्रवर्तन करता है तो इस जीवको शान्ति मिलती है, ऐसा होने के लिए आवश्यक है कि मेरे उपयोगसे बाह्य पदार्थ हट जायें। बाह्य पदार्थ हट जायें, इसके लिए उपाय क्या है? उपाय यह है कि यह जीव बाह्य पदार्थोमे लग क्यो रहा था यो तो जरा समझो? बाह्यपदार्थोमे लग रहा था अपने आनन्दके लिए। जो जीव जिसमे अपना आनन्द समझता है वह जीव उस प्रवृत्तिमे लग बैठता। तो बाह्यपदार्थोके सम्पर्कमे इस मोही जीव ने आनन्द माना था, तो जब वह आनन्द झूठा जचे, वास्तविक आनन्दका अनुभव बने तब ही तो बाह्यपदार्थोसे हटा जा सकता है। नीरस रोटियोको कौन छोडेगा? जिसको सरस भोजन मिले वही नीरस रोटियोको छोड सकेगा। बाह्यपदार्थोको छोडेगा कौन? जिसको अपने अन्तरमें आनन्दका, चैतन्यरसका स्वाद आया हो वही तो बाह्यपदार्थोको छोडेगा। तो बाह्यपदार्थोसे छुटकारा पानेके लिए कर्तव्य क्या है कि अपने ज्ञानस्वभावको निरखें कि यह मै ज्ञानस्वभाव स्वयं सारभूत हूँ, शरण हू, ध्रुव हू, पवित्र हूं, निराकुल हू। जब सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र निज अतस्तत्त्वका परिचय हो तो वहाँ आनन्द जगता है और बाह्यपदार्थोसे निवृत्ति मिलती है।

बाह्यकी असारता व स्वरूपकी सारताके परिचयसे विकास—अच्छा, बात यहाँ यह समझना है हितके उपायमें कि थोडा बाह्य पदार्थोको असार समझनेका भी ज्ञान हो, कुछ अपने आपमें अपने सारपनेका भी ज्ञान हो तब ही तो काम बनेगा। जहाँ कोई एक निर्णय

नही बन पाता कि पहले अपना सार स्वरूप जाने तब बाहरी असार स्वरूपसे छुटकारा मिले या बाहरी असारस्वरूपको ही जान लें तो अन्तरंगका सार समझमें आयगा ? अरे जैसे यहाँ किसी इष्टके लाभके लिए जो उपाय बनता है सो किया जाता है ना, ऐसे ही आत्मीय आनन्दलाभके लिए भी दोनो बातोको करना है। बाहरी पदार्थोंको असार समझना है और अपने आपके स्वभावको सार समझना है तो जब यह जीव, अपना ज्ञान ऐसा जानने लगे कि ये बाह्य पदार्थ भिन्न है, असार है, विनाशीक है, अशरण है तो साथ ही यह भी बोध होता है कि मै ही स्वयके लिए शरण हू, मेरा स्वरूप ही मेरे लिए सार है, मै सदा रहने वाला अविनाशी तत्त्व हू। तो जहाँ बाह्य पदार्थोंकी असारता और निज अतस्तत्त्वकी सारताका बोध होता है वहाँ बाह्यपदार्थोंसे हटकर यह ज्ञान अपने स्वरूपमे लगता है। जहाँ ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाये वहाँ इस जीवको शान्ति मिलती है, तृप्ति होती है। अपनेको शान्त रखनेका उपाय मोह, क्रोध, मान, माया, लोभका परित्याग है। और सर्व विकारोमे रहित जिसका विकार स्वरूप ही नही है, ऐसे ही ज्ञानस्वभावका ज्ञानमे लाना, बस वही उपाय है आत्महितके लाभका, सब बात अनुभव बता रहा होगा। जबसे ख्याल है इस भवमे बचपनसे और आज इतनी उम्र हो गई, इतने समय तक यह जीव कभी सुखमे मग्न रहा, कभी दुःखमे इसने सताप माना। तो जब सुखमे मग्न रहा उस समय भी कुबुद्धि थी, जब दुःखका ताप माना तब भी इसमे कुबुद्धि ही काम कर रही थी। इसने कुबुद्धिको त्यागा नही, वह सुख किस कामका जिसमे मग्न होनेपर उससे कई गुना दुःखका अवसर मिलता है। किसका सुख ऐसा है ससारमे जो सुख सदाकाल रहे। सुख के बाद नियमसे दुःख आता है, सासारिक सुखोकी यही बात है। एक सहज आनन्द, एक शाश्वत सुख ही एक ऐसा पवित्र तत्त्व है कि जिसका अपलाप नही होता, जिसका विनाश नही होता, जिसकी धारा निरन्तर चल रही है, किन्तु ससारके सुख कोई भी तो ऐसे नही जो सदा रह सकते हो और जीवको निराकुल बना सकते हो। तो क्या किया अब तक ? कभी सुखमे मग्न रहे, कभी दुःखमे सताप मानते रहे।

सहजस्वभावकी प्रतीतिकी दुर्लभता—अहो इस जीवने सुख-दुःखसे रहित कोई तीसरी अवस्था नही पाई कि जहाँ न सुखका प्रसग हो और न दुःखका। यह बात इस जीवको मिल कैसे सकती है ? इसका उपाय है एक सहजचैतन्यस्वभावकी आराधना। इसीको बोलते है बोधिदुर्लभ। सब कुछ इस जीवने पाया। धन कन कंचन राज सुख आदिक सर्व लौकिक वैभव इस जीवने पाया, किन्तु कर्मविपाकजन्य इन विकारभावोंसे विविक्त अपने आपके स्वरूप से ही जो एक सहज स्वभाव है उस स्वभावरूपमे अपनी प्रतीति नही कर सका यह जीव।

कितनी बडी विपत्तिमे यह जीव ग्रस्त है ? निरन्तर यह परभावरूप ही अपनेको अनुभव रहा, ऐसा ही अनुभवता चला आया है। यह परानुभव मिटे और निजके स्वरूपका अनुभव बने, ऐसी स्थिति इस जीवको चाहिए और कुछ न चाहिए। तीनो लोकका सारा ढेर भी आपके आगे आये तो उसको छोडकर ही तो जाना पडेगा। इस वैभवके विकल्पोसे क्या लाभ मिलेगा ? दुनियामे कोई यश फैल गया, दुनियाके लोग जानने लगे कि यह भी कोई चीज है, यह भी कुछ है। तो यह तो विकल्प महाविपत्ति है। जान गए कुछ लोग तो कौनसा लाभ हुआ ? जो जान गया क्या वह हमारा मालिक है, प्रभु है ? जो जान गए लोग क्या वे सदा यहाँ बसने वाले है ? वे भी विनाशीक है, मिटने वाले है। पर्याय है ना, और कितने लोग जान गए ? संसारके जीव तो अनन्तानन्त हैं, उनके आगे क्या है ? बिन्दु बराबर भी नही और सब जाने तब तो कुछ यशका गौरव भी मनावो, पर ऐसा कभी हो नही सकता है। तो किस बातका गर्व ? कहाँ अविवेक लगाया है ? ससारके किन पदार्थोमे आनन्द बसा है ? कुछ भी नही। सब विकार, सब वैभव उनसे हटकर मै अपने आपमे इस सहज चैतन्यस्वरूप अतस्तत्त्व का अनुभव करूँ, बस शान्ति यहाँ मिलेगी। कभी दुखसे घबडा गया तो सांसारिक सुख अच्छे लगे। मिल गए कुछ सुख तो उनसे पूरा नही पडनेका। पूरा पडेगा तो जो सहज आनन्दस्वरूप है ऐसे अतस्तत्त्वकी उपासनासे पूरा पडेगा।

(१२)

नरभव, बुद्धि, सुविधा, सत्सङ्ग, बोध, आरोग्य आदि समागम पाकर निरपेक्ष सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अपनेको प्रतीत कर लेनेमे चतुराई है, अन्यथा तो वही विडम्बना रहेगी, जो अब तक अनादिसे चली आई है।

अनादिकालीन आत्म-इतिहासमे अशुद्धताकी संततिका विस्तार—अपने आपका पूर्व इतिहास तो देखो—जब हम आज ऐसे मनुष्य है—क्रोध, मान, माया, लोभके भरे है, नाना विकल्प सतापोसे दुःखी है, ऐसी स्थिति आज हमारी है। तो क्या यह अभी हो गई ? इस की तो परम्परा है। इसकी तो अनादिसे धारा चली आयी है। जन्म समयमे भी अशुद्धता थी, गर्भमे भी अशुद्धता थी और उससे पहले जो भव मुझको मिला उसमे भी अशुद्धता थी। और उससे पहले भव होते ही तो थे। कितने होते रहे थे उनकी गिनती नही, उनकी आदि नही। अनादि, अनादिसे ये सब अशुद्धताये, विडम्बनायें इस जीवपर चलती चली आ रही है। यह विडम्बना पसद है क्या ? जैसे भगवान अकेले, केवल असहाय स्वसहाय निजस्वरूपमे ही मग्न है ऐसा होना पसद है कि नही ? पसद है। यह तो तब कहा जाय कि जब उसके अनुरूप अपना कुछ ध्यान हो। एकदम तो चल रहा पीछेसे कदम। तो चल रहा मिथ्यात्व

कषायका और वहां ऐसा स्वप्न देखे कि मेरेको शान्ति मिले तो कैसे मिले ? हम आपकी विडम्बना अनादिकालसे चली आ रही है । इस विडम्बनाको दूर करना है कि नही ? या जो कुछ प्राप्त हुआ है उसीमे मोह ममता करके इस जीवनको गुजारना है ? अपनी बात सोचो तो जरा । मै शरीरसे निराला आत्मा हू, मुझ आत्माको सब द्वन्दोसे हटकर शान्त होना है या नही ? अगर सबसे निराला होना चाहते है और ऐसा होनेका उद्यम करते है तो सच्ची चतुराई यहाँ है । जगतके बाह्यपदार्थोको किसी चतुराईके बलसे इकट्ठा कर लें, सचय करलें तो उसमे कोई चतुराई नही । चतुराई है तो अपने आपको कषायके झंझटोसे निकालकर शुद्ध अतस्तत्वकी अनुभूति कर लें, उसमे चतुराई है । इसीका नाम है अपनेको स्वभावमात्र प्रतीति मे लेना । मै नारकी नही, तिर्यंच नही, मनुष्य नही, देव नही, इन्द्रिय वाला नही । यह सब किस बलपर कहा जा सकता ? जहाँ इनसे विविक्त केवल एक चैतन्यस्वरूप ही आत्मतत्त्वको पा ले जो निरपेक्ष सहज ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मस्वभावमय आत्मामे प्रतीति कर सकता है बस वही पुरुष कुशल है, वही पुरुष चतुर है । अपना स्वरूप पा लेना तो इस जीवमे सहज है । जो पदार्थ है वह स्वय अपने आप है, सत् है, स्वभावमात्र है । है ना । तो उसका स्वरूप भी है । जो है सो है, निरपेक्ष है । ऐसा ही मै हू । सहज हूँ, निरपेक्ष हू, स्वभावमात्र हू, ऐसी अपने आपकी प्रतीति हो तो सच्ची चतुराई तो इसीमे है । इसके लिए आज अवसर मिला है ।

दुर्लभ मानवजीवनमें निराकुलताका उपाय बना लेनेमे वास्तविक बुद्धिमानी—इस भवमे हमको कितनी सुविधायें मिली है ? देखो पहली सुविधा तो यह है कि हम मनुष्य हुए । जगतके अनेक जीवोपर दृष्टि डालकर निर्णय तो करें । ये गधे, सूअर, कुत्ते, बिल्ली, चूहे, ऐसी पर्यायोमे होते तो क्या हो नही सकते थे ? क्या हुए नही होगे ? ऐसी पर्यायमे हुए होते तो बताओ उस ही पर्यायके अनुरूप रहते ना ? आज यहाँ सुख-दुःख मान रहे है इसकी तो बुद्धि नही रहती ना ? तो आजकी यह बुद्धि कोई मेरी चीज नही । इससे मैं अगर अन्य भवोमे होता तो उन भवोमे क्या कर गुजरता ? चूहे होते तो बस खाना और छिपना—ये दो ही व्यापार है, ये दो ही कलायें है । खा रहे और जरा भी आहट आयी कि छिप गए । यों खाना और छिपना, इनके अतिरिक्त चूहेका क्या काम ? ऐसे ही सबकी बात सोचो । यदि हम आप कीडा पतिगा होते तो क्या व्यापार रहता, क्या कुछ बुद्धि रहती ? प्रकाश मिला तो उडने लगे दीपकपर कीडे पडने लगे । उनकी कुछ ऐसी ही वृत्ति है । जैसे यहाँ मनुष्योको कामादिक विषयोमे प्रवृत्ति होती है, उसकी ही धुन रहती है, ऐसे ही इन कीट-पतिगोको अग्निकी ज्वालापर गिरनेका ही विषय रहता है । तो कितने ही बार कीट-पतिगोंकी भांति

हम आप क्या नही मरे होगे । अरे अनेक ऐसे कुमरण हुए । तो जगतकी इन अनेक पर्यायोपर दृष्टि देकर देखे तो देखो अपनेको निराकुल रहनेके लिए कितनी शिक्षा मिलती है ? जहाँ जो रहे वही तृष्णा, वही उपयोग । तो हमको सुख-शान्ति मिल कैसे सकती ? देखो हम आप आज मनुष्य है तो कितना झंझटोसे दूर है ? एकेन्द्रिय होते, स्थावर होते, जगलोमे वृक्ष बनकर खड़े रहते तो क्या किसीसे बात कर सकते ? क्या किसीसे कुछ सम्पर्क बना सकते ? उनके अग कैसे ? अग है ही नही । विढगा, शाखा, प्रशाखा, पत्ते, डाली आदि, कैसी विडम्बना है इस शरीरकी ? कैसी विडबना है इस जीवकी ? क्या ऐसा हुए नही है ? तो यह ही सोच लो कि आज मैं मनुष्य न होता और होता कोई स्थावर कीट-पतिगा आदिक तो हमारे लिए क्या था ? अधकार था । और यहाँका कुछ भी वातावरण न था जो मनुष्यभवमे मिला है । कितना ही प्रतिबोध हो, कितनो ही समझ बने । समझाते-समझाते भी यह जीव अपने आपके सुबोधमे नही आ पाता, और बस वही कुबुद्धि, वही ममता, वही अहकार की वासना इस जीवके बनी रहती है । कितना कष्ट है इस जीवपर ? तो देखो पहली सुविधा कि हम आपने मनुष्यभव पाया है ।

श्रेष्ठ मन, सुविधा, सत्सग, आरोग्य जैसी दुर्लभ स्थिति पानेका सदुपयोग आत्मोद्धार मे प्रवर्तन—मनुष्य कहते किसे है ? जिसके मन श्रेष्ठ हो उसका नाम है मनुष्य। मनसे मनुष्य बना । मनुष्यके मनसे श्रेष्ठ किसीका मन नही होता । भले ही लोग कहते है कि देवोका मन भी बहुत श्रेष्ठ है, बडे-बडे धर्मप्रसग मिलते है, तीर्थंकरके समवशरणमे देव जाते है, ढाई द्वीपके अन्दर जहाँ तीर्थङ्कर हो, धर्मात्मा जन हो उनके पास पहुच जाते, क्षणभरका काम है । वहाँ धर्मका लाभ लेते हैं, इतना सब कुछ होनेपर भी देवोके मनमे सयम झेलनेकी शक्ति नही है, वे सयम नही पाल सकते, श्रुतकेवलीपन उनको प्राप्त नही होता, कैसा ही कितना ही मन हो । तो यह मनुष्य तो श्रेष्ठ मन वाला है, अब इस मनका उपयोग खोटे मार्गमे क्यो किया जाय, सन्मार्गमे क्यो न किया जाय ? पाया है नरभव, हुए है मनुष्य । तो एक यह सबसे बडी भारी सुविधा इस जीवको मिली है । अच्छे मनुष्य भी होते और बुद्धिहीन होते । जैसे अनेक छोटे लोग, बुद्धिहीन जन, भिक्षुकजन आदि ऐसे मनुष्य होकर कुछ लाभ ले पाते क्या ? तो देखो हम आपको कितनी बडी सुविधा प्राप्त हुई है इस मनुष्यभवमे कि मनुष्य है और तिस पर भी हम बुद्धिसम्पन्न है । बुद्धिसे हम बहुतसे निर्णय कर लेते है । तो ऐसा अवसर आज हम आपको प्राप्त हुआ है । इस सुविधासे हम लाभ तो ले, उत्तम देश मिला, जहाँ अहिंसा धर्म का प्रचार चलता है, उत्तम कुल मिला जिसके पुरखे धर्मवासनामे रत रहा करते थे और अधिक नही तो अपने पूर्वज माता-पिताके चरित्रको देख लो । लगते थे ना धर्ममे । सरल बुद्धि

ना ? जो धर्म-परम्परामे चल रहे थे और, और जो गुरुजन मिले है उनकी बात देख लो। एक विशुद्ध धर्मध्यानके लिए जिनकी उमग थी। पुराने पुरखे तीर्थंकर आदिकको देख लो। तो हम आपको कुल अच्छा मिला, सुविधा भी अच्छी मिली। कोई भूखों नही मर रहे है। कुछ न कुछ रोजिगार है, व्यापार है, जीवन ठीक ठीक चलता है, सुविधायें सब मिली है और सत्सग भी मिला है। ज्ञानी विरक्त साधु संतोका जव चाहे समागम भी मिलता है और ज्ञान भी विशेष है। जानते है, समझते है, युक्तियाँ लगाते है और ये हमारे सब कुछ है और फिर इतनेपर भी अगर रुग्ण रहे, चल फिर न सके तो भी तो एक असुविधाकी बात है। तो देखो आरोग्य भी मिला है। वैसे तो कोई भी मनुष्य पूर्ण निरोग नही है। शरीरमे जितने रोम है उतनेसे भी अधिक रोग हुआ करते है। कोई पुरुष निरोग नही है, फिर भी जिसमे जीवन चले, काम चले, पौरुष चले, बाधा न आये, ऐसा आरोग्य भी सबको मिला हुआ है। इतनी सब सुविधायें मिली है। इनको पाकर भी यदि हम आत्महितका वास्तविक काम नही करते है तो यह हमारी चतुराई नही, किन्तु मूर्खता है, मूढता है याने ऐसी व्यामोह बुद्धि छा गई है कि हम अपने आत्माका कल्याण नही कर सकते।

सुखकी विडम्बनाका भी मोह छोड़कर ज्ञानाराधनामे लगनेका कर्तव्य—सुखको न ललचावे। सुखमे भी विडम्बना है। दुःखसे भी न घबडावें। दुःख तो आत्मापर आता ही नही है। यह तो बाहरी घटनाओमे कल्पनाये बना बनाकर अपने पर दुःखका पहाड लाद लेता है। न तो सुख है, न दुःख है। मेरा तो एक सहज आत्मस्वरूप है। वही शरण है। उसकी ही उपासनामे समा जाय। बस ऐसा कर लिया तो सही है और न कर सके तो वही विडम्बना चलती रहेगी जो अनादिकालसे धारा प्रवाह चली आयी है। और जिसमे अब तक भी हम सतप्त रहे, विडम्बनामे रहे, जिससे इस जीवका भला नही है। यदि यह विडम्बना समाप्त करना है तो आत्माके धर्मस्वरूपको दृष्टि करे, धर्मपालन करें। धर्मपालन बिना अपना कोई शरण नही है। धर्म ही वास्तविक अपना सहाई है।

(१३)

मेरेमे मेरे निमित्तसे विकार होता नहीं, मात्र कर्मविपाकका प्रतिफलन चेत्य होता, अनिवारित चेत्यचेतक सम्बन्धपर मेरा क्या वश, मेरी क्या करतूत ? मै तो नोकर्मका आश्रय न कर कर्मविपाकका सम्पर्क तजकर सहज प्रसन्न रहूगा।

परसंगप्रसंगमें हुई मलीमसताका समीक्षण—हम सब अपने आपके आत्माके अन्दर क्या होता है, इस पर कुछ चिन्तन करे, परख करे। मेरे आत्मामे दो प्रकारकी परिणतियाँ ही हो सकती है—एक तो मलीमसता की परिणति और दूसरी प्रसन्नताको परिणति। कभी

हम मलिन होते है और कभी हम प्रसन्न होते है। जब जब मलिन है तब तब हम अप्रसन्न है, दुःखी है और जब मलिनता नही है तो हम प्रसन्न है, शान्त हैं। तो वह प्रसन्नता कैसे मिले, यह समझनेके लिए पहले यह समझे कि यह मलीनता मुझमे कैसे होती है ? अपने स्वरूपको निरखो तो यह एक चेतनामात्र है। ऐसा अमूर्त पदार्थ कि जो चेतना रससे भरपूर है, जैसे आकाश है अमूर्त है और वह अवगाहनमे हेतु होता है। एक अजीव पदार्थ है। तो जैसे अमूर्त भी कोई पदार्थ होता है, अमूर्तपना होकर भी अस्तित्व होता है, ऐसे ही जैसे धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्य है उसी प्रकार अमूर्त यह आत्मद्रव्य है। इसमे चैतन्यरससे भरपूरता है। ऐसा एक विलक्षण पदार्थ जो निरन्तर चेतते रहनेका काम करता है उस पदार्थमे यह विकार मलीनता आयी कैसे है ? तो एक साधारण नियम है कि किसी भी पदार्थमे मलिनता विषमता आयी तो उस विषमतामे यह खुद निमित्त नही हो पाता। कोई भी पदार्थ खुदकी मलीनतामे खुद निमित्त नही हुआ करता। यदि खुदके विकारमे खुद ही निमित्त हो तब तो लुटिया डूब गई। कभी विकार हट ही नही सकता। फिर तो मोक्षमार्गकी चर्चा ही क्या की जायगी ? मुक्ति कभी सम्भव ही नही, चेतन हो, अचेतन हो, कोई भी पदार्थ उसमे यदि विकार होता है तो वहाँ परसग ही निमित्त है, स्वय निमित्त नही है। इस बातको बडे-बडे अध्यात्मशास्त्री श्री आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र सूरि, जिनसेनाचार्य आदि सब एक स्वरसे बतला रहे है कि किसी भी पदार्थमे विकार होता तो उसमे खुद निमित्त नही, किन्तु परसग ही निमित्त है।

परसंगमे ही उपादानमे विकारकी संभवता—अब यहाँ कोई यह देखे कि जिसमे विकार हुआ है तो है तो उसका ही परिणमन। उसमे यदि विकाररूप परिणमनेकी योग्यता न हो तो कैसे विकार हो जाय ? यह भी एक तथ्य है, पर इसका कोई ऐसा एकान्त करले कि जितने विकार होते है उसमे कारण केवल अपनी योग्यता ही है। परनिमित्तका सगरूप कारण कुछ नही है। तो यह बतागे कोई कि सदा ही योग्यता क्यो नही निभती ? यदि मात्र अपनी योग्यतासे ही विकार हुआ, हुआ योग्यतासे ही, मगर मात्रका अर्थ है कि परनिमित्त सन्निधानकी कुछ बात ही नही है। वह आवश्यक ही नही। हो तो क्या, न हो तो क्या ? और यदि मात्र योग्यतासे ही विकार बने तो यह योग्यता सदा क्यो न चले ? सदा क्यो नही विकार होते ? तो योग्यतामे भी तो यह प्रश्न होता कि योग्यता सदा क्यो नही ऐसे विकार की रहती ? कोई कहे—वाह ऐसी ही योग्यता है तब तो यह कोरा एक हठवाद है। कार्य-कारणको जिस प्रकार आगममे कहा, दार्शनिक शास्त्र कहते है उन युक्तियोसे सोचना तो पडेगा। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि निमित्तसन्निधानमे विकार हुआ तब भी विकार निमित्त

की परिणतिसे नही हुआ । जिसमे विकार हुआ उसकी परिणतिसे ही हुआ । पर खुद खुदके विकारमे निमित्त नही हो सकता । तो मेरेमे जो विकार जगा वह मेरे निमित्तसे नही जगा । है मेरेमे वह झलक पर उस झलकका मात्र मै ही कारण हू, निमित्त हू, दूसरा कोई निमित्त नही, यदि ऐसा होवे तो यह ही प्रसग आयगा कि सदा विकार हो, सदा योग्यता रहे ऐसी । परन्तु विकार मेरे निमित्तसे नही होता । उसमे निमित्त क्या है ? पूर्वमें बांधे हुए कर्मका विपाक ।

निमित्तनैमित्तिक भावकी वस्तुस्वातन्त्र्य होनेपर ही संभवता—यही देख लो—लालटेन जल रही, और इतने पदार्थ प्रकाशित हो रहे तो पदार्थ जो प्रकाशित हो रहे है तो वे खुद अपनी अन्धकार-अवस्थाको तजकर अपनी ही प्रकाशपर्यायसे प्रकाशित हो रहे है कि लो यह भी तो प्रत्यक्ष है । युक्तिजन्य है कि प्रकाशक दीपकका सन्निधान न हो तो यह निश्चित नही होता । अनेक बार देख लो—युक्तिसे । अब एक द्रव्यकी दृष्टि रखकर यही बात कहे कि जब प्रकाश होना होता तब प्रकाशित होते, जब नही होना होता तो नही होते । तो ऐसी केवल एकान्तत एक उपादानकी दृष्टिसे ही कथन करें तो वह आगमसम्मत तो न हो जायगा । यह नैमित्तिक भाव है, यह औपाधिक भाव है, अन्यथा जगतकी व्यवस्था नही रह सकती और फिर देखो निमित्तनैमित्तिक भावका रोज तो सदुपयोग करते ही है, नही तो भूखे बैठे रहते । जिस-जिस विधिसे जो बात बनती वह उसी विधिसे बनती । रोज चूल्हा जलता, सिगडी जलती, रोटी सिकती, सारा सामान बनता, यह बात तो आप रोज-रोज करते, पर तथ्यकी बात है तो दोनो । पदार्थमे अपनी परिणतिसे, अपनी योग्यतासे विकार बना यह भी तथ्य है और परसगका निमित्त पाकर बना, यह भी तथ्य है । अब दोनो तथ्योमे से एक ही तथ्यका कोई एकान्त करे तो 'उससे कोई ठीक राह नही मिलती । जैसे कोई एकान्त करता कि वस्तुकी योग्यतासे ही विकार जगते है और कोई ऐसा एकान्त करे कि ये निमित्तसे ही विकार जगते है तो दोनोका अपलाप मिथ्या है । वहाँ यह समझना चाहिए कि अनुकूल निमित्तके सन्निधानमे पदार्थ अपनी योग्यतासे विकाररूप परिणम गया है । तो यहाँ प्रकृत मे यह बात समझनी है कि मेरेमे जो कषाये जगी, विकार जगा, उसमे निमित्त मै नही । यह तो कर्मविपाकका निमित्त पाकर हुआ ।

कर्मविपाकका सन्निधान होनेपर उपयोगमें उसके प्रतिफलनकी अनिवारितता—अब यहाँ ही समझनी है बहुत कुछ बात । पूर्वबद्ध कर्म जब उदयागत हुए तो उनमे उनके विपाककालमे और चूकि यह आत्मा बंधनमे पडा हुआ है तो कर्मविपाक याने कर्मका अनुभाग जो खिला सो इसके उपयोगभूमिमे उसकी झाकी अवश्य हुई, यहाँ तक बुद्धिपूर्वक कुछ काम नही

होता । उपयोग जुडनेको बात नही है यहाँ तक । जैसे अजीव अजीवमे निमित्त नही है, इसी ढग का कर्मविपाक और कर्मविपाकका प्रतिफलन इसमे ऐसा ही निमित्तयोग है । उपयोग जुडनेकी बात यहाँ नही है । अब देखिये उस कर्मविपाकके प्रतिफलन होते ही ज्ञानका तिरस्कार हुआ और भीतरमे यह जीव भड़का या इस जीवमे एक प्रकारकी भडभडाहट (घबडाहट) हुई या कुछ विलक्षण काम करनेका उद्यम बनता है तो यहाँ जब कर्मविपाकका प्रतिफलन हुआ और उससे ज्ञानस्वभावमे तिरस्कार हुआ तो इसमे भडभडाहट हुई और उस समय इसको वही सूझा । ये ससारके जो नोकर्म है, आश्रयभूत पदार्थ है, उपचरित निमित्त हैं, इनमे उपयोग जोडूँ, उससे मेरेको शान्ति मिलेगी । ऐसी इसमे एक परिणति हुई, तो इन बाह्य पदार्थोमे उपयोग जोडा, उपयोग जोडा तो बुद्धिपूर्वक काम हुआ और उपयोग न जोडे तो वहाँ कर्मविपाकका प्रतिफलन तो अनिवारित है और चेत्यचेतक सम्बन्ध होनेसे इतनी बात झलकी होती ही है, पर प्रतिफलन मात्र ही रहे तो इससे मेरेको सकट नही होता । वह अव्यक्त विकार रहा । सकट तो व्यक्त विकारमे पडा है । हालाकि अव्यक्त विकारमे मलिनता है और वही तो सबकी जड है, लेकिन जो फूटा, जिसे कहते है बम फूटा, कोई आपत्ति आ गई तो वह हुई है बुद्धिपूर्वक उपयोगके करनेमे इस आश्रयभून निमित्तमे उपयोगको जोडनेसे । यहाँ ये दो बाते समझ लीजिए कि कर्मोदय आया और उसका प्रतिफलन आत्मामे हुआ । यहाँ तक तो कोई वशकी बात है नही । होता ही है ऐसा, दो द्रव्योका ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है, पर इसके आगे जो हम तिरस्कृत होकर, भडभडाकर बाहरी पदार्थोमे उपयोग जोडते है बस यहाँसे हमारी करतूत अपने आपका विघात करने वाली बन जाती है । तब हमे क्या करना ? यह करना है कि इस कर्म विपाकमे प्रतिफलनका जो नोकर्म है ये संसारके समस्त बाहरी उपचरित निमित्त है, इनमे मै उपयोग न जोडूँ ।

आत्मकल्याणार्थीका लौकिक जनोसे निरालापन—देखो जिसको आत्मकल्याण चाहिए उसे तो जगसे निराला बनना पडता है । उसकी वृत्ति तो लोकसे विपरीत होगी । लौकिक जनोका तो इन बाहरी समागमोकी ओर आकर्षण रहता है तो आत्मकल्याणार्थी इन सबकी उपेक्षा करके निज सहजस्वभावकी ओर अभिमुख रहनेका प्रयत्न करता है । ज्ञानीकी वृत्ति विपरीत होती है । अज्ञानी पुरुष तो व्यवहारमे जगता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष व्यवहारमे सुप्त रहता है । अज्ञानी पुरुष तो परमार्थमे सोता रहता है, परमार्थकी सुध नही रहती है और यह ज्ञानी पुरुष व्यवहारमे सोता रहता है । ज्ञानीकी जगतके प्राणियोसे विपरीत वृत्ति होती है । ज्ञानीकी आन्तरिक विलक्षणता इतनी उमड उठी कि इसकी बाह्य क्रियावोमे भी विलक्षणता हो जाती है । मुनिराजका यही तो एक अध्यात्मसाधनाका मुद्रित रूप है । लोग तो

बैठकर भोजन करते, और मुनिराज खड़े-खडे । आप देख लो—मुनियोकी गृहस्थ जनोसे कैसी उल्टी वृत्ति है ? अब कोई यह न सोचे कि आजकलके लोग तो खडे-खडे जूते पहने ही खाने लगे तो ऐसी तर्कणामे मत जावो । एक साधारणतया बात कहते है, और इस तर्कणामे भी जावो तो उनके उद्देश्यमे तो बड़ा फर्क है । जो आजकलके लोग खड़े होकर बड़े मौजसे खाते है तो यह तो उनकी तफरी है और जो मुनि महाराज खडे होकर भोजन करते तो उसका उद्देश्य क्या है ? एक तो उनको इतनी फुरसत नही है अपनी आत्मक्रीडासे अलग कि वे मौजसे बैठकर अधिक समय लगाकर खायें । दूसरी बात—एक आसनसे खडे होकर भोजन खानेमे भरपेट भोजन नही होता । और उनका ऐसा ही ख्याल है कि भरपेट भोजन करना, यह भली बात नही है । प्रमाद आये, रोग जगे और व्यर्थका विकार बने । अलौकिक वृत्तिकी बात कह रहे है । लौकिक जन तो लोगोसे, सयमी जनोसे सम्भाषण कर-करके अपना दिल ही बहलाते है, पर मुनिजन असयमी जनोसे सम्भाषण नही करते । किसी प्रकारका कुछ भी तो सयम हो और प्रयोजनवश ही कभी असंयमी जनोसे बात करते है, अलौकिकी वृत्ति है ज्ञानकी दृष्टिमे । देखो तो अज्ञानीकी और ज्ञानियोकी अलौकिकी वृत्ति है । अज्ञानी तो विषय-साधनामे आसक्त रहते है और ज्ञानी जन इन साधनोसे अतीत विरक्त रहते है । अज्ञानीका स्वभावदर्शनमे मन ही नही होता, और ज्ञानी जन इस स्वभावदृष्टिको छोडना पसद नही करते । अब ज्ञानीकी, अज्ञानीकी बिल्कुल विलक्षण वृत्ति होती है ।

कर्मविपाकके नोकर्ममें उपयोग न जोड़नेकी महिमा—हाँ तो यह ज्ञानी पुरुष सोच रहा है कि कर्मविपाक हुआ, उसका प्रतिफलन हुआ, यहाँ तक तो मेरा कुछ वश नही, यह तो एक अनिवारित निमित्तनैमित्तिक योग है । जैसे अग्निपर पत्ता गिरे तो वह जलता है, यह एक अनिवारित योग है । दर्पणके आगे कोई चीज आयी, प्रतिबिम्ब हुआ । तो जैसे लोकमे यह बात देखी जाती है, इसी प्रकार यहाँ यह बात बनी कि कर्मविपाक हुआ और उसका प्रतिफलन हुआ । चेत्यचेतक सम्बन्ध है ही, किन्तु इसके आगे कोई बढ़े याने उस कर्मविपाकके नोकर्ममे जगतके इन बाहरी पदार्थोमे अपना दिल जोडे, उपयोग जोडे तो इसको विकार जगता है । तो ज्ञानीका सकल्प है कि मै इन उपचरित निमित्तोमे उपयोग न जोडूगा और जब उपयोग न जोडूँगा तो होगा क्या कि कर्मविपाकका जो प्रतिबिम्ब है, माया, छाया प्रतिफलन है उसका सम्पर्क छूट जायगा तब मै अपने आप प्रसन्न होऊँगा । प्रसन्नताका अर्थ है निर्मलता । जैसे किसीसे पूछा जाय—कहो भाई प्रसन्नता तो है ना ? तो कहते है कि खूब प्रसन्नता है, खूब मौज है, खूब आनन्द है, खूब खाने-पीनेका साधन है, बडा ठाट-बाट है । अरे प्रश्नकर्ताने तो यह पूछा है कि आपमे प्रसन्नता याने निर्मलता है कि नही ? लेकिन यह

उत्तर देता है मलिनताका। तो बस फर्क यही डालना है कि हम अपने सहज ज्ञानस्वरूपको निरखकर यहाँ ही प्रसन्न रहे और बाहरी पदार्थ इस उपचरित निमित्तमे अपना उपयोग न जोडे, इसमे हम आपका कल्याण है।

(१४)

मेरा प्रयोजन, लक्ष्य, उद्देश्य एक ही है—ज्ञानका ज्ञानरूपसे ही परिणमन होओ, अब कही भी विसम्वाद नही, मुझको तो सर्व घटनाओमे यही यही प्रयोजन दिखता है, बस मेरा कर्तव्य तो ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमना ही है, अन्य कुछ नही।

ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमन होते रहना ही ज्ञानीका प्रयोजन—यहाँ इतनी बात तो समझनी होगी कि मै रह रहा हू, मैं हू तो मेरा प्रयोजन क्या होना चाहिए ? मेरा प्रयोजन, मेरा लक्ष्य, मेरा उद्‌देश्य, मेरा प्रोग्राम, मेरेको करना क्या है, ऐसा लक्ष्य हमारा क्या हो कि मेरा ज्ञान मात्र ज्ञानरूपसे परिणमे। मेरे ज्ञानमे अटपट अनेक कल्पनायें न जगें। ये कल्पनाये जो लावारिस है, ये उठ उठकर इस जीवको परेशान करती है, घोटती रहती है, तो मेरा लक्ष्य होना चाहिए यह कि मेरे ज्ञानका बस ज्ञानरूपसे ही परिणमन हो, ऐसा जब एक सकल्प हो जाय और अपना एक दृढ निश्चय हो जाय तब फिर अपनेको कही विसम्वाद न जचेगा। बाहरमे जो होता है सो हो। मेरेको तो मेरेमे खुश करना है, बाहरमे कुछ करनेको नही पडा। अब इस ज्ञानीके लिए कही भी विसम्वाद नही है, सर्वदशाओमे, सर्व क्षेत्रमे, सर्व घटनाओमे केवल एक यही प्रोग्राम, यही लक्ष्य रहता है कि मेरा तो ज्ञानका ज्ञानरूपसे ही परिणमन हो, यही यही निरन्तर प्रयोजन इस ज्ञानी पुरुषमे विदित होता है। अज्ञानका अंधेरा एक इतनी बडी विडम्बना है कि उसमे यह जीव विडम्बित होता है, मायने पागलसा रहता है। पर्यायमे यह कुछ चाहे तो वहाँ अटपट और विभिन्न अनेक बातें बनती है, बस यही तो पागलपन है और एक अपने द्रव्यस्वरूपको देखे, स्वभावको परखें तो वहा केवल एक ही निर्णय है कि यह मै हू और ऐसे भावसे रहना मेरा काम है। एक निर्णय रहे, वहाँ किसी प्रकारकी विडम्बना नही है। तो अपना प्रयोजन यही मात्र हो कि मेरेको तो केवल बस यही चाहिए कि मेरा ज्ञान स्वच्छ रहे। ज्ञान केवल ज्ञाता दृष्टा रहनेका ही परिणमन करे। इसके आगे मुझे कुछ न चाहिए।

एक निज लक्ष्यकी उपयोगिता—भैया ! एक बात चाहो तो सर्वसिद्धि होगी, अनेक बातें चाहो तो उनमे एक भी न मिलेगी। एक कथानक है ऐसा कि एक मनुष्यको देवता सिद्ध हो गया तो प्रसन्न होकर उस देवताने कहा कि तुम जो चाहो एक चीज माग लो। तो उस पुरुषने कहा—अच्छा कल मांगेगे। वह अपने घर पहुचा और स्त्रीसे कहा कि हमे देवता

सिद्ध हो गया है, बोलो क्या माँग ले ? तो स्त्रीने कहा—एक बेटा मांग लेना, उसके कोई बेटा न था। मांसे पूछा क्या मागे तो माने कहा हमारी आँखें मांग लेना, क्योंकि वह स्वयं अंधी थी। पितासे पूछा क्या माग ले ? तो पिताने कहा धन माग लेना, क्योंकि उसे धन बहुत प्यारा था। देखिये—पिताको धन ही धन सब कुछ दिखता है। आजकल शादी विवाहमे जो दहेजका इतना विस्तार बढा है वह पिताके कारण बढा है। लडकेकी दृष्टि धनपर नहीं होती। तो वह पुरुष सोचने लगा कि मै क्या मागू ? आखिर सोचते-सोचते उसे एक बात ठीक सूझ गई। जब देवताने कहा—मागो, तो वह पुरुष बोला कि अच्छा मै तुमसे यह मांगता हू कि मेरी मा अपने पोतेको सोनेके कटोरेमे दूध पीता हुआ देख ले। लो इस एक ही बातमे सभी चीजे आ गईं। खैर, यह तो लौकिक बात है। वास्तविकता यह है कि केवल एक लक्ष्य हो तो अपने आपको सहज चैतन्य स्वभावरूप प्रतीतिमे रखना—मै यह हूं। सारे संकट मिट जायेंगे, कर्मका प्रक्षय होगा, रत्नत्रयका विकास होगा। जो बातें भलेके लिए चाहिएँ वे सब अपने इस श्रद्धाकी दृढतापर होने लगेंगी। तो जीवनमे एक ही प्रोग्राम रहना चाहिए।

बाह्य परिस्थितियोंकी भी उपेक्षा करके ज्ञानकी विशुद्ध वृत्तिके लक्ष्यमें रहनेका अनुरोध—यद्यपि गृहस्थके गृहस्थी है, परिस्थिति है, कुछ सोचना तो पडता है, कुछ करना पडता है, मगर भीतरी प्रोग्राम केवल एक रहे, बस मुझको तो मुक्त होना है। "मुझे न है पर का पतियारा, मुक्तीका प्रोग्राम हमारा।" एक ही बात। मेरा तो प्रोग्राम मोक्ष जानेका है। मनमे यह बात बसी हो कि मेरा प्रोग्राम तो मोक्ष जानेका है तो उससे फिर विसम्वादकी वृत्तियां न जगेंगी। तो लक्ष्य शुद्ध करना एक यह बहुत बडा काम है। जिसका लक्ष्य शुद्ध नही है, वह कितनी ही चेष्टायें करके भी अपने हितको नही प्राप्त कर पाता। लक्ष्यविहीन पुरुष इस तरहसे अपनी नाव खेता है कि जैसे कोई नाविक रातको नाव तो खेवे, पर यह ध्यानमे न रखे कि हमे किस ओर जाना है तो बस थोडा इस दिशाको खेया, थोडा दूसरी दिशाको खेया, यो चारो दिशाओमे नाव भटकती रही, किसी भी किनारे न पहुच सकी, नाव मझधारमे ही पडी रही। ऐसे ही हमे बनना क्या है, चाहना क्या है, रहना किस तरह है, अपने आपमे ज्ञानको किस तरह बर्ताना है ? यह जब निर्णय ही नही कर पाया तो फल क्या होता है कि इस विषयसाधनामे भटक-भटककर कल्पना, सुख और दुःख इनमे ही भटकता रहता है और ऐसी ही विडम्बनामे अपना यह जीवन गंवा देता है। तो अपना प्रयोजन शुद्ध बनाये। यह ही काम है इस जिन्दगीमे करनेके लिए कि मेरा ज्ञान शुद्ध ज्ञानरूपसे परिणमन किया करे। हममे रागद्वेष, लालच, ईर्ष्या, कषाय—ये न आयें और मै अपनी शुद्धवर्तना मे ही रहू, जाननहार ही रहू तो इसमें ही मेरा हित है और ऐसा ही मै करूँगा, ऐसा दृढ

सकल्प हो । मैं इन नोकर्मोमें, उपचरित निमित्तोमें उपयोग न जोड़ूगा और इस कर्मविपाकके प्रतिफलनको मै व्यर्थ बनाकर अपने आपमे प्रसन्न होकर मोक्षमार्गमे ही रहूगा ।

(१५)

दृष्टिमे तो आ ही गया कि मुझे इस अन्तःस्वरूपमे ही रहना है, रह नही पाता, यह कर्मलीलाका विलास है, होओ, घबडानेकी बात नही । दृष्टि और कर्मलीला—इन दोके सग्राम मे आखिर दृष्टिकी ही विजय होगी ।

ज्ञानीका स्वरूप मग्न होनेके कर्तव्यका दृढ़ निर्णय—सबको यह बात इष्ट है कि मेरे को शान्ति सुख प्राप्त हो और जितने भी उद्यम किए जाते है, वे इसी प्रयोजनसे किए जाते है कि मेरेको शान्ति मिले । लेकिन यह बात निश्चित है कि हम यदि अपने आधारको, स्वरूपको न देखकर किसी भी बाह्यपदार्थमे कुछ तर्कणा करें, विकल्प करे तो वहाँ शान्ति नही मिलती और समग्र नोकर्मके उपयोग छोडकर अपने एक अन्तःस्वरूपमे विश्राम करे तो शान्ति मिलती है । यह बात ध्रुव सत्य है । जो इस उपायको कर लेगा उसका यह जीवन सफल है । और जो अपने इस उपायको न करे, मात्र केवल बाहरी बातोमे, विकल्पमे ही अपना उपयोग भटकायगा उसको शान्ति भी नही और अगला भव भी उत्तम न मिल पायगा । तो जरा अपने आपपर दया करके अपने हितकी बात विचारिये । अपनेको सुनानेकी बात कही जा रही है । अपनी दया किसमे है ? इस वक्त भी शान्ति मिले, इस भवसे मोक्ष तो होता नही, क्योकि सहननहीन है, उस प्रकार इतना बडा व्रत, तप, सयम बन नही पाता, तो अगला भव तो मिलेगा कोई । वह भव उत्तम मिले जिससे धर्मका वातावरण मिले और अगले भवमे धर्मका वातावरण पाकर अपने स्वरूपकी आराधना दृढ बना लूं । यह एक मनमे बात होनी चाहिए । दूसरी बातको मनमे स्थान न दे । हाँ तो जब यह निर्णय करने चलें कि मेरेको अपने स्वरूप मे रहनेका ही काम उत्तम है । और इसके लिए भेदविज्ञान वस्तुस्वरूपका खूब मनन कर कर इस बातके निर्णयमे आ गए है और यह बात दृष्टिमे भी आ गई है कि एक आध बार अनुभव भी बनता है कि मेरा कल्याण तो मेरे अन्त.स्वरूपमे रहनेका ही है । तो इस निर्णयके बाद फिर दूसरी बात चित्तमे नही आया करती कि मेरेको लोकमे कुछ और भी काम करना है । बस काम है तो एक ही—मेरेको अपने स्वरूपमे गुप्त होना है ।

स्वरूपदृष्टिके बलसे स्वरूपमग्नताबाधक कर्मलीलाविलासके समापनकी संभवता—अपनेको अपने स्वरूपमे लीन होना है, ऐसा निर्णय करने पर भी यह जीव अपने स्वरूपमे लीन नही हो पाता । अपने अत.स्वरूपमे न उपयुक्त रह सके, इसका कारण क्या है ? यह एक कर्मलीलाका विलास है । कौन ज्ञानी नही चाहता कि मैं एकदम तुरत अपने स्वरूपमे लीन

रहकर शान्त रहू, ऐसा प्रत्येक ज्ञानी चाहता है किन्तु जहां तक ज्ञानीके प्रमाद है चौथे, ५वें, छठवें गुणस्थानमे वहां यह जीव कहां रह पाता स्वरूपमे ? झाकी होती है, तभी स्वानुभव भी होता है, मगर कितनी देरके लिए ? क्षण भरके लिए। यह अपने स्वरूपमे तो नही रह पाता, तो इसमे कारण क्या ? भले हो यह कहा जायगा कि अपनी कमजोरी कारण है, पर ऐसी कमजोरी क्या मेरे स्वरूपकी बात है ? नही है। तो कमजोरी ऐसी क्यो आयी ? तो आखिर उत्तर देना होगा कि यह सब कर्मलीलाका विलास है। पहले बांधे हुए कर्म उदय में आये, उदयागत कर्ममें जो अनुभाग खिला उसका प्रतिफलन हुआ और चूकि अभी सामर्थ्य नही जगी, विकास नही जगा तो इसमे विकार बन रहे है, ऐसा यह कर्मलीलाका विलास है, जिसका निमित्त पाकर यह मैं जानकर भी अपने अन्तःस्वरूपमें मग्न नही हो पाता। फिर भी ज्ञानबल तो मिल गया। सहजस्वरूपमे दृष्टि दें, उमग जगावें, उस ओर ही सुध करें। कर्मलीलाविलास दूर हो जायगा। निर्णय रखें मेरेको जगतमे कोई दूसरा काम नही पडा करनेका।

अपनेपर अपना उत्तरदायित्वकी सम्हालका कर्तव्य—देखो अपनी जिम्मेदारी अपने आत्मापर ही है। किसीका कोई दूसरा जिम्मेदार नही। दूसरे लोग जिसको हम अपना मित्र समझते, बन्धु समझते वे लोग तो एक [illegible]के बढानेमे और कषायपर चढानेमें ही उद्यम किया करते है। वीतराग भावमे लगानेका उद्यम करने करानेमे कोई निमित्त है तो देव, शास्त्र, गुरु। देव, शास्त्र, गुरुको छोडकर अन्य जितने भी लौकिक समागम है वे समागम इस आत्माके कल्याणरूप नही है। हां तो ज्ञानीने जाना, अनुभव भी किया कि निज सहज आनदस्वरूपमे अपने ज्ञानको जुटा देना, यह ही एक शान्तिका मार्ग है, पर यह मार्ग जानकर भी इस मार्गपर चल नही पा रहा और भीतर ही भीतर एक अपनी इस निर्बलतापर घबडा रहा है। क्या इसी प्रकार ससारमे रुलता चलेगा या इसी प्रकार इन उपचरित निमित्तोमे उपयोग को भटकाते रहना पडेगा। ज्ञानीको घबडाहट है तो यही है। यह है एक मीठी घबडाहट आत्मकल्याणके लिए। सो जरा पुन ज्ञानबलका प्रयोग करो और सोच लो घबडाहटकी बात नही है। अपना उपयोग अपने सहज अतःस्वरूपमे लें तो इसमे ही कल्याण है। नही हो पा रहा आज यह परमकर्तव्य, तो घबडाओ मत, क्योकि दृष्टि इसको प्राप्त हो रही। आत्माके स्वरूपकी दृष्टि इसको मिल गई है। अब घ[illegible]हटकी बात नही है, क्योकि अब तो दो का ही संघर्ष चल रहा है ना ? दृष्टि और कर्मलीलाका। पहले बांधे हुए कर्म उदयमे आते है, उनका अनुभाग खिलता है, ज्ञानका तिरस्कार होता है और यह अविकार स्वरूपसे हटकर उपचरित निमित्तमे लगता है, ऐसा सब कुछ होनेपर भी अगर दृष्टिका बल मिल गया है, निज सहजस्वरूपकी उपासनाका बल प्रकट हो गया है तो विजय इस दृष्टिकी ही होगी आखिर, क्योकि

दृष्टि है अपने कुल, वंशके अनुरूप और यह विभाव है, कर्मविपाक है, विकार है, यह मेरे कुल के विरुद्ध बात, अन्य बात है। अन्य बातें सबल नही होती। अपने ही अपनेमे रहने वाला सामर्थ्य सबल हुआ करता है।

स्वरूपदृष्टि द्वारा आत्मविजय पानेका संदेश--दृष्टि और कर्मलीला—इन दो का सग्राम चल रहा है ज्ञानीके। और अज्ञानी जीवके यह सग्राम है ही नही। वहाँ तो कर्मलीला का ही साम्राज्य है। उसके शुद्ध दृष्टि जगी ही नही तो वह तो अत्यत विडम्बनामे ही पडा हुआ है, लेकिन जिसने अपनी स्वतत्रता निरखी ऐसा ज्ञानी जीव अपने ज्ञानकी आराधनामे लगता है और पहले बाँधे हुए कर्म कर्मोदयमे आते है तो उनकी लीलाका विलास भी चलता है। तब यहाँ द्वन्द्व मच गया आत्मदृष्टिमे और कर्मलीलामे, सो भले ही चल रहा द्वन्द्व, लेकिन जिसने आत्मस्वरूपकी सम्हाल की, तब वह द्वन्द्व भी निर्बल हो जाता है और कभी निकट कालमे ही यह सब कर्मलीला समाप्त हो जायगी। इससे धैर्य धरो, विश्वास रखो, मेरेको निज सहजस्वरूपके अनुभव करने वाली दृष्टि मिली है तो विजय इस दृष्टिमे ही होगी। और दृष्टिकी विजयके मायने क्या है कि ससारके समस्त सकटोसे छुटकारा मिल जायगा। इसके लिए मनन करें कि मै शुद्ध ज्ञानमात्र हू, मेरा निज स्वरूप ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञानमे किसी अन्य के स्वरूपका प्रवेश नही है। बस यह ही ज्ञान ज्ञानमात्र रह जाय, इसीके मायने हैं आत्म-विजय। दृष्टिको सम्हाले और अपने आत्मापर विजय प्राप्त करें और ऐसा पवित्र काम करते हुए इस दुर्लभ मानवजीवनको सफल बनावे।

(१६)

नोकर्ममे उपयोग जुडनेके माध्यमसे ही कर्मफल व्यक्त होता है, अतः नोकर्मके संपर्क से अलग रहना भी एक पुरुषार्थ है, नोकर्ममे उपयोग न जुडे तो कर्म प्रतिफलित मात्र होकर निकल जायगा।

निज सत्य सहजभावके आग्रहसे कर्मपाशका विनाश--अब तकके कुछ ज्ञानपरिचयसे यह समझें कि इस जीवका किसी अज्ञात तत्त्वपर वश नही चलता, उसको करे क्या? जैसे कर्मोदय हुआ है, आत्मामे उसकी झाँकी पडी है, इसे कौन मिटाने आयगा? वह तो निमित्त-नैमित्तिक भाव है अनिवारित, किन्तु उस कालमे हम अपने ज्ञानस्वरूपमे न टिककर जगतके इन बाह्य पदार्थोंमे उपयोग लगाते है, इससे कठिन क्लेश पाते है। तो यहाँ हमारा वश चल सकता है कि मै उन बाह्य पदार्थोंको प्रकट असार मानकर इसमे मैं अपना उपयोग न लगाऊँ, यह बात मै कर सकता हू। यह बात आप कर सकते है ज्ञानबलपर, सम्यग्ज्ञानके बलपर, वस्तुस्वरूपके निर्णयके बलपर। जगतमे जो भी सत् होता है वह अपनेमे पूर्ण स्वतत्र है।

विकार भी होते तो उसमे अपनी कलासे विकार बना । उपादानमे कला है ऐसी कि वह अनुकूल निमित्तका सन्निधान पाकर अपनेमे अपने स्वभावका तिरोभाव कर विभावका आविर्भाव कर लेता है, देखते जावो । सर्व पदार्थ स्वयं अपने उत्पादव्ययध्रौव्यसे युक्त है । उन पदार्थोंमें हम क्या कर सकते है ? एक विकल्प बनाते है, विचार बनाते है । विकल्प और विचार बनाकर हम अपना ही विघात करते है । कर्तव्य तो यह है कि मेरेमे एक भी विकल्प मत जगे । देखो सबमे हठ लगी है और सब अपनी-अपनी हठको पसद करते है । यह तो बडी अच्छी बात है । हम अपना कल्याण तो सोचे कि कहाँ है ? उसपर हम अपनी हठ कर ले । सदाकालके लिए झझट खत्म हो जाये । मेरा कल्याण है सर्वविकल्पको मिटाकर एक निज सहज चैतन्यस्वभावमे 'यह मै हू,' ऐसी हठ करके रह जाय, आग्रह करके रह जाय, इस पर ही डट कर रह जाय, मै तो एक शुद्ध चैतन्य प्रतिभासमात्र हू ।

सहज सत्याग्रहीका चिह्न संसारशरीरभोगनिर्विण्णता— हमने निज चित्स्वरूपकी हठ कर ली, हम कैसे मानें, इसकी निशानी क्या है ? उसकी निशानी है कि फिर जगतके इन वैभवोमे आशा तृष्णा न जगे, किसी भी प्राणीसे रागद्वेष इष्ट अनिष्टकी बुद्धि न जगे । हित मिलेगा तो इस समताभावसे मिलेगा । कषायमे हित न मिलेगा । तो देखो जो कषाय व्यक्त होती है वह कैसे व्यक्त होती है ? पूर्वबद्ध कर्मका यदि उदय आया और उस कालमे इस जीवने जगत्के इन बाह्यपदार्थोमे अपना उपयोग फंसाया, तकलीफ होने लगी, यदि सक्लेशसे, कष्टसे, विपत्तिसे बचना चाहते हो तो यह कर्तव्य है कि नोकर्ममे अपना उपयोग मत फसावें, ज्ञाताद्रष्टा रहे । यह सब अपनी परिणतिसे है, मेरेसे जुदा है । इसमे विकल्प लगाये तो उसमे मेरा हित नही है । इससे हटकर अपने सहजस्वरूपको मै हू, ऐसा मानू तो उसमे हित है । क्योकि सहजस्वरूपकी प्रतीतिसे अहित सब दूर हो जाता । अहित क्या-क्या है ? राग करना, द्वेष करना, अज्ञान छा जाना, विभिन्न कषायें बनना यह ही तो आत्माका अहित है । अहित निकल गया तो वहाँ अपनी आत्मदृष्टि है, उसमे आत्महित है । क्या करना ? बस सीधी बात है । कमसे कम इतना तो समझ लें कि मेरा मेरेसे बाहर कुछ नही है । इतना तो प्रयोग कर ले कि मुझको बाहरके किसी भी पदार्थसे लगाव नही रखना है । इतना तो ध्यान बना लें कि मुझको सारे विकल्पोसे हटकर एक निज चैतन्यस्वभावमे मग्न होना है । जिन-जिन जीवोने मोक्ष पाया उन्होने यह ही तो किया । सर्व बाह्यपदार्थोसे ममता हटायी और अपने सहजस्वभावकी आराधना की । ऐसा किये बिना मोक्ष नही मिलता और जो ऐसा करना चाहेगा उसके व्रत तप सयम ये सब आयेगे, क्योकि यह बहुत बडा काम है । ज्ञानी जीव सहज ही ससार शरीर भोगोसे विरक्त रहता है । यही ज्ञानी पुरुषका चिह्न है ।

कषायोकी बलि करके सहज चित्स्वरूपकी आराधनाका महान् कार्य—अनादिकालसे इन विकारोका आदर कर करके विकारोको बढाते रहे, इन विकारोको दूर करना है तो यह बहुत बडा भारी कार्य है, इस कार्यकी पूर्ति हमें सर्व उपायोसे करना है। तो अतरग उपाय तो हैं अपनेको सहजज्ञानरूपसे प्रतीति करना। यह हू मैं और बाहरमे करना है पापका त्याग, कषायका त्याग। यह ही तो कहलाता है व्रत, यह ही कहलाया सयम। भला पाप करते हुएमे किसी ने सद्‌गति पायी। पाप क्या सद्‌गतिका कारण है ? पापसे तो दुर्गति होती है। पाप है ५—हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह। हिसा, बाह्य हिसा व आन्तरिक हिसा। दूसरेके प्राणोका घात कर देना, दूसरेका दिल दुःखाना, अपने आपको अन्यायमे लगाना, यह सब हिसा है। झूठ– जो बात जैसी नही है वैसी बोलना, जो बात जैसी है उस प्रकार न बोलना, बात कुछ है और जमायेगे उल्टी तो यह सब झूठ कहलाता है। अपने आपपर दया करन है। मेरा इस जगतमे दूसरा कोई रक्षक नही है। रक्षक तो क्या ? पापकार्योंमे जुटाकर बरबादीके कारण बनते है लोग। तो परसम्पर्क रक्षक नही, किन्तु भक्षक है। मेरेको अपने आप पर आस्था करनी है और अपने आपके ज्ञानके बलपर अपने को जीवनमे सुखी रखना है। जानें अपने उस विशुद्ध स्वरूपको, ऐसा जो उपयोग बनायगा वह पापसे हटेगा। यह ही व्रत बन गया। चोरी पाप—चोरी पाप करके कोई सुखी हुआ क्या ? चोरके निरन्तर शल्य रहती है। चोरी करे तो, डाका डाले तो, चोरी दोनो कहलाती है, डकैतीमे भी मालिकके मनको स्वीकारताके बिना द्रव्य दिया गया। तो वही चोरीमे हुआ, वही डकैतीमे हुआ, यह पाप है। चोरी डकैती करने वाले लोग क्या कभी सुखी रहे, क्या कभी धनिक बन सके ? अगर कोई धनिक बनेगा तो स्पष्ट रहकर बन पायगा। कुशील—पराई स्त्री निरखकर चित्तमे विकारभाव आना, परपुरुषको देखकर चित्तमे विरक्तभाव आना, देखा विडम्बना कहाँ बसी है ? बाह्य सम्पर्कमे नही, किन्तु भीतरकी दुर्भावनामे। प्रथम तो कामविकार ही पाप है, चाहे निज स्त्री और पतिके सम्बन्धमे हो, स्वभावसे हटकर विकारभावमे आया सो आत्मविघात है। उस कामविकारके समय यह सहज परमात्मतत्त्व प्रभु आखिर ढक हा तो गया। तो कामविकार ही पाप है और फिर वह परस्त्री परपुरुषके बारेमे तो वह तो एक भयकर उत्पात है। क्या कुशील सेवन करते हुए कोई जीव सुखी रह सकेगा ? परिग्रहवाद–तृष्णा बनाना, हजार है तो लाख हो, लाख हुए तो करोड हो, करोड़ हुए तो अरब हो, ऐसी लालसा बनाना यह है परिग्रह पाप। पापमे कोई सुखी रह सका क्या ? पापका परित्याग करेगा कोई तो इसीको ही तो व्रत कहते है। यह ही तो नियमसयम है। नियमसयम बिना किसीका गुजारा चला क्या ? मानो भोजन करते है, ज्यादह खा लिया, अब तकलीफ पाते है, रोग होता है, दिलमें घबडा-

हट होती है। अरे तो भाई उचित खाओ, ऊनोदर करो और सुखसे रहो। खाता ही जाय कोई, रुके नही, ऐसा हो सकता क्या? रुकना पडता है, यह ही तो हो गया एक सयमका रूप। खानेका त्याग करना ही पडता है। तो अपने इन भावोको संयमश्रृंगारसे सजा दे। और भीतरमें वस्तुके ज्ञानकी प्रगति बनावें, भीतरमे स्पष्ट प्रकाश पावें। भीतर हो ज्ञानप्रकाश, बाह्य हो सयमी जीवन, तो बस जीवन सफल हो जायगा।

समाधियुक्त जीवन व समाधिस्मरणका महत्त्व—भैया! यह आयु तो खत्म होगी किसी दिन आयु मिटेगी। इस आयुको रखनेमें कोई समर्थ नही। किसी भी ससारी जीवकी आयु सदा नही रह सकती। तीर्थंकर भगवान भी हो, आयुकर्म तो उनके भी था। उनकी आयुका विनाश हुआ, उसका नाम है निर्वाण, मोक्ष, मगर आयुका क्षय तो हुआ। छोटा हो, बडा हो जो भी है वह भवमें आया, जन्ममे आया। जिसने जीवन पाया, निश्चित है कि उस का मरण अवश्य होगा। उस मरणसे बचानेमें कोई समर्थ नही है। तो जब मरना पडेगा ही तो मानो १० वर्ष और जीवित रहकर मरे तो क्या और अब मरे तो क्या? हाँ इतना फायदा जरूर उठा सकते कि रहे सहे जीवनमें हम ज्ञान और सयम—इन दो की आस्था बनायें और इन दोनोसे अपने आपको पवित्र कर लें तो मरण समतासे होगा, शान्तिसे मरण होगा और सद्गति प्राप्त होगी। देखो कमसे कम इतनी बात तो मजूर है कि नही कि हमारा मरण शान्तिमें हो। अशान्त भावमें मरकर मेरा मरण न हो। यह बात बतलाओ आपको पसद है या नही या घबडाकर दुःखी होकर सक्लेश करके, ममता करके, कषाय रखकर, विरोध रखकर, द्वेष रखकर मरण पसद है? अरे भाई मरण हो तो शान्तिसे। गया हुआ समय वापिस नही आता। बिगडा हुआ मरण फिर वापिस नही आता। जो मिला है समय, जो मिला है उसका सदुपयोग करे और मरण शान्तिपूर्वक हो, इतना तो सबको इष्ट है। इष्ट है तो उसका ही उपाय बना लें। बस यह हो तो धर्म है। शान्तिपूर्वक मरण हो, इसका उपाय बनावें। कैसे हो शान्तिपूर्वक मरण? यो होगा कि जब तक यह जीवन है तब तक तो शान्तिपूर्वक रह ले। अगर जीवनमे शान्तिपूर्वक नही रहते तो मरणमे शान्तिकी आशा करना व्यर्थ है। क्योकि जो भाव बनाया, जिस भावको बढाया, जिस भावसे प्रीति की वह भाव तो अपना प्रवाह बनायगा। अगर जीवन आकुलतामे ही गुजारा तो मरण समयमे फिर क्या शान्तिकी आशा करना? यद्यपि किसी किसीको यह बात भी होती है कि जीवन कैसा ही खोटा गया हो, लेकिन मरणसे कुछ समय पहले इसका उपयोग सुधर जाता है, मगर यह तो बिरले ही पुण्योके होता है। हम उनकी होड बनाकर अपनी इस जिन्दगीको कषायोके सताप मे, सक्लेशमे बितायें तब आशा न करें कि मरण शान्तिपूर्वक हो जायगा।

समागत प्राणियोंमे मोह करनेकी व्यर्थता व अनर्थता जानकर निज सहजस्वभावमें उपयुक्त होनेका अनुरोध—मरण होने पर यहांके सग साथी कोई साथ न जायेंगे, क्योकि सभी जीव अपना-अपना सस्कार लिए है, अपना-अपना भाग्य लिए है, सो अपना सस्कार और अपने भाग्यके अनुसार ही उनका परिणमन होता है। मै किसे क्या करता हू ? मैं अपना विकल्प बनाता और दुःखी होता हू और ये विकल्प बनते है पापबुद्धिसे। इस पापबुद्धिको मिटा दीजिए। सब जीवोमे सहज परमात्मस्वरूप है, इसका निरीक्षण करें, मिलेगा ज्ञान, मिलेगी अपनी सम्पन्नता। मै कही कुछ गरीब नही हू, जो मेरा स्वरूप है उसे मैं लिए हुए हू, ऐसा अपने आपमे ध्यान बनावें। मेरेको कही कष्ट नही। क्योकि मेरा स्वरूप आनन्दमय है और वह आनन्दको ही बढाने वाला है। उसमे कष्टका काम नही है। मै तो बहुत स्वच्छ स्वतत्र सुविधाओ वाला मौजूद हू, मेरेमे विपत्तिका काम नही। अज्ञान बसाते है और विपत्ति हमारे सिरपर आती है, तो उनको पाते रहना, भोगते रहना। इन बाहरी पदार्थोंसे उपयोग हटावें तो कर्मकी लीलाका विलास भी समाप्त हो जायगा। बस एक ही यह पौरुष करना है कि सच्चा ज्ञान जगावें और इन उपचरित निमित्तोमे अपना उपयोग न जुडावें।

(१७)

किसी भी जीवको देखो, किसीसे भी बोलो, किसीसे भी व्यवहार करो, उसमे सहज-परमात्मस्वरूपका ध्यान पहिले कर लिया करो,पश्चात् जो व्यवहार करोगे वह स्वपर सतोष-कारी व निरापद होगा।

आत्महितके अप्रतिकूल सद्व्यवहारका परिचयन—यह जीव जिस भवमे जन्म लेता है उस भवमे जिनका समागम मिलता है उनसे इसका व्यवहार चलता है। यह बात अनादि से चलती आयी है। जो व्यवहार करनेके अयोग्य है एकेन्द्रिय आदिक वे तो नही व्यवहार कर पाते है फिर भी सम्पर्क उनका भी रहता है दूसरोसे। तो अब अपनी बात सोचनी है। हम इस भवमे आये और यहाँ अनेकोका समागम मिला। रागद्वेष मोहवश उनसे व्यवहार किया करते ही है, पर यह तो विचारें कि अब तक अनेक व्यवहार कर करके भी कुछ सतोष आ पाया या नही। सतोष नही आ सका और जीवन कुछ और भी गुजरेगा तब भी सतोष न मिलेगा। तो बाह्य सम्पर्क, बाह्य समागम, परस्परका व्यवहार इनसे सतोष नही मिलता, फिर भी किए बिना भी नही रहता। जब मन, वचन, काय मिले हैं तो इनकी प्रवृत्ति तो होगी ही। कायकी प्रवृत्ति होगी तो उस देहसे परस्पर उपग्रह करना चलेगा। वचनकी प्रवृत्ति है उसमे भी कुछ उपग्रह चलेगा। मन मिला तो उससे भी सम्बन्ध बनेगा। तो चूँकि मन, वचन, काय मिले है तो उनकी प्रवृत्ति करता ही है यह जीव, सो व्यवहार बन जाता है। अब

व्यवहार करते करते भी विवाद रहे, विसम्वाद रहे, अशान्ति रहे, असंतोष रहे तो अब क्या करना चाहिए ? तो भाई बात तो यह है वास्तविक कि व्यवहार न रहे। जो हम आपका दूसरेसे व्यवहार चल रहा उस व्यवहारकी बात कह रहे है कि ये सब मिटें, मन भी गुप्त, वचन भी गुप्त और काय भी गुप्त रहे पर इतना तो न बन सकेगा। गृहस्थावस्थामे तो सम्भव है, तब क्या प्रवृत्ति करनी चाहिए उस प्रवृत्तिका इस निबधमे जिक्र है।

देखते बोलते समय व्यवहार्य प्राणीमें सहजपरमात्मतत्त्वका ईक्षण—देखो पहले यह जीव देखता है, फिर बोलता है, फिर कोई चेष्टा करता है, ऐसी ही तो बात पडी है मनुष्योमे। तो प्रथम देखनेको ही सभाल लें तो बादकी बातें सब संभल जायेंगी। देखनेको किस तरह सभालें ? सम्यग्ज्ञान साथ रखें तो देखना सभल गया समझिये। जैसे जीवको देखो, सर्वप्रथम यह चिन्तन करें कि इस जीवमे सहजपरमात्मतत्त्व वही है जैसा मुझमे है, जैसा सबमे है। मूल चीज तो वही है जो सबमे पायी जाती है, ऐसी ही मुझमे है, ऐसी ही सबमे है। तो जो मौलिक बात है उसको हम मुख्यता बनावें देखकर और जो प्रायोगिक है, औपाधिक है, मायारूप है उसे प्रमुखता न देनी चाहिए। व्यवहार तो करना होगा। व्यवहार करते हुए भी प्रमुखता दें उस आत्माके सहज ध्रुव स्वरूपकी, जिसको मै देखता हू वहाँ भी सहज परमात्मतत्त्व है। देखो सहज परमात्मतत्त्वका अपमान न हो जाय, तिरस्कार न हो जाय, यह भी साथमे बुद्धि लगी रहेगी। जब जीवको सम्यग्ज्ञान होता है तो ये सारी बातें एक सहज हो जाती है। जब मिथ्या बोध होता है, भ्रम रहता है तब यह कुछ भी हितकी बात नही बन पाती। सर्वप्रथम जिसको देखे, देखते ही इतना ध्यान बना ले कि मूलमे तो यह भी सहज परमात्मस्वरूप है। अब अन्तर जो आया है, माया जो बनी है, पर्याय जो बनी है सो यह सब एक औपाधिक प्रसग है। तो देखते ही सर्वप्रथम सहजपरमात्मतत्त्वकी सुध लें और जब बोलें तब भी यह ही सोचना कि उस एक सहजपरमात्मतत्त्वका जिसमे अधिष्ठान है उसको बोल रहा हू। मतलब यह है कि किसी जीवको तुच्छ न समझे।

स्वभावदृष्टिसे सबको समान समझकर व्यवहार करनेमें विवेक—कोई जीव तुच्छ न दिखे, इसका आधार क्या है ? जो दिख रहा है वह तो कोई तुच्छ है कोई महान है, बडे विविध अन्तर पाये जाते है। बाह्य अन्तर भी और भीतरी अन्तर भी। कोई धनी है, कोई गरीब है, कोई बलिष्ट है, कोई निर्बल है आदिक तो बाह्य अन्तर मिलते है, कोई ज्ञानी है, मूर्ख है, कोई कषायवान है, कोई उदार है आदिक भीतरी अन्तर मिलते है। तो पर्यायको देखने पर अन्तर जचते है और उस दृष्टिमे तुच्छता की दृष्टिसे हम अलग हों सकें यह बात कठिन है। तब जिसमे कोई जीव तुच्छ न जचे वह दृष्टि क्या है ? वह दृष्टि है स्वभावदृष्टि।

जो भी जीव है वह अपने आप सत्त्वके कारण अपने सहजस्वरूपको लिए हुए है। उस स्वरूपमे न कोई बढकर है, न कोई घटकर है। वह तो सब द्रव्योमे एक समान रूपसे है, ऐसा सहज परमात्मतत्त्व दृष्टिमे आये तो कोई जीव तुच्छ न जचे। तो किसी जीवको देखें, किसीसे भी बोले—उसमे परमात्मस्वरूपका ध्यान पहले कर लिया करें। इसके बाद जो व्यवहार होगा वह स्वयंको भी संतोषकारक होगा और दूसरेको भी संतोषकारक होगा। यह जीवन कोई भरोसे वाला जीवन तो नही है। यहाँ कोई अनपवर्त्य आयु वाला नही है। आयु छिन्न हो जाय, उदीरित हो जाय, बीचमे कट जाय, ये सब बातें हो सकती है। पता भी क्या किसको, आज है कलका पता नही। ऐसे चचल जीवनमे हम अपने आपके दयाकी बात न करें और कषाय कर-करके अपने आपका विघात करें तो इसमे तो कोई बुद्धिमानीकी बात नही है। हम अपनेमे अपने आपके स्वरूपको निरखे और ऐसे ही सर्व जीवोमे उस स्वरूपको देखे और फिर तब व्यवहार करें तो उससे खुदको भी सतोष होगा और दूसरेको भी सन्तोष होगा। ऐसे ही व्यवहारमे आपत्ति नही होती।

अकषाय आत्मस्वभावका आश्रय कर दुःखरूप सकल कषायोके उच्छेद करनेका कर्तव्य—ये कषायें कष् धातुसे बनी है। जो आत्माको कषे उसे कहते है कषाय। जो दु.ख दे, पीडित करे, सो सभी कषायोमे यह ही बात पायी जाती है। जब क्रोधप्रकृति कर्मोदय होता है तब विषयभूत प्राणीकी अनिष्ट करनेकी वासना जग जाती है और दूसरेका अनिष्ट न हो तब इस जीवको बडी बेचैनी रहती है। घमड आये तो जब तक सबसे ऊँचापन अपने आपकी समझमे न बैठे, लोग न मान ले तब तक इसे चैन नही होती। छल-कपट यह तो एक शल्य ही बताई गई है। उसमे अपने धर्मका प्रवेश ही नही है और तृष्णाका रग तो इतना गहरा है कि इसका समूल नाश तो १०वे गुणस्थानके अन्तमे हो पाता है। पहले होती है अन्य कषाये समाप्त और लोभ समाप्त होता है सबसे अन्तमे। कषायमे जीवको आनन्द नही है। कषायें तजकर अविकार निज चैतन्यस्वरूपकी आस्था हो वहाँ इस जीवको आनन्दका लाभ है। तो ऐसे ही खुदको जानें, ऐसा ही दूसरेको समझें तो इस जीवको आपत्ति न आयगी। तब हम अपने जीवनका बर्ताव कैसा बनाये? दूसरोसे बोले तो कम बोलें, सोचकर बोलें, प्रिय बोलें, आदर देकर बोलें। आफत तो यह है कि जब जीवके कषाय जगती है तो इसकी सुध भी भूल जाती है, फिर भी यदि सस्कार रहे और इसकी स्मृति रहे तो इसपर कुछ बर्ताव हो सकता है। सबसे पहली बात है आदरपूर्वक बोले, फिर वहाँ कभी आपत्तिकी सम्भावना ही नही। मनुष्यमे मानकषायकी प्रधानता बतायी गई है। मानपर विजय पानेसे सुबुद्धि आस्था सबका निवास हो जाता है।

नारक तिर्यञ्च व देवोमें क्रोध माया लोभकी प्रधानतासे विडम्बना—नारकियोमे क्रोधकी प्रधानता, तिर्यंचमे छल कपटकी प्रधानता, देवोमे लोभकी प्रधानता और मनुष्योमे मानकी प्रधानता होती है। कषायें तो चारो गतियोमे है, मगर एक प्रमुखताकी बात कह रहे है। दूसरे देवकी सम्पदा देखकर छोटे देव मन ही मन झूर कर दुःखी रहते है। अरे एक भूख प्यास नही लगती देवोको इतनी ही तो सुविधा है और इस सुविधापर हजारो वर्षमे कही भूख लगती, उस समय उनके कठसे अमृत झर जाता और वे तृप्त हो जाते। तो यह सुविधा मिली है देवोको, मगर मानसिक दुःख न आये, ऐसी उनके पास क्या औषधि है? लोभकषायका रंग देवोमे भी चढा बढा है। नारकियोमे क्रोध है। जैसे यहाँ एक कुत्ता दूसरे कुत्तेको देखकर एकदम उसपर टूटता है। यदि दूसरे गाँवका कुत्ता निकले तो सारे कुत्ते उसके पीछे दौडते है ऐसी ही दशा नारकियोकी है। किसी नारकीको कोई दूसरा देख तो ले, क्रोध उमडता है और उसे चैनसे रहने नही देता। और क्रोधके औजार भी उनके पास ऐसे प्राकृतिक है कि उनको कुल्हाडो वसूला, तलवार, चाकू आदिक कही बाहरसे लानेकी जरूरत नही पडती। जहां तलवार आदिक किसी भी औजारका सकल्प किया और मारनेको हाथ उठाया तो वह हाथ ही वह औजार बन जाता है। कैसी अशुभ विक्रिया और कैसा वहाँ दुःखका स्थान, इन्ही कारणोसे वहाँ निरन्तर बेचैनी रहती है। यहाँ तो किसीको मारना चाहे तो कहीसे लाठी उठायें, कहीसे चाकू, कहीसे कुछ। यो कुछ समय लगे, मगर वहाँ कुछ नही ढूँढना है। जो मनमे आया सो उनका शरीर ही बन जाता है। ऐसी कठिन वेदना है नारकियोको। तिर्यञ्चोका छल कपट, जिसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। बगुला कैसा एक टागसे खडा रहता है सरोवरके किनारे, पर जिसको राम लक्ष्मण सम्वादमे एक जगह कहा है। मानो वहाँ श्रीरामने कहा देखो यह बगुला कैसा एक टाँगमे खडा ध्यान लगा रहा है। तो वहाँ बताया कि अरे यह ध्यान नही लगा रहा है, यह तो मछलियोको पकड पकडकर खानेका उद्यम कर रहा है। छिपकलीको देखा होगा कैसी छिपकर बैठी रहती है और ४-६ अगुल दूर बैठे हुए कीडेपर एकदमसे टूट पडती है। बिल्लीको देखा होगा, चूहेको किस तरहसे छल कपटसे पकडती है। तो तिर्यञ्चोमे छल कपटको मुद्रायें स्पष्ट दिखती है।

मनुष्योमे मानकषायकी प्रधानतासे विडम्बना और उसके उच्छेदसे सद्व्यवहारकी प्रवृत्ति—अब मनुष्योकी बात देखो, मनुष्योमे है मानकषायकी प्रबलता। इस मानकषायके पीछे तो अपना घर भी बिगाड देते है। एक घटना गुरूजी सुनाते थे कि टीकमगढकी किसी सुनारिनके मनमे सोनेके बखौरा (आभूषण) बनवानेकी इच्छा हुई। स्थिति तो गरीबी की थी पर वह यह हठ कर गई कि हमे तो बखौरे ही चाहिएँ। आखिर पतिने किसी तरहसे काढ

मांगकर करीब २५ तोलेके बखौरे बनवा दिये। अब वहाँ तो रिवाज था सारे शरीरको कपडोंसे ढांककर चलने का, सो काफी दिनो तक उसके बखौरे किसीको दिखे ही नही तो फिर प्रशंसा कौन कर सके ? वह मन ही मन कुढती रही। एक बार उसे ऐसा क्रोध आया कि उसने अपने ही घरमे आग लगा दी। आग तो लगा दी, पर जब जरा होश ठिकाने आया तो वह हाथ फटकार फटकार कर चिल्लाने लगी, अरे दौडो मेरा घर जल गया, वह बाल्टी रखी है, वह रस्सी पडी है, वह कुवा है। लोग जुडे, इसी प्रसगमे किसी स्त्रीको उसके बखौरे दीख गए, सो पूछ बैठी—अरी जिज्जी ये बखौरे कब बनवाये ? ये तो बडे सुन्दर है। तो वह सुनारिन झुँझलाकर (गाली देकर) बोली—अरी राड, यही बात यदि पहलेसे कह देती तो अपने घरमे आग क्यो लगाती ? तो भाई मनुष्योमे इस मानकषायकी प्रबलता है। इस मानकषायके वशीभूत होकर यह मनुष्य अपना बहुत बडा अनर्थ कर डालता है। इस मानकषाय का इतना अधिक क्लेश होता है कि इस मानकी पुष्टि न हो तो घरमे भी यह आग लगा देता है। जितने लोग धन वैभवकी चाहमे दौड रहे है उसका कारण क्या धन है ? धनके लिए धनी बन रहे क्या ? अरे धनी बन रहे इस मानकषायकी पुष्टिके लिए। खूब भली भाँति सोच लो—जो कुछ भी काम करते ये मनुष्य सो इस मानके अर्थ करते है। तो इस मानकी इतनी कठिन वेदना होती है। यह कषाय न हो तब तो योग्य सद्व्यवहार करने की बुद्धि बनती है। कषायें मंद हो, लोगोसे सद्व्यवहार हो उसको जीवनमे कष्टका क्या प्रसग ? तो जिसको देखो तो ध्यान बना लो कि इसमे सहजपरमात्मस्वरूप है। जिससे बोलो सो ध्यान बना लो कि इसमे सहजपरमात्मरूप है, बस इस परमात्मस्वरूपकी सुध होते ही कषायें और मद होती है और आदर, आस्था, सद्व्यवहार ये सब बनने लगते है। तो ऐसे ही सद्व्यवहार मे यह जीव विपत्तियोसे रहित हो सकता है।

(१८)

मै ज्ञानपुञ्ज हू, मुझ ज्ञानको ज्ञानरूपसे ही परिणमना चाहिये, ज्ञानपरिणमनमे ही मेरा सर्वस्व कल्याण है, यही अनन्त भगवन्तोने किया, ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपको ही ज्ञेय बनाकर ज्ञानरूप परिणमना ही मेरा कर्तव्य है।

आनन्दमय होनेका उपाय ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमन—जरा लोकके विश्वके समस्त जीवोपर दृष्टि देकर यह तो कुछ चिन्तन करें, निर्णय करें कि इस लोकमे कोई सुखी है क्या ? हाँ हाँ सुखी तो है। कौन सुखी है ? भगवान सुखी है। अरहत भगवान, सिद्ध भगवान, शरीरसहित भगवान, शरीररहित भगवान। भगवान ही आनन्दमग्न है। शरीरसहित जो भगवान है वह भगवान सदा शरीरसहित न रह पायगा। शरीरधारी योगी मुनि

एक सहजपरमात्मरूपकी उपासना कर-करके भगवान बने तो शरीर था पहले और उसीमे भगवान बन गए तो शरीरसहित भगवान कहलाये, पर शरीरसहित तो नही रहते, उनका भी निर्वाण होगा, शरीर नष्ट होगा, कपूरवत् उड जायगा। शरीररहित भगवान हो गए। यहाँ शरीरसहितताकी बात न देखे। निरखें जो आत्मा निर्मल है, वीतराग है वह ही आत्मा सुखी है और जगतके अन्य आत्मा जो सराग है, कषायकी आस्था रखते है, कषायको अपनाते है वे जीव सुखी नही हो सकते। अच्छा, हाँ है भगवान सुखी। तो अब क्या कर्तव्य है ? वह कर्तव्य है जिसको करके यह भगवान बने, सुखी बने। जिस रास्तेसे चलकर यह भगवान बने, सुखी हुए उस रास्तेपर हमे चलना है। अनन्त भगवन्तोने जो कार्य किया वह कार्य ही प्रशस्त है, बाकी सब बेकार। अब तक जो भगवन्त हुए, सिद्ध हुए, उनकी सख्या क्या मालूम है कितनी है ? उनकी सख्या उतनी है जितने संसारके व्यवहारी जीव है। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय और इनके अलावा पृथ्वीके जीव, जलके जीव, अग्निके जीव, वायुके जीव और प्रत्येकवनस्पतिके जीव—इन सबका जितना टोटल है उससे अनन्तगुणे है सिद्ध महाराज। सिद्धोकी सख्या निगोदोकी सख्यासे हारी। निगोद उनसे अनन्तानत गुणे है। बताओ कौनसा ऐसा उपाय किया था कि जिससे वे सिद्धभगवन्त बने ? वह उपाय है ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमन करना। हम आप ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानसे ही सारा बर्ताव है। ज्ञानकी ही सारी प्रक्रिया चलती है। अब कर्मविपाकसे, मलिनतासे इस ज्ञानका दुरुपयोग हो रहा है। कषायोसे लिप्त होकर कषायोके हुक्ममे चल रहा है। तो यह बात न हो और ज्ञान केवल मात्र ज्ञानरूप ही परिणमा करे यह उपाय है भगवत होनेका।

ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी सतत भावनासे ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमते रहनेके अवसर का लाभ—देखो भैया ! सामर्थ्य ता सबमे है, स्वरूपमग्नता कर सकते है, मगर कैसी विडम्बना, कैसी विपत्ति पडी हुई है कि यह चलता है मोह रागद्वेषकी ही ओर। न चले परभाव की ओर, और अपने ज्ञानको ज्ञानरूप ही परिणमाये, ऐसी शक्ति बसी हुई है जीवोमे। जिसका होनहार भला है, जो निकट भव्य है, जो कुछ ही भवोमे भवरहित होने वाला है उसको यह सहज प्रकाश मिल जाता है। तो करने योग्य काम है ज्ञानका ज्ञानरूपसे ही परिणमते रहना। तो अपनेमे भी सोचें कि मेरा सर्वस्व कल्याण इस ही मे है कि मै ज्ञानस्वरूपमात्र आत्मा ज्ञानरूपसे ही परिणमा करूँ, यह ही मेरा वास्तविक काम है। अब यह मै ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानरूप ही परिणमूँ, ऐसा होनेके लिए कुछ अपने अन्तःस्वरूपका बोध भी होना चाहिए। किस बलपर यह ज्ञानरूप परिणमे ? पर्यायबुद्धि बनाता रहे, पर्यायमे इष्ट अनिष्ट कल्पनाये बनाये और कोई चाहे कि मेरा ज्ञान ज्ञानरूप परिणमे, मुझे इस आशाकी तिलाञ्जलि देनी होगी।

ज्ञान ज्ञानरूपसे ही परिणमता रहे इसके लिए आवश्यक है अपने आपकी ऐसी भावना बनाना कि मै ज्ञानपुञ्ज हू, अन्य कुछ नही हू। ज्ञान धन, ज्ञान ही सर्वस्व है, ज्ञान ही ज्ञानमात्र मैं हूँ। कुछ वृत्ति चलती है तो ज्ञानकी, अनुभूति चलती है तो ज्ञानकी। जो कुछ काम पडता है तो ज्ञानसे। तो ज्ञान ही ज्ञान मै सर्वस्व हू। ऐसा अपने आपको ज्ञानपुञ्जके रूपसे भाव बनायें तो यही तो बात बनेगी कि बस इस ज्ञानका ही काम होगा, ज्ञान ही न्याय है, ज्ञानसिवाय जब मै कुछ नही हू तो बस ज्ञानमे ज्ञानका ही काम होता है, यह ही न्यायकी बात है। यह ज्ञान ज्ञानरूपसे परिणमता रहे, यही तो है मेरा सर्वस्व कल्याण और यही है मेरा वास्तविक कर्तव्य। इसके अतिरिक्त मेरा अन्य कुछ भी प्रोग्राम न होना चाहिए। मुख्य प्रोग्राम, इस जीवनमे जीनेका मुख्य लक्ष्य यही है कि मैं ऐसे ज्ञानकी आराधना करूँ कि मेरेको सतत यही प्रतीति रहे कि मै ज्ञानमात्र हू। ज्ञानका व्यापार हो, बस यही मेरा कर्तापन है, यही मेरी अनुभूति है। इसके लिए अधिकाधिक भावना यह होनी चाहिए कि मैं ज्ञानपुञ्ज हू। ज्ञानसिवाय मै अन्य कुछ नही हू।

(१६)

पावन चैतन्यस्वरूपमे स्वच्छ उछाल ले लेकर अलौकिक आनन्दरसमे छके जानेका काम यथासमय होते ही रहना चाहिये, अन्यथा इस दुर्लभ मानव-जीवनका पाना बेकार है।

शान्तिसे समय गुजारनेका उपाय ज्ञानकी स्वच्छ उछालोका उद्भव—हम आपने यह मानवजीवन पाया है तो मानवजीवन कैसे सफल हो, कैसे अलौकिक लाभ मिले, कैसे यह भव शान्तिसे गुजरे, उसका उपाय क्या है ? उपाय है प्रथम निज सत्य सहज आनन्दरसमे छके रहना। यदि इस समय आनन्दरसमे नही छक पाते तो अगले भवमे आनन्द पानेकी आशा ही क्या है ? यह आनदरस कैसे मिले, जब चाहे यथासमय कैसे यह मिलता रहे ? इसका साधन है शुद्ध ज्ञान, क्योकि आनन्दरसमे छके रहना और ज्ञानका शुद्ध प्रवर्तन होना, दोनोका अविनाभाव है। अगर शुद्ध ज्ञानकी उछालें हममे नही आती तो आनन्दरस भी प्राप्त नही हो सकता। तो मेरा यह पवित्र चैतन्यस्वरूप स्वय अपने आप सहज अपने ही सत्त्वके कारण मेरे मे जो ज्ञानज्योति जगे वह ज्ञान पवित्र है, क्योकि वह मेरे स्वभावसे ही उत्पन्न हुआ है, उसमे किसी दूसरे पदार्थके सम्पर्कका काम नही है। तो ऐसे पवित्र चैतन्यस्वरूपमे ज्ञानकी स्वच्छ उछाले उठती है। यह ज्ञान स्वच्छ अपना प्रवतन करता रहे, ऐसी उछाले ले लेकर आनन्द-रसमे छके रहनेका काम मिलते रहना चाहिए। इस ज्ञानमे जहाँ कर्मविपाकको अपनाया, उसके प्रतिफलनमे अपना सम्बंध जोडा वहाँसे इस जीवको व्याकुलता होने लगती है। तो मेरे इस पवित्र चैतन्यस्वरूपमे ज्ञानकी स्वच्छ उछाले आये, ऐसा प्रयत्न करें और देखो इतना बडा

काम तब ही सभव है जब कि चित्तमें कषायें न रहे। ये कषायें ही इस जीवको बरबाद करने वाली है। जब कषाये उठती है तो सारा आत्मा विकल हो जाता है। ये कषायें हम आपकी बैरी है। जगतमे दूसरा जीव कोई भी बैरी नही है, बैरी है तो अपनी कषाय। ऐसा ज्ञान बनावें कि जिसमे कषाय न उठे तो अपनी रक्षा है, और ऐसा उल्टा ज्ञान बने कि जहाँ कषाय जगती रहे तो उसमे निरन्तर अपनी हत्या है, इसलिए आत्महिसासे बचना है तो उस का उपाय है कि कषायें दूर हो और ज्ञानकी स्वच्छ उछाले ही इस ज्ञानसागरमे आती रहे।

ज्ञानकी स्वच्छ उछालोंकी भावना—अहा ! ऐसे ज्ञानकी स्वच्छ उछालें आये जिनके साथ आनन्द गुणमे छकना बना रहे तो यह जीवन भी सफल है और भविष्यमें भी जो जीवन मिलेगा वहाँ भी यह सस्कार रहेगा और धर्मका प्रसग पायेंगे। देखो धर्मका सग बढावें। अपने आपको ऐसा नम्र, ऐसा सरल बनावें कि हममे धर्मकी परम्परा चलती रहे, क्योंकि धर्म बिना इस जीवका कुछ भी शरण नही है। शरण है तो केवल एक धर्म है। लोकमें चाहे वह अपना मित्र कहलाये, चाहे वह अपना परिजन कहलाये, ये कोई भी मेरी शान्तिमे साधक नही बन सकते, क्योंकि जो मिलते है वे खुद कर्मके प्रेरे है, वे खुद कषायसे भरे है। उनका सग प्रसग हमे कषायोसे निराला तो न बना सकेगा। इस कारणसे अन्य सर्व सम्पर्क इस जीवके हितमे नही है। जीवका हितकारी सत्सग क्या है ? जो अपने स्वभावदृष्टिसे सम्पन्न है और मार्गदर्शनमे साधक है, ऐसे वीतरागदेव, वीतरागशास्त्र और वीतराग गुरु, बस यह ही हमको व्यवहार शरण है और निश्चयसे शरण अपने स्वभावका दर्शन है। यह निधि प्राप्त हो तो हम अमीर है और यह निधि नही मिलती तो गरीबी ही है। चाहे कितनी ही वैभव-सम्पन्नता हो जाय लेकिन भीतरमे शान्ति नही, भीतरमे मोक्षमार्गका प्रवेश नहो तो वह तो ससारमे ही रुलता है। और जो ससारमे रुलता है वह गरीब है। तो क्या कर्तव्य है अपना ? अपने पवित्र चैतन्यस्वरूपमे ज्ञानकी स्वच्छ उछालें उठें। ज्ञानकी स्वच्छ उछालें कैसे उठेंगी कि ज्ञानरूपी वायुकी प्रेरणा मिले। ज्ञान ऐसा जगे कि इसमे यह ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप समाये तो ज्ञान ही वायु समझिये उसकी प्रेरणा मिले और इस ज्ञानस्वरूप ज्ञानसागरमे से ज्ञान की वृत्तियोकी उछाले उठें तो वहाँ अलौकिक आनन्दरस जगता है। जब जब हमारा किसी विषयभूत साधनमे उपयोग जुडता है तब तब इस जीवको सुख या दुःखका विकल्प चलता है। तो ये सुख दुःखके विकल्प ये इस जीवकी बरबादीके ही कारण होते है। तो इन विकल्पो से हटकर आनन्दरसमे छके जानेका काम होते ही रहना चाहिए। अगर ऐसा न हो सका तो यह मनुष्यजीवन पाना बेकार है।

(२०)

जो कुछ मेरा है वह मेरे आत्मप्रदेशोमे शाश्वत है, बाहर मेरा कुछ नही, परद्रव्य तो प्रकट भिन्न है, विकारभाव परभाव है । मेरा ज्ञानतत्त्व ही सार है, बाह्य तत्त्व सब बेकार है ।

बाह्य वैभवकी अकिंचनता—मनुष्य इस चिन्तनमे रहा करता है कि मेरा वैभव बढे, मेरा ठाठ बढे और इसकी धुनमे जो कुछ करना पडता है, जो कुछ बन पाता है, सब कुछ करनेको तैयार रहता है । ठीक है, अपना जो वैभव हो उसे तो बढाना ही चाहिए, उसकी रक्षा रखनी चाहिए, मगर यह तो समझें कि मेरा वास्तवमे वैभव है क्या ? अरे राजा सिकदर हुआ, उसका राज्य इस इतिहासमे सबसे बडा था । बहुत-बहुत राजाओको जीता, बहुत-बहुत अन्याय भी किया । अन्तमे जब मरण होनेको हुआ तो सिकन्दरको बडा पछतावा हुआ—हाय मैने जीवनमे कैसे-कैसे अन्याय किये, कैसे-कैसे हमने अपना साम्राज्य बढाया, लेकिन सब बेकार, यह सब छूट रहा है, वहां उसे पछतावा आता है, वह अपने मन्त्रियोसे कहता है कि भाई मेरा मरण होना तो अब निश्चित है, पर मेरे मरणके बाद जो अर्थी ले जाना तो मेरे हाथ अर्थीसे बाहर निकाल देना । ताकि दुनिया देखे और अर्थीके साथ मेरा सारा ठाट-बाट, साज-शृङ्गार सब कुछ ले जाना, ताकि दुनियाके लोग इन दोनो बातोको देख सकें कि इतना बडा तो धन-वैभव और यह सब कुछ छोडकर खाली हाथ जा रहा है । ठीक यही हालत हम आप सबकी होनी है । और जो यहाँ छोड जायेंगे उससे इस जीवको क्या लाभ है ? मरकर जायेंगे दूसरे भवमे, दूसरी धारणायें बनेंगी, दूसरा सग प्रसग मिलेगा । सब कुछ दूसरी-दूसरी ही बात, यहांका सम्पर्क क्या ? भला पूर्वभवमे जो मिला था उसे छोड़कर यहाँ आये हो तो उससे कुछ लाभ मिल रहा है क्या यहाँ आपके जीवको ? पूर्वभवमे पता नही बडा ठाट-बाट हो, बड़ा अच्छा समागम हो, दिखती दुनिया आपकी बडी प्रशसा कर रही हो, जो कुछ वहाँके लोग हो, लेकिन आज यहां है तो पूर्वभवकी बातका क्या है ? कुछ भी तो नही मिल रहा है । तो ऐसे ही समझिये कि इस भवकी बात भी आगे कुछ रहनेको नही है । उससे कुछ भी लाभ न मिलेगा । इससे इस वैभवमे परमाणुमात्र भी लगाव न हो, ऐसा एक विशुद्ध चैतन्यका व्यापार मिले, शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थिति रहे, इससे तो यहाँ भी शान्ति, आगे भी शान्ति । अपना जो निजस्वरूप वैभव है इस स्वरूप वैभवमे दृष्टि लगावें तो आत्माका उद्धार होगा और बाह्य इन पुद्गल स्कध ढेरोमे दृष्टि लगायेंगे तो उपयोग बिगडेगा और इसकी बरबादी ही रहेगी । इससे कभी इन जड-वैभवोमे अपनी प्रीति न बढाओ । इससे हटकर एक अपने आपके इस विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमे ही उपयोग जोडो ।

अनाद्यनत आत्मप्रदेशस्थ अभिन्न चैतन्यस्वरूप ही अपना सर्वस्व—हाँ, विचारो कि

मेरा क्या है ? उत्तर उसका सक्षिप्त यह है कि मेरा तो वह है जो मेरे स्वरूपमे शाश्वत रहे। मेरे स्वरूपसे बाहर मेरा कही कुछ नही है। जो मेरा साथ छोड दे वह मेरा कैसे ? शरीर साथ छोड देता है तो वह मेरा कैसे ? कषायें साथ छोड देती है तो वे मेरी कैसे ? ये सारे नटखट नृत्य ये साथ छोड देते, रहते नही, भले ही नये-नये नटखट हो रहे है, पर जो हो रहा है वह तो साथ नही निभाता। तो जो मेरा साथ न निभाये, जो मेरे सत्वके साथ न रहे वह मेरा नही है। जो मेरे साथ सदा रहे वह है मेरा। जो कुछ मेरा है वह मेरे आत्म-स्वरूपमे निरन्तर शाश्वत प्रकाशमान है। आत्मप्रदेशसे बाहर मेरा कही कुछ नही है। देखो यह बहुत बडे ज्ञानकी बात है, मगर चित्तमे यह बात समा जाय कि मेरा जो कुछ है वह मेरे आत्मप्रदेशमे है। इस आत्मप्रदेशसे बाहर मेरा कही कुछ नही है। जो कुछ बाहर है और जिसे यह अपनाता है, जिसमे यह विकल्प बनाता है वह सब मोह नीदके स्वप्नकी बात है। वास्तविकता वहाँ कुछ नही है। जो कुछ मेरा है वह मेरे आत्मस्वरूपमे है, स्वरूपकी बात कही जा रही है। मेरे आत्मप्रदेशमे झलके या जो-जो कुछ बात आये उसको मै मेरा नही समझता। यो तो कर्मोदय होनेपर सुख-दु.ख रागद्वेष विकल्प ये भी उत्पन्न हुआ करते है। ये भी मै नही हू, ये भी मेरे नही है। ये तो बाह्य कर्मके प्रतिभास, आभास, अध्यास है। मेरा तो वह है जो मेरे आत्मस्वरूपमे है। आत्मस्वरूप अनादि अनत है। बस वही मेरा वैभव है। उसे निरखते जायें, उसे ज्ञानमे लिए रहे, यह मै हू। इसमे कभी कोई सकट नही होता है, इसको कभी कोई चुरा नही सकता, इसकी कोई कभी हिंसा हो नही कर सकता। ऐसा यह मै पावन चैतन्यस्वरूप आत्मा उसमे जो कुछ गुण है, शक्ति है, सामर्थ्य है, सहज है वह है मेरा। उससे बाहर मेरा कही कुछ नही है।

समग्र बाह्यभावोसे विविक्त आत्मस्वरूपके अनुभवमे ही कल्याण—देखो जितने भी बाहरमे परद्रव्य दिख रहे है ये तो प्रकट भिन्न है, यह सामने ही दिख रहा। घर यहाँ, घरके परिजन दूर बैठे और जो-जो कुछ धन वैभव आदिक माने जा रहे है वे सब मेरेसे बिल्कुल बाहर है। वे तो प्रकट भिन्न है, उसे तो मै अपना मानू ही क्या ? लेकिन उनका ख्याल कर करके जो मुझमे विकार जगता है, रागद्वेष इष्ट अनिष्ट विपत्तियाँ जगती है वे विकार परभाव है। वे भी मेरे नही है। तो देखो अपनी दया करें। जो कषायभाव जगता है उन कषाय भावोको अपनावे नही, किन्तु उन कषायभावोसे मै अलग रहू और उन कषायभावोसे निराला यह जो अविकार ज्ञानस्वरूप है, उसका ही अनुभव करते रहे, ऐसा भीतरमे ज्ञानप्रकाश लाइये, ऐसा ज्ञान, ऐसा मेरा स्वरूप वह ही सार है, और बाहरमे सब कुछ असार है, बेकार है, किसीका लगाव नही। किसीका विश्वास, किसी भी बाह्य वस्तुमे आस्था, किसी भी बाह्य

वस्तुसे अपनेको बडा समझनेका विकल्प ये सब धोखे है, ये सब बेकार बाते हैं। वहाँसे चित्त हटे, अपने आपके साधारण ज्ञानज्योति स्वरूपमे अपना अनुभव जगे तो यह है जीवके लिए बहुत उपकारी बात। ऐसे हे प्रभु, हे निज अन्तः सहज ज्ञानस्वरूप तुम ही मेरे ज्ञानमे निरन्तर बसो। तुम्हारा ही शरण सत्य शरण है, तुम्हारी ओर ही मेरी ज्ञानवृत्ति रहे तो मेरा कल्याण है। बाहर कुछ भी देखो, कुछ भी निरखो, कही चित्त बसाया तो वह सब अकल्याण है।

(२१)

विषयकषायके कारण दुःखी होते हो और विषयकषायकी ही वृत्ति करते हो, विषय राग व कषायभाव करनेकी उद्दण्डताका फल अति भयानक है। प्रियतम! इस उद्दण्डताको छोडकर अपने सहज आनन्दधाममे विश्राम करो।

पर्यायकी हठ छोड़कर सहज अन्तस्तत्त्वमे आस्था करनेका कर्तव्य—जगतके जीव हम आप सभी अपनेको निरन्तर दुःखी अनुभव करते है। जब कभी सुख भी मिलता है तो सुख भी दुःख है, सुखमे भी क्षोभ रहता है, सुख भी विकल्परूप है, उसमे भी आकुलता जगती है। तो यह दुःख उत्पन्न क्यो होता है ये विषय कषाय भावके कारण हुआ करते है। विनतीमे पढते है ना "आतमके अहित विषय कषाय, इनमे मेरी परिणति न जाय" आत्माके अहित करने वाले है तो ये विषय और कषाय है। विषय तो कहलाये इच्छारूप, रागरूप। किसी भी विषयसाधनामे लगना यह दुःखरूप है, अहितकारी है, ससारमे रुलाने वाला है और कषाय कहलायी क्रोध, मान, माया, लोभ, ये संसारमे रुलाने वाले है। देखो अपने आत्माके साथ कार्माणवर्गणायें विस्रसोपचय रूप स्वतः लगे हुए है और जब हम कोई विकार करते है, कषाय करते है तो ये विस्रसोपचयकी कार्माणवर्गणाये स्वय कर्मरूप परिणम जाती है। कर्म बधे, उनका उदय आया और उस कालमे इस जीवको दुःखी होना पडता है। यहाँ तो जरा-जरासी बातपर हठ करते है और मरकर बन गए कीडा तो अब चलावो हठ। हमे नही बनना कीडा, हमे तो अच्छा ही रहना है, चलेगी हठ क्या? जगत है, यहाँ किसी भी विकारभावमे हठ मत बनावे। अपने अविकारस्वरूप इस विशुद्ध चैतन्यस्वभावकी उपासना करे।

हितपथ प्रवेशका सुगम उपाय प्रभुभक्ति—देखो हम आपका हितपथप्रवेशका सुगम उपाय है भगवानकी भक्ति, भगवानका स्वरूप, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्द, जहा विकारका नाम नही, रागद्वेषका लेश नही, विशुद्ध चैतन्यवृत्ति ही जग रही, ऐसा भगवानका स्वरूप है। उसकी भक्ति करें, उसकी शरण गहो। जहा यह घरमे या मित्र जनमे हम अपने आपको समर्पित कर दिया करते है ना, किसीके मनमे मन मिला देना,

यह हो तो अपना समर्पण है। तो जैसे हम यहाँ अशुद्ध कर्मप्रेरित जीवोंको हम अपना सर्वस्व सौंप देते है। यदि मैंने अपना सर्वस्व प्रभुके चरणोमे सौंपा होता तो पापबंध न होता, आकुलता न जगती, परेशानी न होती। तो आत्मसमर्पण करो प्रभुके चरणोमे। समर्पणका अर्थ यह है कि प्रभुके चरणोका विश्वास बनाये, प्रभुस्वरूपकी तरह अपने आपके स्वरूपका दर्शन करे, यहाँ ही मग्न हो, यही कहलाता है अपना समर्पण। ऐसे प्रभुके चरणोमे आत्मसमर्पण करे और समस्त सकटोसे छुटकारा पावे। इसके विपरीत चलनेमे कष्ट ही कष्ट है। क्या कष्ट है ? विषयकषायके भाव, इनसे ही तो कष्ट होता है। और विषयकषायमे ही प्रवृत्ति करता जाता है तो भला वतलावो यह हमारी उद्दण्डता है ना। मै तो भगवानके स्वरूपके समान मात्र ज्ञानानन्दस्वरूपका ही रसिक रहता, वह तो कहलाती मेरी मौलिक वृत्ति और आत्मानुभूति न करके जो बाहरी विषयकषायोमे एकदम जुट जाता है यह है हमारी उद्दण्डता।

अति भयानक ससरणके हेतुभूत परासक्तिरूप उद्दण्डताको तजकर निज सहजचैतन्यधाममे मग्न होनेकी भावना—बाह्य भावोमे आसक्त होनेकी उद्दण्डताका फल बहुत भयानक है। कैसा भयानक है सो संसारके जीवोकी दशा देख लो। कितनी जातिया है, कैसे-कैसे जीव जन्तु है ? कभी अजायबघरमे जाते तो कैसे विलक्षण जतु देखनेमे आते ? वे तो थोडेसे है। उन जीवोकी दशाये देखकर ही समझ ले कि हमने यदि मोह, रागद्वेष किया, परको अपनाया, अपना स्वरूप अपनी दृष्टिमे न रहा तो इस उद्दण्डताका फल ससारके चतुर्गतिरूप भव धारण करते रहना पडेगा। यह उद्दण्डता बहुत भयानक है, इसलिए हे मेरे प्रियतम याने प्यारोमें जो सबसे अधिक प्यारा हो, मेरे लिए सबसे अधिक प्यारा कौन है ? सभीको यही बात है। सबको अपना आप प्रिय लगता है, सो हे मेरे प्रियतम भगवान, अब अपने सहज शौर्यको सम्हाल लो। जैसे कोई कार्य करते रहे तो उससे जीवनका लाभ क्या ? सम्हाल सकते हो अपना स्वरूप, क्योकि मात्र ज्ञानका ही काम करता है। ज्ञानको सम्हाला तो अपने सारे शौर्य को सम्हाल लिया। तो अपने इस ज्ञानस्वरूपको सम्हालो और मूढताके फदेसे निकल जावो, मोहके जालसे अलग हट जावो। ऐसा करनेसे अपने अनन्तधाममे विश्राम बनेगा। जैसे बहुत सक्षिप्त शब्दोमे कहा है—'आतमके अहित विषयकषाय, इनमे मेरी परिणति न जाय। मैं रहू आपमे आप लीन, सो करह होहु ज्यौ निजाधीन।' ये विषयकषाय नाना प्रकारके है। उन विषयकषायोमे जो निरन्तर चित्त बनाये रहता है उससे आनन्द खत्म होता है। बाकी सारी उलझन विकल्पको जो अपने दिलसे हटा देता है और अपने चैतन्यसागरमे ही डुबकी लगाता है वह पुरुष ससारसे पार हो जाता है। क्या करना अब ? अपने स्वरूपको देखो, अपने आनन्द का धाम जो यह सहजपरमात्मतत्त्व है उसमे विश्राम करे। विश्रामका अर्थ यह है कि अपने

को निरन्तर ऐसा अनुभवते रहे कि मै तो यह स्वय स्वच्छ अविकार ज्ञानमात्र हू । मेरा वैभव तो यह ज्ञानवृत्ति ही है । मेरेमे तो मेरा ही स्वरूप है । मेरा जगतमे और कुछ नही है, ऐसा जानकर इस सहजज्ञानस्वरूपके उपयोगी बनें, बाहरके ख्यालात छोडें तो अपनी निधि अपने मे अपने आप विकट विलक्षण अलौकिक आनन्दको प्रकट करती हुई विकसित होगी । अपनेको लखें कि मै ज्ञान ही ज्ञान हूं, ज्ञानमात्र हू, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है । अन्य किसीसे मेरेको कुछ प्रयोजन नही । मेरेमे कोई न आये, किसीकी पहिचान न रहे, कही भी मेरा चित्त मत जाय । मेरे ज्ञानमे ही यह ज्ञान समाये, बस यही तो मेरा वास्तविक कदम है ।

(२२)

किसी को भी शरण मानकर किसी भी व्यामोहमे कही भी भटक आओ, आखिर शरण तुम्हारे तुम ही रहोगे । निज सहज ज्ञानानन्दस्वरूपकी सुध लो और सर्वकष्टोमे दूर हो लो ।

बाह्यमे शरण्यताका अभाव—हम आप सबकी प्रकृति है कि किसी न किसी की शरण गहते है । बालक हो, जवान हो, वृद्ध हो, गृहस्थ हो, योगी हो, प्रत्येक जीव किसी न किसीकी शरण गहनेका भाव रखता ही है । बालक है तो वह यह समझता है कि मेरेको मेरी माँ शरण है, जवान कुछ अपनेमे किसीके प्रति शरणकी बुद्धि रखते है । वृद्ध हो गए तो वे किसी पालक रक्षकके प्रति शरणकी बुद्धि रखते है । योगी हुआ तो वह भी किसीकी शरणकी बुद्धि रखता है । प्रत्येक मनुष्यमे यह प्रकृति बनी है कि वह किसी न किसी कि शरण मानता है । अब जरा विचार तो करो कि वास्तवमे शरण आपको है क्या ? यो तो हर एकको भिन्न भिन्न कुछ न कुछ शरण दिखता है । जब छोटे थे तो माँ शरण, कुछ बडे हुए तो खेल शरण, कुछ और बडे हुए तो विद्या शरण । जिसमे लौ लगी, जिसकी वासना रही वहा तो शरण कहलाता । किसीको धन शरण, किसीको प्राण शरण, भिन्न-भिन्न शरण माननेकी पद्धतियाँ है, पर वास्तवमे शरण क्या है ? इसकी पहिचान इस प्रकार होगी कि जिसको शरण पानेसे अवश्य ही अपना कल्याण हो और उसके बाद फिर शरणका पेंतडा न बदलना पडे । अभी यहाँ जो लोग जिस-जिसकी शरण मानते है उस ही कालमे उनको बदलना पडता है । उसमे फिर सार नही दिखता । दूसरेकी शरण गहता है, लेकिन जो वास्तविक शरणभूत बात होगी वह बदली नही जा सकती । मेरा तो जो है सो ही है । ससारमे किसीमे भी शरणताकी बुद्धि कर ले, किसी भी कार्यमे मोह कर लें, कही भी जावे, कही भी आस्था बनावे, पर वहाँ कुछ भी शरण न मिलेगा । जैसे फुटबालका खेल होता है ना । तो फुटबाल जिस बालकके पास पहुचेगा वह बालक उसे क्या करेगा ? क्या उसे गोदमे लेगा ? अरे वह तो लात मारकर

दूर भगा देगा । ऐसे ही यह संसारी प्राणी इस ससारकी जिन वस्तुवोंके निकट पहुचे याने अपने उपयोग द्वारा जिसकी शरण समझे वहीसे ठोकर मिलती है । चाहे वह कितना ही विश्वास पात्र हो—पिता हो, माता हो, बंधु हो, मित्र हो, कितना ही इष्ट हो, आखिर वे भिन्न होते ही है । पापका उदय आता है तो इष्टसे भी इष्ट पदार्थ इसके दुःखका कारण बन जाते हैं और फिर आखिर इष्टका वियोग भी होगा, उस समय बहुत कष्ट भोगना पडता है । तो इस लोकमे कुछ भी पदार्थ ऐसा नही कि जिसकी शरण गहे तो शरण मिल जाय ।

व्यवहारमे वीतराग देव वीतराग शास्त्र व वीतराग गुरुका शरण—शरण तो वास्तव मे अपने आत्माका स्वरूपपरिचय, स्वरूपमग्नता, स्वरूपकी आस्था यह ही शरण है और व्यवहारमे वीतराग देव, वीतराग शास्त्र, वीतराग गुरु । वीतराग देवका अर्थ है ऐसा प्रभु परमात्मा जहाँ रागद्वेष नही, एक विशुद्ध ज्ञानकी हो उछालें जहाँ चलती है । जो सर्व सकटोसे मुक्त हो गये है । जैसा था, जो स्वरूप है वह ही स्वरूप जहा प्रकट हुआ है, ऐसा प्रभु पावन परमात्मा, उसके स्वरूपकी भक्ति हम आपको शरण है । व्यवहारतः शरण प्रभुभक्ति है । जब कभी थोडा योग मिलता है, सुख मिल गया, कुछ धन वैभव आ गया, विशेष लौकिक बातोमे तरक्की हो गई तो लोग प्रायः प्रभुको भूल जाते है । ऐसी अनेक घटनाये मिलती है कि जब गरीब थे तब तो प्रभुभक्तिके लिए काफी समय निकल आता था और जब विशेष धनिक बन गए तो वहाँ प्रभुभक्तिके लिए बिल्कुल ही समय नही निकल पाता । यदि कोई पूछे कि आप मदिरमे अब शास्त्रसभामे क्यो नही आते ? तो कह बैठते है कि क्या करूँ ऐसा काममे फसे रहते है कि यहाँ आनेका अवकाश ही नही मिलता । अरे प्रभुभक्तिका हो प्रसाद है जो इष्ट समागम प्राप्त हो जाते हैं । यद्यपि प्रभु कुछ देते नही, पर प्रभुभक्तिमे जो विशुद्ध परिणाम जगता है उसका निमित्त पाकर पुण्यबध होता । उसका उदय आये तो ये सब सुख-सामग्री मिलती है ।

स्वकर्मोदयसे सुख-दुःखादि होनेका निर्णय कर परको सुख दुःखादि करनेके विकल्पको त्यागनेका संदेश—समयसारमे एक परिच्छेदमे बताया है कि जीवको जो सुख होता है वह कर्मोदयसे, मरण होता तो आयुकर्मके क्षयसे, जीवन मिलता तो आयुकर्मके उदयसे । वहा यह बतानेका यह भी प्रयोजन है कि यह जीव इन बाह्य नोकर्मोके नोकर्मरूप उपचरित निमित्तो मे विकल्प बनाये रहता है, वह विकल्प व्यर्थ है, स्वार्थ क्रियाकारी नहीं है । जैसा मैं सोचता हू वैसा परमे हो जाय, ऐसा नही होता, इसलिए विकल्प अर्थक्रियाकारी नही कहलाता । फिर होता कैसे है सुख सभी जीवोको ? किसी दूसरेके करनेसे नही होता । तो होता कैसे है ? इसका उत्तर दिया है समयसारमे कुन्दकुन्दाचार्यने अमृतचन्द्रसूरिने, जयसेनाचार्यने और सभी

अध्यात्मशास्त्रियोने कि जीवको जितना सुख दुःख जीवन मरण होता है वह कर्मका निमित्त पाकर होता है। देखो निमित्तनैमित्तिक भावका प्रतिपादन स्वभावके दर्शनके लिए होता है। कुछ थोडासा यह समझमे आया कि जगतके ये बाह्य पदार्थ ये निमित्त तो नही बनते, हम बनाते तो बनते है। हम इनमे उपयोग जोडते है तो बनते है, यो लौकिक बातोमे इन बाह्य साधनोमे थोडा फर्क देखिये—क्या फर्क कि हम इनमे उपयोग जोडे तो निमित्त, उपयोग न जोडें तो निमित्त नही है, अतः यह कल्पना निमित्त है, यह निमित्त नही है, ऐसी बात इन बाह्य पदार्थोमे देखें जो कि विकल्प सब है। लेकिन इन बहिरग साधनोमे बात देखकर समस्त निमित्तोमे यह बात कह डालना कि सभी निमित्त काल्पनिक होते है। यह तो जैनधर्मसे बाह्य बात है। समयसार ही खुद कह रहा है कि जितना जीवोको सुख होता है वह सब अपने-अपने कर्मोदयसे होता और किसीके कर्मका उदय कोई दूसरा कर नहीं सकता। इस कारण किसी जीवके द्वारा किसी अन्य जीवको सुख दुःख नही होता। अब आप यहाँ विचारो, देखो समग्र आचार्य सतोकी भक्तिमे फर्क न डालना। वे आचार्यदेव, वीतराग सत और हितका प्रतिपादन करने वाले हुए। जहाँ यह देखा कि सुख दुःख ये कर्मनिष्पन्न है, तब यह ध्यान होता है कि इससे मेरा क्या मतलब ? मैं तो एक सहज चैतन्यस्वरूप हू। मेरे मात्र अपने आपके द्वारा याने निमित्तयोग बिना ये उत्पन्न नही होते। होते मुझमे है, मगर ये परनिमित्त पाकर होते। इस कारण इनसे मेरा कुछ मतलब न रहेगा। तो अपने स्वभावकी ओर ही अभिमुख होवेगे। स्वभावदर्शनकी शिक्षा लेना।

बाह्य पदार्थके शरण होनेकी असभवता—बात यह कह रहे है कि लोकमे बाहरमें अपनेको शरणभूत कुछ भी नही है। ठोकरें खाते है, विकल्प मचाते है, उपयोग जोडते है, कभी चैन मानते है, पर यह सब कल्पनाकी बात है। ये अर्थक्रियाकारी बातें नही है। यहाँ वास्तविक निमित्तका कुछ प्रसग नही है, यह तो हो गया अटपट। जब क्रोधप्रकृतिका उदय हुआ तो सामने जो दिखा, जिसपर कुछ भी सम्बध पहलेसे बन रहा हो उसपर क्रोध उमड आता है, तो प्रतिनियत निमित्त तो कर्मोदय रहा। जगतके बाह्य पदार्थ प्रतिनियत निमित्त न रहे। प्रतिनियत निमित्त न रहे, इसका मतलब यह है कि स्त्रीको देखकर किसीके दुर्भाव होता है तो किसीको वैराग्यका भाव होता है। तब स्त्री तो दुर्भावका निमित्त न कहलायी और न वैराग्यका निमित्त कहलायी, किन्तु आश्रय कहलायी। जिसके दुर्भाव हो उसके उस प्रकारकी कषाय और वेदका उदय निमित्त है। जिसके वैराग्य जगा उसके इन कषायोका क्षयोपशम निमित्त है। तो वास्तविक निमित्तकी बात कर्ममे लगेगी जीवके विभावके प्रसंगमे। और जगतमे जो दिखता है वह सब काल्पनिक

निमित्त है। यह नियत निमित्त नही है कि इसके होने पर ऐसा ही हो। तो यह जब जगत अपनी अर्थक्रियाकारिताका विषय नही बनता तो यहाँ कुछ भी शरण नही है। यह बात समझनेके लिए कुछ ज्यादह कहनेकी आवश्यकता नही। सबके अनुभव बता रहे होंगे। हमने जिस जिससे लगाव किया आखिर उससे कष्ट मिला, शान्ति न मिली। चाहे वह इष्टका लगाव हो, चाहे वह अनिष्टका लगाव हो, बाह्यपदार्थोका सम्पर्क इस जीवको शरण नही, शान्तिका कारण नही, लेकिन जैसे मिर्च खानेका शौकीन पुरुष मिर्च खाता जाता, सी-सी करता जाता, आंसू आते जाते और फिर भी कहता है कि लावो मिर्च, ऐसे ही जगतके जीव मोह रागद्वेषसे दुःखी होते जाते है और फिर भी चाहते है कि और मिले रागका विषय। तो जिन पदार्थोसे अपनेको फांसे हुए है उन्ही पदार्थोका राग किया जाता है, तो बतलावो दु:ख कैसे शान्त हो ? क्षेत्रकी अपेक्षा देख लो—जहाँ जहाँ जावो अपनेको शरण कुछ नही। शरण कुछ नही। द्रव्यकी अपेक्षा देख लो, जिन-जिन पदार्थोका शरण चाहा वहाँसे धोखा ही मिलता है। और भावोकी अपेक्षा देख लो—हम जिस जिस भावमे अपना कल्याण समझते है, सुख समझते है वे सब विभाव है, मेरेको शरण नही है।

निजके ज्ञानमात्रत्वकी दृष्टिकी शरण्यता—तब फिर विचारिये, शरण क्या है ? क्या शरण है—इसका उत्तर तब मिल पाता है जब कि हर जगह ठोकरें खाकर यह निश्चय हो जाय कि बाहरमे शरण कुछ नही है। तो आसानीसे उत्तर मिलता है। उत्तर क्या है कि स्वरूपमे यह दृष्टि बने कि मै केवल ज्ञानस्वरूप हू। इस मुझको जानने वाला भी दुनियामे कोई नही है। परिवारके बीच है, परिजनोके बीच है, मित्रोके बीच है आप, तिस पर भी आपको जानने वाला इनमे से एक भी नही है। कुछ लोग परिचय पा रहे है तो इस भवमूर्ति शरीरको उपाधिके वश इसकी खबर रख रहे है और इसे कुछ खबर नही। जो वास्तवमें आप है, मै हू, इसका तो कोई पहिचानने वाला ही नही और जब कोई पहिचानने वाला ही नही मेरा तो मेरेको बाह्य घटनाओमे क्षोभ ही क्यो होगा ? क्षोभ होना है सकोचमे, लाजमे, शरममे, यह भाई क्या कहेंगे ? इसमे मेरा अपमान हो गया। कुछ बात लगाते है, सम्पर्क लगाते है, क्षोभ होता है। जहा अन्य दृष्टि करके यह समझा कि मेरेको तो पहिचानने वाला ही कोई नही है, इसमे फिर इसको क्षोभ क्यो होगा ? अपना वास्तविक परिचय मिले तो इसमे बल बढ़ेगा, ज्ञानबल बढेगा और देखो बहुतसी लौकिक बातें, लौकिक सकट, इनमे ज्ञान के बलसे शान्ति हो जाती है। कोई पुरुष घबडा रहा हो तृष्णावश या अन्य कारणसे बहुत बहुत घबडाहट चल रही हो तो घबडाहटमे घबडाहट बढती है और बढ बढकर इतना हो जाता है कि हर्ष फैल जाता है। ज्ञानबल यदि साथ है तो कुछ मदद तो अवश्य मिलती है।

क्या फिकर है ? क्या हो गया ? अमुक हो गया तो क्या हो गया। इष्टवियोग हो गया तो क्या हो गया ? सारी बाहरी बातें है, मैं तो ज्ञानस्वरूप हू। मेरेमे तो मेरी ज्ञानज्योति ही सर्वस्व है, इसके अतिरिक्त तो मेरा कुछ है ही नही। जहाँ ज्ञानबल आये वहाँ घबडाहटमे अन्तर अवश्य आ जाता है। अधीर पुरुषको, घबडाये हुए पुरुषको विषयसाधन रक्षा न करेंगे। अपना ज्ञान ही रक्षा कर सकेगा। किसीका पिता गुजर गया हो, पुत्र गुजर गया हो, स्त्री गुजर गई हो, पति गुजर गया हो, बडा सकट हो, वह खूब रोता हो तो क्या कोई उसे यो कहता है कि अरे रोवो नही, अभी तुमको हलुवा लाये देते हैं। ऐसा किसीने कहा क्या ? ऐसा कही होता क्या ? किसी भी विषयसाधनसे उसकी घबडाहट दूर न होगी।

ज्ञानबलसे ही घबड़ाहटसे छुटकारा—भैया ! ज्ञानबल बनेगा तो घबडाहट दूर होगी। अरे यह तो ससार है। यहाँ तो ऐसा होता ही रहता है। यह तो सब क्षणभरका समागम है। हो गया ऐसा तो क्या हुआ ? जब ज्ञानबल बढता है तो घबडाहट दूर होती है। विषय-प्रसगोसे घबडाहट दूर नही होती। एक बुढियाका छोटा लडका था, और उसके वही एक लडका था। तो आप समझो कि इस मोही जगतमे इस प्रकारके इकलौते बेटेका मरण कितने दु:खकी घटना मानी जाती है ? तो उस लडकेके मरण हो जानेसे वह बुढिया बडी परेशान होती हुई उस लडकेको अपनी गोदीमे लिए हुए फिरे, आखिर उसे एक साधु मिले। साधुके आगे बच्चा रख दिया। और कहा—महाराज ! मै बडी दु:खी हू, मेरे इस बच्चेको जिला दो तो मै आबाद हो जाऊँगी। तो साधु बोला कि अरी बुढिया माँ तू रो मत, तेरा बच्चा अभी जिन्दा हो जायगा। किन्तु तुम्हे एक काम करना पडेगा। हाँ हाँ बोलो, मै तो सब कुछ कर सकती हू। हाँ देखो तुम कहीसे पाव भर सरसोके दाने ले आवो और ऐसे घरसे लावो कि जिस घरमे कोई मरा न हो। तो बुढिया बोली—हाँ महाराज मै अभी लाती हू। एक घरमे पहुची, बोली—मेरा बेटा मर गया है, उसे जिन्दा करनेके लिए एक पाव सरसोके दाने दे दीजिए। तो घर वाले बोले—अरे एक ही पाव क्यो, एक मन ले जावो। अगर सरसोके दानोसे तुम्हारा बेटा जिन्दा होता है तो यह तो बडी खुशीकी बात है। मगर यह तो बताओ तुम्हारे घर कभी कोई मरा तो नही। अरे मेरे घर तो अनेको लोग मरे। दादा मरे, दादी मरी, पिता मरे, माता मरी, और भी कई बच्चे मरे। अरे तो नही चाहिए तुम्हारे घरकी सरसो। यो बुढिया दूसरे घर गई, तीसरे घर गई, सब जगहसे वही जवाब बराबर मिलता गया कि मेरे घर तो अनेको लोग मरे। करीब २० घर उसने जा-जाकर देख लिया, पर कोई भी घर ऐसा नही बचा जिस घरमे कभी कोई मरा न हो। इस घटनाको देखकर बुढियाको ज्ञान जग गया कि अरे यह तो ससारकी रीति है। एक न एक दिन सभीका मरण

होता है । बस इतना ज्ञान जगते ही उसका सारा दुःख खत्म हो गया । वह प्रसन्न होकर साधुके पास पहुंची । देखिये जब तक अज्ञान था तब तक बेचैनी थी कि हाय अब क्या करू, पर सही ज्ञान जग गया तो उसकी बेचैनी समाप्त हो गई, उसकी मुद्रामे प्रसन्नता झलक गई । जब साधुने बुढियाको अपने सन्मुख प्रसन्न मुद्रामे देखा तो पूछा—अरी बुढिया माँ ! क्या तेरा बेटा जिन्दा हो गया ?...हाँ महाराज जिन्दा हो गया।...कैसे ?...बस मेरा मरा हुआ ज्ञान अब जिन्दा हो गया । वास्तवमे बात यही है कि मरा हुआसा था ज्ञान । जितने भी क्लेश होते है वे सब इस ज्ञानके मरे हुएसे होनेसे होते है । जहाँ ज्ञान कुम्हला गया वहाँ दुःख है । जहाँ सत्य ज्ञान जगा वहाँ क्लेश नही होता ।

स्वयंके कैवल्य होनेकी स्थितिकी अभीष्टता—तो आखिर शरण मिलेगा तो खुदमे खुद ही शरण मिलेगा । इसको कोई दूसरा शरण नही है । मगर कैसे खुद शरण है ? यो ही सोच डाला हुआ मैं शरण नही, किन्तु जो मै वास्तविक मै हूँ उसका बोध हो तो शरण है । यो तो सभी मै मै बोलते है । यह मै आया, यह मै बैठा, मैने कहा, पर उस मै के मायने लोग तो यह ही समझते है कि यह पिडोला, यह भवमूर्ति, यह शरीर, यह पर्याय, यह मै हू । ऐसे मै को जाननेसे शरण नही मिलता, किन्तु जो केवल मै होऊँ उसकी बुद्धि होनेसे शरण मिलती है । क्या हू मै केवल ? केवल एक ज्ञानज्योतिस्वरूप परमार्थ आत्मा । जो अपने आप है, अकेले है, परके सम्बध बिना है वह मै हू । ऐसे अपने आपके इस सहजज्ञानस्वरूपमे प्रतीति रखे उसको कष्ट नही है । एक बात और जीवनमे बनावे, एक निर्णय बनावे कि मेरा प्रोग्राम है सिद्ध भगवान बननेका । एक ही बात चित्तमे रखें । देखो सब बातोमे अन्तर आ जायगा । सकटोमे, अन्य विडम्बनाओमे अन्तर दे । मेरेको तो सिद्ध होना है । अरे कैसा होना है ? अभी हो जावोगे । न सही अभी, कभी होऊँ, इसके सिवाय मेरा प्रोग्राम नही । ससारमे रुलने मे लाभ क्या ? कष्ट ही कष्ट है, आपदा ही आपदा है । ये जन्म मरण कर करके मरना ही है क्या ? मरे जन्मे, मरे जन्मे, यह करना है क्या ? या जन्म मरण बिलकुल मिट जाय, केवल मै जैसा स्वय हू वैसा ही रहू, जिससे किसी प्रकारका विकल्प न जगे, शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप रहे । क्या यह होना है ? भैया ! ऐसा रोज पढते ही होगे । 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन' यह होना है तुझे । जैसे हम प्रभुको कहते है कि हे भगवन् ! आप समस्त ज्ञेय पदार्थोके जानने वाले है । तीन लोक, तीन कालवर्ती समस्त पदार्थ आपके ज्ञानमे जाने जाते है, तिसपर भी आप अपने ज्ञानानन्दरसमे लीन है । बस यही बनना है हम आपको । देखो भाई कामकी बात, सही बात और वह भी समझमे न आये या सुहाये नही तो समझो कि उपयोगमे किसी विषका पान किया जा रहा होगा, नही तो अपनी इतनी सीधी सही

सच्ची बात ज्ञान बिना बैंठे, यह कैसे होगा ? किसी रागद्वेषके विषयमे उपयोग चलता हो तो ऐसी अपनी मुक्तिकी सीधी बात नही हृदयमे बैठती । तो इन सबको निकाल फेंको । चौबीसो घटे लदे रहते है ये विषय प्रसग । उनसे कुछ लाभ मिलता है क्या ? १० मिनट, ५ मिनट तो अपना उपयोग ऐसा बनाओ कि इसपर विषय प्रसग लदें नही, सबसे निराला विविक्त सहज आत्मतत्त्व ही दृष्टिमे रहे । तो देखो खूब समस्यायें सुलझा लो । सर्वप्रकारसे समझ समझकर प्रकाश पा लो । मेरे को तो देहसे, कर्मसे विकल्पसे, सबसे छुटकारा पाकर केवल बनना है, सिद्ध होना है, यह बात चाहे १० भवमे हो, चाहे ५ भवमे हो या अनेक भवोमे भी हो, होना यही है । दूसरा कुछ हमको नही होना है ।

भवरहित होनेकी दृढ़ भावनामे शिवमार्गका लाभ—एक कथा प्रसिद्ध है कि एक श्रावक भगवानके समवशरणमे जा रहा था । रास्तेमे एक मुनि महाराज मिले । वह एक छेवलेके पेडके नीचे बैंठे ध्यान कर रहे थे । मुनि महाराजकी वदना की और कहा—महाराज मैने समवशरणमे जानेका प्रोग्राम बनाया है । तो वे मुनि पूछते है कि हमारे भी भव जानकर आना—कितने भव शेष है ?....हाँ महाराज ! समवशरणमे गया, वहाँ यह भी बात पूछो—प्रभो अमुक मुनि महाराजके अभी कितने भव शेष रह गए ? तो वहाँ उत्तर मिला कि तुम जावो और उनसे बता देना कि इस समय जिस पेडके नीचे बैंठे हो उस पेडमे जितने पत्ते है उतने भव उनके शेष है । श्रावक चला और वे मुनि महाराज मिले उस समय वे इमलीके पेड के नीचे बैंठे थे । छेवलेके पेडके नीचेसे उठकर इमलीके पेडके नीचे चले गए थे । तो मुनि-महाराजको इमलीके पेडके नीचे बैंठा देखकर वह श्रावक माथा धुनता है—महाराज महाराज ! क्या बात, क्या बात ? अरे आप जिस पेडके नीचे बैंठे थे वहाँ होते तो मैं आपको बडी खुश खबरी सुनाता । हाँ तो सुना दो जो कुछ भी बात हो ? महाराज—मुझे समवशरणमे विदित हुआ कि मुनि महाराज जिस पेडके नीचे बैंठे तुम्हे मिलेंगे उसमे जितने पत्ते है उतने भव उनके शेष है । तो उस श्रावककी बात सुनकर मुनिराज बोले—परवाह नहीं, अरे भवका अन्त तो आया । ससारमे अनन्त प्राणी तो ऐसे है कि जिनके भवका कभी अन्त ही न आयगा और फिर अनगिनते भव एक दिनमे भी निकाले जा सकते हैं, ऐसी पर्याय पाये । आखिर क्या है ? कौन शरण है आपका ? अपनेको अपने सहजस्वभावरूपमे अपनी प्रतीति होना, इस ओर ही ज्ञान होना, इसमे ही मग्नता होना, यह बात शरण है और इसके प्रतापसे सदाके लिए सकटहीन सिद्ध अवस्था प्राप्त होगी । तब इसके लिए क्या करे कि अपना अमर्यादित जो सहज ज्ञानानन्दका स्वरूप है उसकी सुध ले । जैसे ज्ञानमे मर्यादा नही कि कितना जानें ? सारा लोकालोक जानें और इतने और भी हो अनगिनते उसे भी जाने । ऐसे ही आनन्दमे

सीमा नही। जिसमे सीमा होगी उसमे अधूरापन है। आनन्द तो निराकुल है, उसकी सीमा क्या ? तो अपने स्वरूपकी सुधके प्रसादसे अनवविज्ञान और आनन्दकी प्राप्ति होती है। उसकी सुध ले और संसारके समस्त सकटोसे छुटकारा पा ले। सारांश यह है कि बाहरमे कही हमारा कुछ शरण मत ढूंढो। शरण तो अपने आपमे विराजमान सहजस्वरूपकी दृष्टि ही शरण है।

(२३)

किसी भी दूसरे जीवसे या किसी भी अचेतन पदार्थसे लेग रच सम्बन्ध नही, किसी से कुछ भी आशा करना मूढता है, इसका फल क्लेश ही है, अत आशा पिशाचिनीसे छुटकारा लो और सत्य सुखी हो जावो।

किसीका किसी अन्य पदार्थके साथ सम्बन्धका अभाव—इस जीवको साता रहे, शान्ति रहे, सतोष मिले, इसका उपाय है समग्र पदार्थोंका किसी का किसीके साथ कुछ भी सम्बन्ध नही है, इस प्रकारका परिचय हो जाना। वास्तविकता यही है कि एक पदार्थका किसी दूसरे पदार्थके साथ सम्बन्ध नही है। जब कभी किसी पदार्थमे विकाररूप परिणमन होता है तो यद्यपि होता है निमित्त सन्निधानमे ही। निमित्त सन्निधान विना विकार हो ही नही सकता, तो भी यह उपादानकी ही कला है कि वह किस निमित्तको पाकर किस रूप परिणम जाता है ? तो उपादानमे जो परिणति हुई है वह किसी दूसरे पदार्थको लेकर नही हुई। प्रत्येक पदार्थका स्वरूप है कि वह सत् है। अपने द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, भावसे सत् है, परके द्रव्य क्षेत्र, काल, भावसे सत् नही। जैसे ये ही दो अगुलियां है—पहली और दूसरी तो पहली अगुली अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है। इस पहली अगुलीका गुण पर्याय पिण्ड परमाणु स्कध कुछ भी दूसरी अगुलीमे नही है। इस अगुलीका जो निजी क्षेत्र है वह इस ही मे है, दूसरेमें नही है, पहली अगुलीका जो भी परिणमन है, जैसे रूप है, रस है, गध है, स्पर्श है तो वह इस ही मे है, दूसरी अगुलीमे नही है और इस अगुलीमे जो शक्ति है, भाव है, गुण है वह इस ही मे है, दूसरेमे नही है, ऐसे ही प्रत्येक पर्यायको भी निरखें। प्रत्येक परमाणु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमे है। जीवोंको भी देखो—प्रत्येक जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, दूसरे जीवका गुण पर्याय कुछ भी इसमे नही आया। जब इतने स्वतन्त्र स्वतत्र है तो कैसे कहा जा सकता है कि इस पर्यायका यह पदार्थ कुछ लगता है। जो लोग किसी जीवको अपना कुछ मानते है वे अपनी कल्पनासे वैसा समझते है। अपना जगतमे कोई नही हुआ, न है, न होगा। अपनेपनका व्यवहार तो लोकमें इस कारण चलता है कि एक का दूसरेके साथ पर्यायभाव मिल गया तो वे एक दूसरेके कहलाने लगे। पर वस्तुतः किसी पदार्थका कोई दूसरा पदार्थ कुछ भी नही है।

किसी भी भिन्न पदार्थमे सम्बन्ध माननेके व्यामोहमे विडम्बना—मेरा कुछ भी बाहर कुछ नही है जब यह परिचय बनता है तब इस जीवका व्यामोह हटता है, क्योकि किसी पर भ्रम रहे कि यह मेरा है तो उससे कौन आशा रखेगा और कौन आशा रखता है। यदि कोई परमे आशा रखे तो यह नियम तो न रहा कि वह आशा सफल हो, क्योकि प्रत्येक पदार्थ जुदा-जुदा है, किसी पदार्थपर अपना अधिकार नही है। तो जब किसी पदार्थसे अपनेको कुछ मिलता नही है तो उससे आशा करना मूर्खता है, व्यामोह है और ऐसी आशा रखनेमे, व्यामोह रखनेमे, मूर्खता करनेमे केवल क्लेश ही होता है। वहाँ आनन्दकी गुञ्जाइश नही है। इस कारण कर्तव्य यह है कि आशापिशाचिनीसे छुटकारा पा लें। आशा रखें तो अपने सहजस्वरूप भगवान परमात्मतत्त्वसे आशा रखें, क्योकि यहाँ जो उपासना बनेगी वह शुद्ध ध्येयसे बनेगी और शुद्ध पर्याय अपने आपका स्वरूप है, प्रयोजन है, इसलिए उसमे बाधा नही आ सकती। लौकिक कामोमे अनेक बाधायें है। लौकिक विचारमे वास्तविकता नही होती, किन्तु स्वरूपको उपासना हो और स्वरूप ही जिसका विकसित हुआ है ऐसी प्रभुकी उपासना हो और इस स्वरूपकी आराधनाका ही जिसका सकल्प रहता हो, ऐसे सत पुरुषकी उपासना हो तो वहाँ रास्ता सही मिलता है और बाकी जगतके लौकिक पदार्थोमे दृष्टि रखनेसे इस आत्माको कुछ प्राप्ति न होगी। अत. बाह्य वस्तुओसे आशा करना व्यामोह है। जब कोई जीव अपने अपने स्वरूपके किलेको मजबूत कर लेता है, मै यदि बाह्यमे उपयोग न दूँ तो क्या कोई दूसरा पदार्थ मुझपर जबरदस्ती करता है कि तुम वहाँ उपयोग ही दो। यद्यपि निमित्तनैमित्तिक विधिसे यह बात है कि पूर्वबद्ध कर्मका उदय आया तो उस समय जीवमे प्रतिफलन होता है, उससे ज्ञानका तिरस्कार होता है और वहाँ यह जीव बाहरी इन नोकर्मोमे उपचरित निमित्तोमे अपना उपयोग जोडता है। पर ऐसी विवशता अज्ञानदशामे है। जब ज्ञान बन जाय तो उसमे यह बल आ जाता है कि कभी-कभी कर्मविपाक होने पर भी इन उपचरित निमित्तोमे उपयोग नही जुडता। चरणामृतकी पद्धतिसे अपना व्यवहार रखकर त्यागवृत्ति द्वारा अपनेमे सतोष पाता है। कर्तव्य यह है कि हम किसी बाह्यपदार्थकी आशा न बनायें। आशा करें तो अपने आपके भगवत् स्वरूप परमात्मतत्त्वकी। तो यह आशापिशाचिनी दुर्गतिमे ले जाने वाली है। जैसे यहाँ लोकमे निरखते है कि किसीको भूतनी लग जाय तो उसकी विकल दशा हो जाती है, ऐसे ही यह आशाभूतनी जिसके निवास कर जाय वहाँ इस जीवको कष्ट ही कष्ट मिलते है। कष्टसे बचना है तो वस्तुका समूल ज्ञान करें, प्रत्येक पदार्थको स्वतन्त्र स्वतन्त्र निहारो और आशासे छुटकारा पाकर सुखी हो लो।

(२४)

अचलित चिदात्मक निज अन्तस्तत्त्वमें अपने आपको स्थापित करनेसे अभ्युदित होने वाला अविनाशी सौम्य ज्ञानप्रकाश ! सदा जयवंत होओ, ॐ नमः सर्वविशुद्धाय, परमशरणाय, समयसाराय ।

परमशरण ज्ञानप्रकाशका जयवाद—देखो अपनी रक्षा करनी है तो अपना परम शरण ढूँढ लो । विचार कर, तर्कणा कर, अनुभव कर पूर्ण निर्णय कर ले कि मेरा परम शरण क्या है ? उत्कृष्ट शरण जिसकी शरण गहनेसे, नियमसे सन्तोष मिले, संकट टलें, आधि व्याधि समाप्त हो जाय । ऐसा कुछ है परमशरण तो ऐसा परमशरण बाहरमें तो कुछ हो ही नहीं सकता । जब प्रदेश भिन्न हैं और निराले हैं तो उनसे मेरे साथ शरणका क्या सम्बंध ? बाहरमें तो कोई मेरे लिए परमशरण नहीं है । खुदमें ही खुद होगा, खुदमें ही परम-शरण बन सकेगा । जो खुदका साथ निभाये, सदा रहे, कभी धोखा न रहे, ऐसा सदा रहने वाला मेरेमें क्या है ? मेरा चैतन्यस्वरूप । निर्दोष पावन जो चैतन्यस्वरूप है उसकी आराधना हो, यही मेरे लिए परमशरण है । जो स्वरूप कैसा है ? सर्वविशुद्ध है । अपने आपमें अपना स्वरूप लिए हुए है और समस्त परभावोंसे जिसका हटाव हो गया ऐसा यह मेरा सहज ज्ञान-स्वरूप परमात्मतत्त्व यही परमशरण है । वह क्या है ? अगर सीधे स्पष्ट शब्दोंमें निरखें तो वह है शुद्ध ज्ञानप्रकाश । ऐसी जानकारी, जिस जानकारीमें रागद्वेषकी मलीमसता नहीं है, इस ज्ञानप्रकाशका जब विलक्षण आनन्द अनुभवमें आ जाता है, परमशान्ति प्राप्त हो जाती है तो आराधककी भावना इस ज्ञानप्रकाशको आशीष देनेकी होती है । अहा, निर्मल ज्ञानप्रकाश ! जयवन्त हो, सहज ज्ञानज्योति तुम सदा मेरे-मेरे उपयोगमें विराजो । ऐसा ज्ञानप्रकाशके प्रति आशीष मिलता है ।

सौम्य शान्त अविनाशी ज्ञानस्वरूपका आशीष—यह ज्ञानप्रकाश सौम्य है । जहाँ रागद्वेषकी मलीमसता होती है वहाँ ही विषमता आती है । यह रागद्वेषसे रहित है ज्ञानप्रकाश इसलिए सौम्य है, शान्त है, इसके द्वारा कभी आपत्ति नहीं होती । किसी भी पदार्थका उसके स्वरूप द्वारा आपत्ति नहीं आया करती । आपत्ति तो परनिमित्तसंगसे ही सम्भव है । केवल अपने आपमें अपनी ओरसे आपत्ति हो ही नहीं सकती । वह तो उस शुद्धका स्वरूप ही है । अपना स्वरूप अपने बिगाड़के लिए नहीं हुआ करता । ऐसा यह सौम्य ज्ञानप्रकाश शाश्वत जयवन्त होवे । अहा यह ज्ञानप्रकाश दृष्टिमें आये तो इसके सारे संकट मिट जाते हैं । इसके लिए भगवानकी मूर्तिके समक्ष वहाँ इस ही की मुद्रा देखी जाती है । वहाँ यह ही भावना की जाती है शुद्ध चैतन्यप्रतिभास, यह ही है भगवानका रूप, जहाँ ज्ञान ही ज्ञान विराज रहा है ।

रागद्वेषका कोई काम नही है, ऐसा यह सौम्य प्रकाश अविनाशी है इसका विनाश कभी भी सम्भव नही। जो मेरा स्वरूप है वह कभी नष्ट हो नही सकता। स्वरूप नष्ट होनेके मायने है पदार्थ ही नष्ट हो गया। पदार्थ और पदार्थका स्वरूप, ये भिन्न-भिन्न दो बातें नही है। पदार्थ का ही एक वह रूप है। तो यह मेरा आत्मस्वरूप अविनाशी है, अनादि अनन्त है। न इसकी उत्पत्ति हुई, न इसका विनाश होगा। यह तो सदा स्वत सिद्ध अनादि अनन्त है। ऐसा अविनाशी सौम्य स्वरूप ज्ञानप्रकाश मेरेमे शाश्वत जयवन्त होवो। शाश्वत जयवन्त होनेका अर्थ है कि मेरे उपयोगमे सदा अभ्युदित रहे, ज्ञानमे ज्ञेय रहे। ज्ञानमे यह ज्ञानप्रकाश बसा रहे, ज्ञानमे विकल्पका लेश न आये। ज्ञानमे आये, इसीके मायने है कि जयवन्त होना। जयवन्त तो वह है ही। जो अविनाशी है वह कभी मिट नही सकता। जयवन्त तो है ही तभी उसकी हार नही होती। कभी वह स्वरूप नष्ट नही होता। जो स्वरूप है वह शाश्वत है, लेकिन जिसको पता न हो इस अतस्तत्त्वका उसके लिए तो कुछ नही है। वह तो दीन-हीन भिखारी ही बना रहता है। तो जयवन्त होनेका अर्थ यह है कि यह अविनाशी आत्माराम मेरे ज्ञानमे सदा बसे।

अचलित सौम्य शान्त ज्ञानप्रकाशके प्रति प्रयोगात्मक नमन—यह अविनाशी सौम्य ज्ञानप्रकाश कैसे उदित होता है, कैसे विकसित होता है और कैसे ज्ञानमे आता है ? उसका उपाय है कि अपना जो चैतन्यस्वरूप है, अन्तस्तत्त्व है उसमे अपने आपको उपयुक्त कर दे, अपने उपयोगको अपने निज शुद्ध चैतन्यप्रकाशमे लगा दे तो यह प्रकाश उदित हो जायगा। जो अब तक अज्ञानभावसे तिरस्कृत था तो तिरस्कारसे हटकर अब अपने अभ्युदयमे आ जायगा। कहाँ लगाना है इस उपयोगको ? अपने अन्तस्तत्त्वमे, अपने अन्तःस्वरूपमे। जो स्वरूप कैसा है ? अचलित है। कभी चलायमान नही हो सकता। जो जहाँ है सो उसका स्वरूप ही है। स्वरूप कभी चलित नही होता। जैसे पुद्गल है तो उसका रूप कभी चलित होता है क्या ? रूप, रस, गध, स्पर्श आदि न रहे, ऐसा कभी कोई समय आता है क्या ? तो मेरा जो अन्तःस्वरूप है ज्ञान दर्शनमय, क्या यह कभी चलित हो सकता है ? कभी मुझमे ज्ञान दर्शन न रहे, ऐसी स्थिति आ सकती है क्या ? कभी नही आ सकती। तो यह स्वरूप है अचलित। जो कभी भी चलायमान नही हो सकता। यह स्वरूप है चैतन्यात्मक। जिसका चेतना ही स्वरूप है, ऐसे अपने अन्तस्तत्त्वमे अपने आपको लगा दे याने उपयोग जुटा दे तो ऐसे ज्ञान व्यापारसे एकदम उदित हो जाता है यह अविनाशी सौम्य, ज्ञानप्रकाश, जिसके प्रकाशमे, अभ्युदयमे जो विलक्षण आनन्द होता है उस आनन्दसे तृप्त होकर यह आराधक आशीर्वाद देता है कि हे सौम्य ज्ञानप्रकाश ! सदा जयवन्त होवो, सदा उपयोगमे जुडो और उसके प्रति

नमनका भाव होता है। ॐ नमः सर्वविशुद्धाय, परमशरण्य, समयसाराय।

(२५)

मै ज्ञानमात्र हू, किसी परज्ञेयके जाननपर मुझ ज्ञानतत्त्वका अस्तित्व नही, ज्ञान अपने स्वभावसे ज्ञेयज्ञानलहरोको उछालता रहता है, परमार्थत' यही ज्ञान है, यही ज्ञेय है, यही ज्ञाता है। जयवन्त होओ मेरे स्वातन्त्र्य।

स्वतः सहजसिद्ध ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके उपयोगसे संकटोंकी समाप्ति—एकदम सीधे किस तत्त्वपर उपयोग जाय कि सारे संकट विनष्ट हो जाते है ? वह तत्त्व है अपना ज्ञानमात्र स्वरूप। मै ज्ञानमात्र हूं, खुद हू, अपने आपसे हू। अपने स्वरूपसे हू। यद्यपि इस ज्ञानका काम है कि ये सारे पदार्थ जाननेमे आ जाते है। सभी पदार्थ ज्ञानमे आते है। सब कोई तत्त्व है, सबको जिन्दगी है। ये पदार्थ सब ज्ञानमे ज्ञेय बनते है सो बनें, ऐसा ही यह एक सहज योग है कि लो मै ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूपसे ही हू। कही इन परपदार्थोको जानता हूं सो इस जाननेके कारण मेरा स्वरूप बना हो, सो बात नही। जाननेकी तो एक साधारण कला है। सो जाने बिना रहता नही यह, पर जो पदार्थ जाने जाते है उन पदार्थोके कारण जानना बन रहा हो या स्वरूप बन रहा हो, सो बात नही है। मै ज्ञानमात्र हू, किसी भी ज्ञेयके जानन के आधारपर इस मुझ ज्ञानमात्रका अस्तित्व नही, परपदार्थ पर है, बाहरी है, भिन्न हैं। मै ज्ञानमात्र आत्मा स्वतःसिद्ध हू, स्वरूपको लिए हुए हू। अब यह ज्ञानकी एक सहज कला है कि ज्ञान द्वारा समस्त त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थ ज्ञात हो जाते है। सो ज्ञात होनेपर जो जाने गए वे वे अपनी सत्तापर आधारित है। जो जानने वाला मैं हू सो अपनी सत्तापर आधारित हू। ज्ञान क्या कर रहा है और ज्ञेय क्या कर रहे है, इन दोनोकी पृथक् पृथक् बात दृष्टिमे रहती है। ज्ञानीके ज्ञान क्या कर रहा है ? अपने स्वभावसे ज्ञेय जाननरूप उछाल लेता रहता है। ज्ञेयोको कुछ नही कर रहा है। जैसे बाहरमे ये पदार्थ है, ये अपनी सत्ताको लिए पडे है, इनको यह ज्ञान कुछ नही करता। क्योंकि ज्ञान तो आत्माके प्रदेशमे है। ज्ञान जो कुछ कर पाता वह अपने प्रदेशोमे ही कर पायगा, परक्षेत्रमे नही कर सकता। तो ज्ञानने पर-पदार्थको कुछ नही किया, किन्तु परपदार्थको जाना। ऐसा जो जानना चल रहा है इस जाननरूप लहरको मै उछालता हू याने ज्ञानकी वृत्तियाँ उठती है और उसमे ज्ञेय ज्ञात होते रहते है। इतना काम मेरे ज्ञानका है और ज्ञेय क्या करता है ? ज्ञेय अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे परिणमता है। वे मुझ ज्ञानमे कुछ नही किया करते। वे ज्ञानके विषय बनते है।

ज्ञानतत्त्वकी ज्ञानमय उछालें—भैया ! वास्तविकता तो यहाँ इतनी है कि सभी पदार्थ खुदके खुदमे है, ज्ञान ज्ञानरूपमे है। पर अज्ञानी जन कुटुम्ब बढाकर अनेक अन्य विकल्प

करके अन्यको विषय बनाकर अज्ञानरूपमे प्रवर्तन कर रहा है। वस्तुतः तो जीव अपनेमे ज्ञान-परिणति करता है और ज्ञेय पदार्थ न जानते हुए, अपने स्वरूपमे परिणमते हुए अपनी सत्ता बनाये चले जा रहे है। परमार्थसे देखो तो वास्तवमे ज्ञान यही ज्ञान है जो ज्ञानमात्र रहे, ज्ञाताद्रष्टा रहे, परपदार्थमे विकल्प न मचाये, वह ज्ञान वास्तवमे ज्ञान है, यही ज्ञान है और उस समयमे परमार्थसे जाना क्या गया यही ज्ञान जाना गया। ज्ञानने ज्ञानको जाना, ज्ञानने इस खम्भेको नही जाना। देखिये यहाँ निश्चय और व्यवहारकी बात चल रही है। ज्ञानने निश्चयसे तो ज्ञानको जाना और व्यवहारसे इस खम्भेको जाना। इसका अर्थ यह नही कि खम्भेका जानना झूठ है या यह खम्भा नही है, अन्य कुछ है। इसका अर्थ यह है कि ज्ञान अपने प्रदेशोसे हटकर इस खम्भेमे फसे और इस ज्ञानसे इसको जान ले, ऐसी बात नही है। ज्ञान तो अपने ही स्वभावसे जानता है। किसको जानना है ? अपने ही ज्ञानके परिणमनको जानता है, पर वह ज्ञानपरिणमन मुझमे ऐसा हुआ जैसे कि बाह्य पदार्थ मौजूद है। उनके विषयकी ही तो जानकारी है। तो निजमे उठने वाला जो विकल्प है, ज्ञान है उसका तो यह ज्ञाता है। पर निश्चयसे बाह्य वस्तुका ज्ञाता नही है। फिर भी जिस तरहसे हमने अपने आपको जाना, जिस रूपमे हमने अपने आपको जाना वह रूप क्या है ? जैसे कि कोई दूर पदार्थ है उस प्रकारका यह ज्ञेयाकार परिणमन है, सो व्यवहार असत्य है, ऐसा कहकर न बढें, किन्तु व्यवहारमे तथ्य क्या है उसे जानकर, इस तथ्यका विकल्प भी त्यागकर अपने ही ज्ञानस्वरूपको जानते रहे, ऐसा यही ज्ञेय बन रहा है। निश्चयसे ज्ञान कौन ? मैं, निश्चयसे ज्ञेय कौन ? मै, और निश्चयसे ज्ञाता कौन ? यह मै। जानने वाला कौन ? यह मै, जो जानने वाला सो मै। और किससे जाना गया, मुझसे ही जाना गया।

उदाहरणपूर्वक निश्चय और व्यवहारके कथनमे स्वभावके दर्शनकी शिक्षा—जैसे दर्पणके सामने कोई चीज रखी है और प्रतिबिम्ब आ गया दर्पणमे, लाल कपडा रखा है तो लाल प्रतिबिम्ब आ गया, सो वह लाल प्रतिबिम्ब दर्पणकी ललाई है। उसे किसने किया ? तो सब जानते है कि लाल कपडा सामने आया तब प्रतिबिम्ब हुआ। तो न्यास होता उस प्रतिबिम्बको लाल कपडेने कर दिया और यो भी इसपर दृढ जानकारी होती है कि इस लाल कपडे को जितना जल्दी हिलाते है, हटाते है वैसे ही वैसे उतना ही उतना जल्दी-जल्दी उस दर्पणमे उस प्रकारका प्रतिबिम्ब पड जाता है। उससे भी यह ही समझे कि वह प्रतिबिम्ब इस कपडेका है, दर्पण तो स्वच्छता मात्र है। लेकिन जब निश्चयदृष्टिसे देखते है तो उसका प्रयोजन है अभिन्न प्रदेशको निरखना। प्रतिबिम्ब किसका परिणमन है उसे देखो। प्रतिबिम्ब कपडेका परिणमन नही, प्रतिबिम्ब दर्पणका परिणमन है, और प्रतिबिम्ब दर्पणके क्षेत्रमे

प्रदंणमें ही उद्‌गत हुआ है, तब वह प्रतिबिम्ब किसका परिणमन है ? तो कहा जायगा दर्पण का। देखो व्यवहारसे जो समझा उससे भी स्वभावदर्शनकी शिक्षा मिलती है। निश्चयसे जो समझा उससे भी स्वभावदर्शनकी शिक्षा मिलती है। ऐसा यह मेरा ज्ञानस्वरूप परमार्थतः यह ही ज्ञान है, यही ज्ञेय हो रहा है, यही ज्ञात हो रहा है। कैसा स्वातंत्र्य है कि आत्म-पदार्थ स्वय अकेला अपने आपमे अपनी परिणतियोंकी उछाल लगाता चला जा रहा है। इस मे किसी दूसरे द्रव्यका प्रवेश नही है। तो जो ऐसी ज्ञान उछालोको देख देखकर तृप्त रहता है, बाहरी पदार्थोके विकल्पको नही करता है ऐसा संतपुरुष ही अपने आपमे सतोष पाता है। भव-भवके बांधे हुए कर्मोका प्रक्षय करता है। आगे सुगति पायी जाती हे जहाँ धार्मिक वाता-वरण मिलेगा और वहाँ और प्रगति करेगा तो मुक्ति बहुत निकट हो जायगी। ऐसा जो अपना स्वातत्र्य है उसे देखें और ज्ञान ज्ञानरूपसे ही परिणमे, ऐसी भावना रखते हुए स्वा-तत्र्यका जयवाद करें।

(२६)

अनन्तशक्त्यात्मक होने पर भी स्वयको नयदृष्टिसे लखने लग जाता हू, तो बुद्धिसे खण्डित होकर परमस्थितिसे भ्रष्ट हो जाता हू, अतः यही ध्यान जयवत होओ—मै अखण्ड सहज शान्त अचल चैतन्य तेज हू।

अखण्ड निज तत्त्वका खण्डित कर परमार्थच्युतिमे सकटोका अनुभव—लोग अपने आपको अनेक रूपोमे देखा करते है। कालकी अपेक्षा अनेक रूप। जैसे मै बालक था, जवान हुआ, बुड्ढा होऊँगा, अमुक गतिमे था, अमुक गतिमे होऊँगा। अपने आपके बारेमे काल दृष्टि से अनेक रूप यह जीव सोचता है और गुणदृष्टिसे भी अनेक रूप सोचता है। मैं ज्ञान वाला हू, दर्शन वाला हू, चारित्र वाला हू आदिक, पर वास्तवमे देखा जाय तो क्या मुझमे या किसी भी सत्‌मे अनेक रूपता होती है ? प्रत्येक सत् अखण्ड है, उसके समझनेके लिए व्यवहारसे भेद किए जाते है। व्यवहारमे भेद किए जाना असत्य नही, क्योकि आचार्य सतोने व्यवहारसे भेद करके ही जीवतत्त्वकी पहिचान कराई है। अगर असत्य हो तो असत्य मार्गसे सत्यस्थान पर पहुचाना कठिन होता है। तो वस्तु निश्चयमे अखण्ड है और व्यवहारमे उसके खड किए जाते है समझनेके लिए। तो अपने आपको विचारें कि मै अखड हू। अखण्ड होकर भी समझ मे तो आ ही रहा है कि मुझमे अनन्त शक्तियां हैं, अनन्तशक्त्यात्मक होकर भी मै अखण्ड हू, अखण्ड होकर भी मै अनन्तशक्त्यात्मक हू। तो नाना विचित्र अनन्त शक्तिमय हू और अखड हू। ऐसे इस निज तत्त्वको मैं अपने आपको जब नयदृष्टिसे निरखता हू तो उसकी विधि मे उसके खड (अश) बन जाते है। सो जब मै इन अशोको तकता हूं तो मै परमार्थसे च्युत

हो जाता हू । परमार्थसे तो ज्ञानमे आता है एक अखड और व्यवहारसे ये नाना अशोमे (खडों मे) विदित होते है । और जब एक परमार्थ स्थिति उसके उपयोगमे नही रहती, अपनेको जब नानारूप सोचता है तो इस जीवके व्याकुलता जगती है । देखो यदि बाहरके किमी पदार्थका विकल्प हो रहा हो तब कितनी अधीरता रहती है ? सो भैया ! आत्महित देखो और समझो, सुनो, बाहरी पदार्थके विकल्प छोड दो कुछ अपने आपपर दया करके । क्योकि ये विकल्प अपनेको मददगार नही, सहायक नही, मिट जाने वाले है विकल्प । तो एक बार तो सारे विकल्पोको छोड दो ।

विकल्पपरिहारमे लाभका दिग्दर्शन—इतना भीतरमे साहस जगाओ, ज्ञानबल बढाकर कि मैं सब विकल्प छोड दूँ तो उसमें न दूसरेका नुकसान, न मेरा नुकसान । क्योकि घरके लोग या जिन-जिनकी व्यवस्थाका सम्बध है उन सबके अपने अपने उदय है और सभी जीव अपने-अपने उदयके अनुसार ही अपना जीवन भविष्य पाते हैं, उनका विकल्प मैं छोड दूँ तो उनका कोई नुकसान नही । केवल सोचता ही है यह जीव कि यदि मै न करूँ तो इसका क्या होगा ? अरे जब उनका पुण्योदय है तो आपको उनकी नौकरी करनी ही पडेगी । आपके चिन्तायें करनेसे कही उनको सुख नही हुआ, किन्तु उनके ही पुण्यविपाकमे ऐसा समागम मिला कि उनको सुख होता है, तो उनका तो कुछ नुकसान नही और विकल्प छोड दे तो इसका भी क्या नुकसान ? विकल्प छोडनेपर भीतरमे निर्विकल्प परमात्मप्रभुका दर्शन होता है । विकल्प न जगे तो यह हृदयकी बात स्वच्छ कहलाती है, और जब हृदय स्वच्छ हो तो वहाँ परमात्मप्रभुका विलास बनता है । तो विकल्प छोडकर सो लाभ ही लाभ पाया । जरा अपने भीतरका ख्याल करो । यह मैं आत्मा कोई ज्ञानवान, ज्योतिवान, प्रकाशवान, चकचकायमान कितना विलक्षण पदार्थ हू । उसमे न रूप है, न रस है, न गध है, न स्पर्श है । मुझको न कोई पकड सकता है, न जला सकता है, न बाँध सकता है । मैं अमूर्त हू, फिर भी कैसा स्वरूप, कैसा स्वभाव कि इसका जानन स्वभाव है । इसकी महिमा कितनी ही समझायी जावे, यह कितना महान है, यह मै कैसा विलक्षण पदार्थ हू कि मेरेमे मेरे ही स्वरूपसे सारा विश्व प्रतिभासमान हो जाता है, ऐसी अलौकिक शक्ति है । तो ऐसा ज्ञान ज्योतिर्मय मैं परमात्म पदार्थ हू ।

मेरा स्वरूप और मुझपर बीत रही घटना—अब भीतर विचारें कि मै तो एक ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानज्योति मात्र हू । सो इसका जो काम बनेगा वह ज्ञान ही ज्ञान बनेगा । हिसाबसे, गणितसे, युक्तिसे, अनुभवसे तो यह बात सोचनी है कि मै तो स्वतत्र हू, ज्ञानज्योतिस्वरूप हू, आनन्दमय हू, क्लेशका वहाँ काम क्या ? लेकिन बीत क्या रही है, सो भी

देख लो, क्लेश, विपदा, विकल्प, ये ही सारी विपदायें बीत रही है। सो ये आपत्तियाँ कैसे आयी है ? पहलेके बाँधे हुए कर्म उदयमे आ रहे है। और चूकि यह आत्मा चेतन है, यही उदयमे आ रहे है। तो उदयमे क्या आ रहा है ? वे कर्म, उनका अनुभाग खिल रहा, उनमे क्षोभ चल रहा, उनमे कुछ विलक्षणता, एक बवण्डरसा चल रहा। तो मेरे क्षेत्रमे, मेरे निमित्तनैमित्तिक भावमे बाँधे हुए कर्मोमे इतना बवण्डर चले तो यहाँ उसकी छाया तो होगी, झाँकी तो बनेगी, अबुद्धि पूर्वक बनी, अब एक और बढावा दिया, अपनाया, विकल्प किया, अपना समझा, तो बस यह जीव उद्विग्न हो जाता है। इतना तो ध्यान दो कि मै केवल ज्ञानस्वरूप हू, मेरेमे खुद कोई कषाय जगी, ऐसा विकल्प जगा, ऐसा क्यो हो ? होता सो है। तो उसका अर्थ यह है कि विकल्प क्या है ? कर्मोदयका जो खेल है वही इसकी झाँकीमे आया और उसमे उद्विग्न होकर इस जीवने उस कर्मविपाकके नोकर्ममे उपयोग दे डाला।

स्पष्ट भिन्न पदार्थोंसे ममताकी मूढ़ता—भैया ! जरा विवेक तो बनाओ, हम दु.खी क्यो होते है। अरे मोटीसी बात इतनी तो विचार लें कि मर गए सो अकेले जायेंगे कि कुछ यहाँसे समेटकर ले जायेंगे। कोई यहाँसे मरण करके यहाँका कुछ साथ ले जा सकेगा क्या ? अरे मरनेके बाद तो साथ कुछ नही जाता। तो जिन्दामे इन परवस्तुवोके प्रति क्यो सोचते है कि ये मेरे है ? यह तो एक कोरा विकल्प है। दस-पाँच वर्षोको आपने सोच लिया, मान लिया, विकल्प कर लिया और मर गए, सब छूट गया, तो यह ही तो गोरखधधा है ससारका कि जब तक जिन्दा है तब तक मन नही मानता और मर गए तो सब छूट गया। जहाँ गए सो फिर कुछ मिला, वहाँ भी मन नही मानता। मर गए, फिर आगे बढे। यह ही तो ससारका गोरखधधा है, इसमे मिलता क्या है ? फिर क्यो नही चेतते ? अन्याय करनेकी बात मनमे क्यो आती है ? तो देखो अपने आपके भीतर यहाँकी व्यवस्थापर ये बाहरी बातें आधारित है। बाहरी बातोपर सुख-दुःख आधारित नही, किन्तु इन भीतरी विकल्पोपर ये बाहरी बाते आधारित है। भेदविज्ञान कहते किसे है ? यही भीतरमे ऐसी दो टूक बात जचे कि यह तो मे ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मा हू और ये सब कर्मविपाकके चित्रण है। इनमे मै क्यो लगूँ ? मै तो अपने सहज परमात्मतत्त्वकी उपासनामे लगूँ, तो यहाँ भीतरमे भेदविज्ञान करना है और यहाँ अपनेको खालिस ज्ञानप्रकाशरूप हू ऐसा अनुभवना। जब बाहरमे कही कोई मदद-गार नही तो वहाँ ही क्यो दृष्टि उठाये फिरते है ? वहाँसे दृष्टि सकोचे और अपने आपके भीतर के अन्तःस्वरूपमे दृष्टि ले जायें।

अचलित चैतन्यज्योतिका आशीष—कोई किसी बातमे फंस गया हो तो कहते है कि

इसे युक्तिसे निकालो । और जब खुद इतना तेज फसा हुआ है कि इसके इस उपयोगस्वरूपपर सारे विकल्प लदे चले आ रहे है तो इसमे इसकी विडम्बना नही है क्या ? विडम्बनामे पडे है तो इसे धीरे निकालें, युक्तिसे निकालें । वह युक्ति यह ही है कि भेदविज्ञान करे । उपयोग यही बने तो ये सब विडम्बनाये दूर हो सकती है । हाँ बात यह चल रही है कि मै तो जो हू सो ही हू, अखण्ड हू, एकरूप हू । पर तीर्थप्रवृत्तिके लिए नयोके द्वारा इस अखंड आत्माके अश करके समझाये जाते हैं । सो जब हम इस भेदपर दृष्टि रखते है तो निर्विकल्प अवस्थामे नही रह पाते । सो भेदको समझकर उन्हे गौण करें और अखड अभेद जो ज्ञानस्वरूप है उसकी आराधनामे लगें और भीतरसे इस स्वरूपके प्रति आशीर्वाद प्रकट करें कि हे अखण्ड ज्ञानज्योति स्वरूप ! तुम जयवन्त प्रवर्तो, क्योकि इसके आश्रयसे ही सही मार्ग बनता है । बराबर भावना बनाओ, यही भाव जयवन्त हो । देखो अपना समा जिसमे अखण्ड चैतन्य ज्योतिस्वरूपका भाव समा जाय । मैं अखण्ड एक सहज शान्त अविचल चैतन्य तेज हू । मै तो जो हू सो हू और समझने समझानेके प्रसगमे सर्वप्रकारसे समझना पडता है । मै अखण्ड हू, यह तो स्पष्ट है, क्योकि मै कोई टुकडा बन-बनकर जुदा तो नही पडा रहता । मै एक हू, भले ही इसमे नाना विचार जगते है, पर आधार तो मैं एक ही पदार्थ हू, सहज शान्त हू । जैसे समुद्र तो शान्त रहता है मगर वायुकी प्रेरणा मिली कि वहाँ अशान्ति प्रकट होती है । मै शान्त हू और अविचल तेज हू । जो ज्ञानज्योति है वह विचल नही होती, ऐसे अविचल चेतन्य तेजमय प्रभुकी उपासनामे ही अपना कल्याण है ।

(२७)

साध्य समयसारकी साधनाकी धुनमे अन्य धुन छूट जाती है तब एकदेश व सर्वदेश त्यागरूप श्रावकलिङ्ग व श्रमणलिङ्ग अनिवारित है, तथापि अन्तस्तत्त्वके दर्शन, ज्ञान, आचरणरूप ज्ञानसचेतनसे साध्यकी सिद्धि होती है ।

अपना सार समयसार—परखा, अपना सार कहाँ मिलता है ? बाहरमे नही । खुदमे ही सार देखो और खुदमे ही शरणपना देखो । खुदमे सार क्या है ? समयसार याने अपना सहज चैतन्यतेज । इस चेतन्यतेजकी साधना बनावें याने अपने ज्ञानमे यही चैतन्यस्वरूप समाया रहे, उसकी धुन बन जाय, मेरेको तो सहज आत्मस्वरूप चाहिए । सो जो ज्ञानी पुरुष है, जिसने अपना एक ही प्रोग्राम रखा है कि मुझे सिद्ध होना है, जितने भव लगे, लगे । जो भव शेष है वह इसही धुनमे जाय । मेरेको तो सिद्ध होना है, भगवान होना है, ऐसा सोचकर कोई तो करेंगे आश्चर्य कि क्या नन्हे मुख बडी बात करते है कि मै भगवान होऊँगा । और कोई सोचेगा ऐसा कि मै भगवानस्वरूप अभी नही हू । उसका विकास नही । उसका आवरण है,

पर मेरेमे कैवल्यस्वरूप न हो तो मै कभी केवल हो ही नही सकता। भगवान होनेका नाम यह है कि मै खालिस मै ही मै रह जाऊँ, इसीको कहते है भगवान होना। आवरणसे गदा है कषायोसे मलिन है, फिर भी स्वरूप तो चैतन्य ही है। उस ही की धुन बने, दृष्टि बने तो ये मल कर्म दूर हो सकते है।

अपना साधन साध्य समयसार—देखो अपनेको साध्य क्या है ? समयसार याने दृष्टि मे क्या लेना है और अन्तिम स्थिति हमारी क्या बननी चाहिए ? सो कार्य समयसार और कारणसमयसार—ये दो बातें समझिये, मुझे क्या बनना है ? कार्यसमयसार। किस तरह बन सकेगा ? इस कारणसमयसारकी दृष्टि रखकर बन सकेगा। तो देखो समयसारकी धुन रखता है ज्ञानी जीव। जिस धुनमे ससारकी बाकी धुन छूट जाया करती है एक ही धुन रहती है—मुझे तो यह ही ज्ञानस्वभाव दृष्टिमे रहे। तो जिसको अपने कैवल्यस्वरूपकी इतनी धुन बन जाय वह बाहरी और बातोमें फसेगा क्या ? धुन इसकी बन गई अपने आपके स्वरूपको उपयोगमे लेनेकी। इसका प्रमाण यह है कि बाहरमे बाह्य वस्तुओका सम्पर्क कम हुआ या दूर हुआ ? तो जिसको अपने ज्ञानस्वरूपकी धुन बन जाती उसको दुनियाकी बाकी धुन छूट जाती है और जिनको जगतकी बाकी धुन छूट गई उनके बाह्यपदार्थोका त्याग बन जाता है। जब किसी बाहरी बातकी धुन ही न रहे तो ये बाहरी बातें मेरे पर कब तक लदी रहेगी ? तो बाह्य वस्तुवें छूट जाती ना ? जिसमे अपने ज्ञानकी साधनाकी धुन बनी है।

त्याग व्रतमे से गुजरकर ही सिद्धिका लाभ—जब बाहरी वस्तुवें छूट गईं तो जहां कुछ छूटी उसका नाम है श्रावक और जिसका सब छूटा उसका नाम है मुनि। क्यो छूटी कि उसको केवल स्वरूपसाधनाकी धुन है, अन्य कुछ धुन है ही नही। तो देखो जो साध्य समयसारकी धुनमे रहता है उसके श्रावकधर्म और मुनिधर्म ये तो आते ही है। मुनिधर्मके आये बिना, इसमे गुजरे बिना मोक्ष किसीको नही मिला, न मिल सकेगा। किसीको कुछ समय लगा, किसीको ज्यादा समय लगा। उसके ये सब श्रावकधर्म, मुनिधर्म बीचमे आते ही है। आते तो है, पर इनमे अटकनेकी बात नही करनी है, ये तो आयेंगे। जब हम अपने ज्ञानस्वरूपकी धुनमे रहते है तो वहाँ तो परिहार, आकिञ्चन्यका रूप, संयम, व्रत ये सब भाव आते है। तो यह ही कहलाया द्रव्यलिग। जिसके भीतरकी प्रगति होती है, शुद्धता होती है उसको बाहरी मुद्रामे भी ये बातें आ जाती है। जैसे लोकमे कहते है ना—"मनभूपतिके हृदयको दृग दिवान कह देय।" किसके मनमे क्या बात है ? यह उसकी स्वयकी आँखें बता देती है। बहुत मुश्किल पडती है मनकी बातको छुपानेके लिए। इन आँखोको कहाँ ले जायें, किसी तरहसे कीजिए बहुत मुश्किल पडती है। जो म

की बात है उसे आँखें बता देती है। तो देखो बाहरी मुद्रा बनी ना। कषायमे भी बाहरी मुद्रा बनती है। किसीके क्रोध आया तो बताओ कौनसे स्कूलमे सिखाया जाता कि इतना ओठ भी हिलना चाहिए, गाल थोडा भी कप जाना चाहिए, सिर भी हिल जाना चाहिए, आँखें भी टिमटिमा जानी चाहिएँ। भीतरमे कषाय जगे तो उसकी मुद्रा आती ना सामने। तो भीतरमे जिसके वैराग्य जगे तो बाहरी मुद्रा आयगी नही क्या सामने ? बाहरी मुद्रा अगर नही आती और भीतरकी बात बढ-बढकर करते तो सबका नाम कह दो गप्प। मुद्रा आये बिना रहती नही और उसी मुद्राके आधारपर यह तीर्थपरम्परा चलती है। तो जो साध्यसमयसारकी धुन रहती है उसकी बाकी धुन छूट जाती है और तब जब बाकी धुन न रही तब बाह्य पदार्थ कब तक उससे चिपटे रहे, वे दूर होते है। थोडा दूर हुए तो श्राव्कलिङ्ग बना, सब दूर हो तो साधुलिग बना, यह भाव आता है तो भी इस व्यवहारको परमार्थ नही मानते वे साधकजन। वे उसी मुद्रामे से गुजरते है और द्रव्यलिग मुद्रामे प्रीति नही रखते, प्रीति तो उनको स्वभावमे है, ज्ञानाराधनामे है। उस भेषमे रहकर भी ये ज्ञानो साधु योगीजन अपने अन्तरमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इनको ही साधना करते है और वहाँ एक शुद्ध ज्ञानका ही चिन्तन होता है। तो अपना सहज ज्ञानस्वरूप प्रकट हो ही जाता है तो ज्ञानचेतना, मेरा मै ज्ञानमात्र हू, ज्ञानको हो करता, ज्ञानको हो भोगता, ज्ञान ही सर्वस्व और फिर उस ज्ञानको सहजस्वरूप ज्ञानमे आये तो दह जो अन्तर बल है बस यह ही इस ससारसमुद्रसे पार करा देता है।

साराश इतना कि हम अपनेको ऐसा अनुभव करें कि मै ज्ञानमात्र हू, ज्ञान ज्ञान सहजस्वरूप, जिसका शुद्ध काम है जानना। बाकी मलिनता तो कर्मोदयकी बात है। देखो निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय स्वभावका दर्शन करानेके लिए होता। परतत्रता नही बताती है निमित्तनैमित्तिक भाव, किन्तु स्वरूपदर्शनके लिए तैयारी बनाती है। यह भाव हटे, नैमित्तिक है, औपाधिक है, मेरा स्वरूप नही। तो यो अन्तस्तत्त्वके दर्शन कर अपनेमे तृप्ति पायें और भव-भवके बन्धनसे छुटकारा पावें।

(२८)

जितने क्षण सहजात्मध्यानमे गुजरे उतने क्षण सार्थक है, जितने क्षण विषयकषायमे गुजरें उतने क्षण व्यर्थ है, अनर्थ है। प्रियतम ! अपने सहज शौर्यको सभालो, व्यर्थका कष्ट मत भोगो।

उपयोग लक्षण वाले जीवका संसार अवस्थामे ध्यान व्यापार—आत्माका स्वरूप उपयोग है। उपयोगका कार्य कुछ न कुछ जानते रहना है। अब यह विचारे कि हम क्या

जानें कि हमारा समय सफल हो और क्या जानें कि हमारा समय व्यर्थ जाय । यहाँका जिसने विवेक किया बुद्धिमान वही है । बाहरी अनेक बातोमें कोई विकल्प करे, लौकिक बहुत बड़ी समस्यायें सुलझाये तो वह कोई बुद्धिमानी नही है । यह तो एक ससारका यहाँका परिणमन है, जो हो सो हो, लेकिन अपने उपयोगमें इस बातका विवेक बना लेना कि मेरा हित किस विचारमे है और अहित किस विचारमे है ? ऐसा अगर विवेक बन जाय तो इसमें जीवनकी सफलता है । अब विचारो आत्मा विचार करता है ना कुछ और यह ही विचार जब कुछ निरन्तर रहता है तो इसीका नाम कहलाता है ध्यान । चित्तका विचारका एक विषयकी ओर रुक जानेका नाम ध्यान है । ध्यान अच्छे भी हो सकते, बुरे भी हो सकते । ध्यान १६ प्रकार के बताये गए है—४ आर्तध्यान, ४ रौद्रध्यान, ४ धर्मध्यान और ४ शुक्लध्यान । इनमे से धर्मध्यान और शुक्लध्यान तो मोक्षका हेतु बताया है । अब भले ही उनमे किन्ही ध्यानोमें परपराकी बात लगती है कि कौनसा ध्यान कितना पीछे है ? कौनसा ध्यान कितना आगे है ? लेकिन सूत्रजी मे बताया गया—परे मोक्ष हेतू, अन्यके दो ध्यान याने धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये मोक्षके हेतु होते है और आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान ये दो ध्यान ससारके कारण है ।

आर्तध्यानका विस्तार—आर्तध्यान, जिस ध्यानमे पीडा हो, वेदना हो उसे आर्तध्यान कहते है । तो पीडा होती है जीवको चार प्रकारसे, या तो किसी इष्टका वियोग हो जाय या किसी अनिष्टका सयोग हो जाय अथवा शरीरमे कोई पीडा आ जाय या किसी बाह्यपदार्थकी आशा, ध्यान, तृष्णा लगाये रहे तो इन चार भावोमे क्लेश होता है । क्लेशका फल क्या है ? दुर्गति । जब अपने काल्पनिक इष्टका वियोग हो गया तो यह जीव उस इष्टके समागमके लिए बहुत-बहुत चिन्तन करता है । उस चिंतनमे बडा क्लेश भरा पडा है । इष्ट कोई है नही जीव का, लेकिन कल्पनामे तो मान रखा है । कल्पनासे जिसको इष्ट मान लिया उसका वियोग हुआ तो उसके संयोगके लिए निरन्तर ध्यान बना रहता है । इस ध्यानमे कष्ट हो पाता है जीव । जिसको अनिष्ट मान लिया, अनिष्ट वास्तवमे जीवका है कुछ नही, बाहरमे पदार्थ है, अपना स्वरूप लिए हुए है । मेरा अनिष्ट क्या है ? कुछ भी नही, पर जिसको अनिष्ट मान लिया उस पदार्थमे जिसके विकारके लिए निरन्तर ध्यान बना रहे सो वह अनिष्टसंयोगज ध्यान कहलाता है, इसने भी बहुत क्लेश है और शरीरमे पीडा हो, कोई फोडा भी हो जाय तो उसीसे ही यह बडा दुख महसूस करता है और हर एक रोगके लिए यह कहता है कि यह रोग न होता, इसके बजाय कोई दूसरा होता तो अच्छा था । जो भी रोग होता है उसी रोगके प्रति बहुत पीडाका अनुभव होता है । छोटेसे छोटा भी रोग हो, जुकाम, खांसी जैसे तो इनमे भी इसको बडी पीड़ा मालूम होती है । तो शरीरिक पीड़ा हो, उस पीड़ाका अनुभव बने तो वह

भी आर्तध्यान कहलाता है। और ये जीव किसी वस्तुके इस भवके लिए आशा बनायें, परभव के लिए निदान बाँधें, किसी वस्तुकी आशा बनायी जाती रहे तो उसमे भी बहुत क्लेश होता है। ये चार कहलाते है आर्तध्यान।

रौद्रध्यानका विस्तार—चार है रौद्रध्यान—हिसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और विषयसंरक्षणानन्द। हिसा करनेमे, करानेमे आनन्द मानना, कोई दूसरा हिंसा करे तो उसे देखकर खुश होना—ये सब हिंसानन्द रौद्रध्यान है। जैसे लोकव्यवहारमे बडे मौजमे आकर किसीकी मजाक उडाते, हँसी करते तो यह हिसानन्दध्यान कहलाया। दूसरा वह दुःखी हो रहा, उसके दिलमे जो तडफन हो रही और यह उसमे मौज मान रहा तो यह हिंसानन्द रौद्रध्यान कहलाता है। इसमे बडे क्रूर विचार होते है। भले ही वे मौज मान रहे और नही समझ पा रहे कि मुझमे बडी दुष्टताका भाव हो रहा, मगर इसमे बडा क्रूर परिणाम होता है। रौद्रध्यानी पुरुषका नरक व तिर्यचगतिमे गमन बताया है। दूसरा रौद्रध्यान है मृषानद—झूठ बोलनेमे आनन्द मानना। कितने ही पुरुष ऐसे है जिनको झूठ बोले बिना चैन नही पड़ती। यहाँकी वहाँ भिडाते। जिसे कहते है चुगल और दोगला। चुगल और दोगलमे बताओ कौन बडा है? चुगल बडा है, क्योकि दोगलाका अर्थ है दो गले वाला और चुगलका अर्थ है चार गले वाला। दो गलेके तो दो ही गले है, इसकी बात उससे कहा, उसकी बात इससे कहा। गला तो एक ही है, मगर किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ, ऐसा जो बोले सो दोगला और जो चार जगह याने चार गलोसे बोले सो चुगल। उसी मामलेमे इसको कुछ कहा, दूसरेको कुछ, तीसरेको कुछ और चौथेको कुछ, ऐसा दोगलापन और चौगलापन करने वाला पुरुष अपने चित्तमे शल्य रखता है वहाँ शान्तिका, धर्मका प्रवेश नही हो पाता, पर कर्मविपाक ऐसा है कि इस चुगलीमे ही लोग आनन्द पाते है। झूठ बोलनेमे आनन्द मानना मृषानन्द दुर्ध्यान है। चौर्यानन्द—किसीकी चीज चुरा लेना, छुपकर लेना, बहकाकर लेना, डकैती करके लेना, धोखा देकर लेना, किसी भी प्रकार दूसरेकी वस्तु हडप लेना इसे कहते है चौर्यानन्द। वह भी दुर्ध्यान है और चौथा है विषयसरक्षणानन्द। ५ इन्द्रिय और मनके विषयभूत भावोकी, पदार्थोंकी रक्षामे हो जो आनन्द मानते है, वैभवको गिनने, इतना लाभ हो गया, उसको देख देखकर खुश हो रहे। यह सब विषयसरक्षणानन्द है, अथवा अपनी यश कीर्तिमे मौज मानना यह सब विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान कहलाता है।

आत्मध्यानके क्षणोकी सफलता व विषयध्यानके क्षणोकी व्यर्थता—ये आर्तध्यान रौद्रध्यान तो है ससारके हेतु और धर्मध्यान शुक्लध्यान ये दो है मोक्षके हेतु। अब इन सब ध्यानोमे से इनके दो विभाग बनाये। एकका नाम रख लीजिए आत्मध्यान, दूसरेका नाम

रखो विषयध्यान। जितने आर्तध्यान और रौद्रध्यान है वे सब विषयध्यान कहलाते हैं। इन्द्रिय व मनके विषयभूत पदार्थोंमे भावोमे किसी भी प्रकारका ध्यान बना हुआ है और जो धर्मध्यान, शुक्लध्यान है उनका सम्बन्ध आत्माके साथ है, वे सब आत्मध्यान कहलाते है। आजकल हम आपमे आत्मध्यान भी सम्भव है, उसकी अपेक्षासे देखें तो जितने क्षण आत्माका ध्यान रहता है उतने क्षण इस जीवके सफल कहलाते है, क्योकि आत्मध्यानके समयमें शान्ति सतोष, समताका अनुभव होता है और ऐसा ध्यान सुगतिका कारण है। देखो किसी पदार्थके प्रति रागका आ जाना यह बहुत बडा भारी कष्ट है। तो बाह्यपदार्थोंमे राग न जाय और अपना जो सहज ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूपमे ही 'यह मैं हू,' इस प्रकारका भाव रहे, यह सब है आत्मध्यान। जितने क्षण आत्मध्यान रहेगा उतने क्षण इस जीवके सफल कहलाते है और जितने क्षण विषयोमे ध्यान रहेगा, स्पर्श, रस, गध, रूप, शब्द, इनमे ही ध्यान रहेगा, उनका रखना, बढाना, उनसे प्रीति लगाव करना, ऐसा अगर ध्यान बना रहा तो जितने क्षण यह विषय ध्यान चलता है वे क्षण सारे व्यर्थ समझिये। इस जीवको हित क्या करेंगे वे क्षण और हितकी तो बात जाने दो, ये क्षण तो अहित ही करेंगे। इससे यह निर्णय रखिये कि जितने क्षण मेरेको विषयोके प्रति ध्यान रहता है वे क्षण सारे हमारे विपत्तिकारक है, विडम्बनारूप है। यह अपने व्यवहारकी बात कही जा रही है। हमारा मानसिक व्यवहार कैसा हो और कायिक व्यवहार कैसा हो? उसका यह सब निर्णय है। जितने क्षण आत्माका ध्यान है उतने क्षण तो सफल है और जितने क्षण विषयोमे ध्यान है उतने क्षण इसके व्यर्थ है।

गुरुकी आनके क्षणोमे विनय रहनेके कारण जीवमे शान्तिकी पात्रता—अब जरा एक मानसिक बात और देखिये—लोगोकी प्रवृत्ति प्रकृत्या स्वच्छन्दताकी हुआ करती है। नियम, सयम या किसी प्रकारका नियत्रण इसको पसद नही करते जीव। यह आदत बच्चो से लेकर वृद्ध तक सभीमे पायी जाती है। कुछ ही विवेकी ऐसे होते है जो अपनेको सयत बनाते है, सयममे अपना नियत्रण रखते है, मगर प्रायः करके बहुतसे जीव तो एक असयमकी ओर ही बढते है और इसके ही द्वारा गौरव मानते है। देखो अपनी भलाईके लिए सबसे पहली आवश्यकता है गुरुकी, शिक्षा देने वालेकी। मार्गदर्शन करने वालेके प्रति आन रहे, विनय रहे। जिसे कहते है आँखमे शरम रहे। तो जितने क्षण इस जीवको गुरुके प्रति आन रहती, अपनेसे जो बडा है, रक्षक है उसके प्रति आन विनय रहती है उतने क्षण इसके सर्व कार्य योग्य चलते रहते है, क्योकि उस समय यह विनयवान रहता है ना? जो विनयवान पुरुष है उसकी चेष्टा सुखकारी है। जो विनयरहित पुरुष है उसकी चेष्टासे खुदको भी दुःख होता है और दूसरेको भी दुःख होता है। जो आनके है वह किरकिरा नही कहलाता। जो ज्ञान

से अलग हो जाता है वह बिगडा हुआ कहलाता है। बिगडेका जीवनभर पंत नही पडता और जो सुधारकी ओर है वह कुछ बिगड गया हो तो भी सुधार उसका अन्तिम फल है। प्राचीन कालमे बडे-बडे महापुरुषोके चरित्र मिलेंगे उनमे नम्रता कितनी भरी हुई थी, उनमें आन बड़ोके प्रति कितनी रहती थी, जिसके फलमे कदाचित् कष्ट भी भोगना पडा तो आखिर अन्तिम जीवन तो सुखकारी रहा और प्रसन्नता तो कष्टके समय भी रही। श्री रामने भी अपने पिताकी आज्ञा मानी, राज्य छोडा, स्वयं जंगलमे वसे, पर चूंकि न्यायपर थे, उनका आत्मा प्रसन्नताकी ओर ही रहा। आनमे कष्ट भी हो तो भी प्रसन्नता और आनसे विपरीत हो जाय कि वहां कितने ही मौजके साधन हो तो भी प्रसन्नता नही रहती। एक बार ऐसे ही एक मित्रने सेठसे कहा कि सेठजी तुम्हारा लडका तो वेश्याके घर जाता है, बिगड गया है तुम्हारा लडका, तो सेठ बोला कि अभी हमको विश्वास नही है कि बिगड गया। तो मित्र बोला—चलो इसी समय दिखाये तुम्हे, वेश्याके घर है कि नही। सेठको ले गया। दूरसे देखा सेठने और उसी समय बालकने भी अपने पिता सेठको देखा, वेश्याके घर तो खडा ही था, सेठने लडकेको देखा, उस लडकेने सेठको देखा तो लडकेने क्या किया कि अपनी आंखो के आगे दोनो हाथ लगा लिये, सेठ वापिस आया, तो मित्र कहता है देखो बिगड गया ना [illegible]हारा बेटा ? तो सेठ बोला—नही हमारा लडका अभी नही बिगडा ?... अरे कैसे नही [illegible] ? यो कि उसने हमारी लाज रखी, हमे देखकर शर्मिन्दा हो गया। आंखके आगे हाथ ल[illegible] लिया। तो देखिये जब तक बेटेमे पिताकी आन है तब तक उसे बिगडा नही कहा, बालक आया घर अनेक बाते सोचता हुआ, और पिताके पैरोमे गिरकर कहने लगा—पिताजी माफ करो, आजसे कभी मैं ऐसा काम न करूंगा। तो भाई इस आनकी बडी महिमा है। जितने क्षण गुरुकी आन रहती है उतने क्षण यह पुरुष विनयवान रहता है। जब तक विनय रहेगी तब तक यह जीव शान्तिका पात्र है। जब यह अविनयी हो जाता है तो वहां शान्ति नही रहती और न कल्याणकी पात्रता भी रहती है।

अन्य जीवोको तुच्छ मानकर अपना बड़प्पन समझनेमे आंतरिक बेईमानी—जब इस जीवके मानकषाय जग जाती है तो मानमे फिर यह दुनियाको किस तरह देखने लगता है कि दुनियामे मैं ही महान हू बाकी लोग तो सब तुच्छ है। पहली बात तो यह समझिये कि घमंड करने वालेकी यह बडी बेईमानी है कि जब जगतके सब जीव एक समान स्वरूप वाले है तो उसने यह बात मान ली कि मैं तो इनमे महान हू और बाकी सारे जीव तुच्छ है। तो यह बेईमानी जब तक चित्तमे रहती है, मनमे ऐसा घमड रहता है कि बस मै ही हू सब कुछ, ऐसी जब चित्तमे बेईमानी रहती है याने अपनेको सबसे महान मानना और दूसरे जीवोको

तुच्छ समझना या पर्यायको अपनानेकी बुद्धि रहती है तब तक यह जीव शान्ति नही पा सकता। शान्ति प्राप्त करना है तो पहला पाठ यह सीखे कि जगतके सब जीव एक समान है। जैसा मेरा स्वरूप है, ऐसा समस्त जीवोका स्वरूप है। तो जब जितने क्षण मान रहता है उतने क्षण इस जीवको शान्ति नही रहती। व्यवहार अपना इस ढगका होना चाहिए कि वहाँ मानकषाय न बढे, न प्रवर्ते, मान किस बातका ? ज्ञानका मान। ज्ञान क्या मिला ? बडे बडे गणधर भी जो चार ज्ञानके धारी है, वे भी जानते है कि इस केवलज्ञानके आगे मेरा ज्ञान कुछ नही है। ज्ञानका क्या अभिमान ? यदि कुछ चला प्रतिष्ठा मिली, लोगो पर कुछ प्रभाव बनता है तो उस चला प्रतिष्ठाका भी क्या मान ? जहाँ ससारमे ऐसी बदलें चलती है कि जो ५ मिनट पहले राजा है वह मरकर कीडा मकौडा, कुत्ता, गधा, सूकर जैसी खोटी पर्यायको धारण कर सकता है। अथवा जो अभी सूकर गधा आदि है वह भी मरकर क्षण भरमे ही देव हो जाय। देवोमे वैक्रियक शरीर अनेक सुविधाये है ये सब बाते जग जाये ? तो जहाँ इतनी बदलें चलती है वहाँ किस बातका घमंड किया जाय ? कुलका घमड, यह भी ऐसा एक भीतरी विभाव है कि ऐसा आशय हो जाता है—मेरा कुल, मेरी जाति बहुत उत्तम है। मै बडा हू, यह छोटा यह है व्यर्थ कल्पना। अरे यह कुल क्या सदा रहनेका है ? यह शरीरके साथ कुल है। शरीर गया कुल गया। पता नही आगे क्या मिलेगा ? यह कोई घमड करने लायक बात नही है। जातिका बल—मेरी माता बडे ऊँचे घरानेकी है, मेरा मामा बहुत धनिक है, इस प्रकारका भी लोगोके घमड रहता। अरे यह कोई घमड किए जाने लायक बात नही। शरीरमें बल मिला, ताकत मिली कुछ तो उसका ही घमड होता है। मै बहुत बलशाली हू। अभी देखो जिस बच्चेमे कुछ ताकत होती है वह अपनेसे कमजोर बच्चोको कैसा सताता रहता है ? वह किसीके वश नही होता। वह अपने बलका बडा साम्राज्य समझता है। तो यह बलका भी घमड बडी दुर्वासना है। किसीको ऋद्धि मिली, यश मिला तो उसका भी घमड उत्पन्न होता। ध्यान हो, व्रत हो, सयम हो उसका भी घमड, शरीर सुन्दर हो उसका भी बडा मान। अब शरीर क्या सुन्दर है ? अरे भीतरमे खून मास मज्जा, हड्डी आदिक सारी अपवित्र चीजे भरी है, ऊपरसे एक पतला चाम चढा है। अब यह चाम जिस चाहे रगका हो गया तो उसमे गर्व किस बातका ? अरे यह रूप अगर मान लो लोकमे एक महनीय हुआ तो गध तो दुर्गन्ध हो सकती, स्पर्श भी रूखा रह सकता, और और भी अनेक अपवित्रताये बसी हुई है। और फिर विनाशीक चीज। और एक मासकी पतली चमडी बन गई उसीको मानते सुन्दरता। तो जगतमे कुछ भी चीज ऐसी नही है जो अभिमान किए जाने योग्य हो। लेकिन जीव जब मान रखता है तो सब जीवोसे अपनेको महान समझता है, ऐसा

मान रखने वाला पुरुष बेईमान है ।

लोभ और रोषमे जीवका अहित और अहितसे हटनेके प्रयासमे भलाई—जब-जब इस जीवको लोभका रंग सताता है उतने क्षण उसपर ऐसी विपत्ति दिखती है कि जैसे कोई विष खा ले और विह्वल हो जाय और उसपर जैसे आपत्ति दिखती है ऐसे ही लोभ तृष्णाके रगमे जगतके जीवोपर विपत्ति छायी हुई है । जहाँ ऐसा कुध्यान बनता है, कषायोकी बाधायें बनती है वहाँ इस जीवको कल्याणका मार्ग कैसे मिल सकता है ? ये कषायें ये दुर्ध्यान ये सब इस जीवको बरबाद करने वाली चीजे है । इष्ट मिला, राग किया । अनिष्ट मिला, द्वेष किया, बस रागद्वेष इतना ही धधा होता रहा है ससारी जीवोका । यह सब टोटेका धधा है । राग करते जावो, बढाते जावो, सम्पदा होती जाय, आखिर किसी न किसी दिन तो छूटेगी ही और दुर्ध्यानिसे मरण होगा । और सम्पदाका त्याग कर दीजिए तो मरण समयमे शान्ति समता होगी । जिस जीवको सुबुद्धि आती है उसके तो होता है प्रिय त्याग और जिसमे दुर्ध्यान आता है उसको प्रिय होता है लोभ । जोडते जावो, यही प्रिय रहता है । जिसका होनहार खोटा है उसे धनका जोडना प्रिय लगता है और जिसका होनहार भला है उसको त्याग प्रिय है । अरे यह सम्पदा कभी न कभी तो छूटेगी ही । जरा अपना कुछ सही ज्ञान बनाकर अपने मनसे छोड दें कुछ तो । जो कुछ-कुछ छोडते रहते, त्याग करते रहते, यह जिसकी आदत बनती है उसको मरते समय फिर क्लेश नही होता है । स्वामी कार्तिकेयने बताया है कि तीन बातें होती है—दान, भोग और नाश । जो पुरुष ऐसा कृपण है कि दान भी नही दे सकता और अपने भोगनेमे भी नही खर्च कर सकता उसको मरण समयमे बडा सक्लेश होता है, क्योकि वह सोचता है कि हाय मेरा यह सब धन यो ही छूटा जा रहा है । वहाँ दुर्ध्यान होता है और कोई पुरुष ऐसा हो कि जिसने जीवनमे दान भी किया हो, लेकिन अपने खाने-पीने शौक आदिमे खूब खर्च किया हो तो बताते है कि उस कजूससे तो भला है, जो न दान कर सकता, न भोग सकता, ऐसा जो दोनो ओरसे कजूस है । उसको तो मरण समयमे बहुत वेदना होती है । वह सोचता है कि हाय यह सब यो ही छूटा जा रहा है और जिसने दान तो नही किया, किन्तु भोगमे लाया वह कमसे कम इतनी बात तो सतोषमे रखता है कि मैंने खूब भोगा, खूब खर्च किया । आखिर है दोनो ही गल्तीपर, क्योकि भोग भी लोभ ही है, मगर अपेक्षाकृत बात कह रहे है । तो लोभकषाय पाप है, पापका जनक है । जितने क्षण लोभ रहता है उतने क्षण जीवको विडम्बना रहती है और क्रोधमे तो सारे ही गुण भस्म हो जाते है । क्रोधसे महान सकट आते है । जिस क्षण क्रोध आता है उस क्षण यह क्रोध अपने अन्तरको जला देता है, चैन नही पडती । तो ये कषायें, विषयोका ध्यान इस जीवके लिए अहितकारी हैं । इनसे

हटकर अपने आत्माके ध्यानमे लगे, यही कल्याणका सही पथ है।

(२९)

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता न कभी हुआ, न है, न कभी हो सकेगा, विकार निमित्त-सान्निध्य बिना न कभी हुआ, न है, न कभी हो सकेगा। इन दोनो तथ्योके परिचयसे परमात्मतत्त्वकी कृपा जगती है।

दृश्योमे मूल अदृश्य देखनेका उपक्रम—जो आत्मकल्याण चाहता है, जिसको ससार के समागमोसे, सुखोसे ऊब हो गई है, जिसको जन्ममरणका चक्र महान् सकट दिख रहा है, जन्ममरणसे छुटकारा पानेकी ही उमग बनी रहती है, ऐसा पुरुष कहाँ दृष्टि लगाता है, उसको कहाँ दृष्टि देनी चाहिए और इस जगतमे दिख क्या रहा है, इन सब बातोपर विचार करें तो सक्षेपमे यह कहो कि ज्ञानी दृश्यजगतमे अदृश्यकी खोज कर रहा है। जो जगतमे दिखता है वह सब दृश्य है, पर इस दृश्यको नही देखना चाहता, इस दृश्यमे आस्था नही है। इस दृश्य मे अदृश्य तत्त्वके प्रति आस्था है। तो अब क्या करता है ? दृश्यमे अदृश्यकी खोज करता है। अच्छा, यदि अदृश्यकी खोज करना चाहते हो तो दृश्यका भी सही परिचय जानना होगा और अदृश्यका भी सही परिचय जानना होगा। कोई कहे कि दृश्यके निर्णयसे इसका क्या मतलब ? हम तो अदृश्यको ही जानते जायेंगे सो बात न बनेगी। कोई कहे कि अदृश्यको जाननेसे क्या फायदा ? जो दिख रहा है उसे ही जानते रहे, तो यो भी काम न बनेगा। दृश्यका सही निर्णय करें और अदृश्यका अन्त. परिचय करे और दृश्यमे अदृश्यकी ओर बढ़े। इसका एक सामान्य तरीकेसे अर्थ क्या हुआ ? जो दृश्य है वह क्या है ? वह सब विकार है, विषम है, परिस्थितियाँ है। वहाँ भी देखना चाहिये शाश्वत तथ्य वह क्या है ? एक मौलिक आधारभूत शाश्वत सहजभाव। और सक्षेपमे कहना है तो कहिये पर्यायमे स्वभावको निरखना है तो देखो पर्यायका भी सही बोध करे और सहज भावका भी सही बोध करें।

पर्यायनिर्माणकी विधिका निर्णय—अच्छा पर्यायोका सही बोध करें। जो कुछ यहाँ बीत रहा है आकाररूप और भावरूप, द्रव्यपर्याय और भावपर्याय वह सब बन कैसे रहा है ? तो इसके निर्णयके लिये दो दृष्टिया जगेंगी। एक तो वस्तुस्वातन्त्र्यकी दृष्टि, एक निमित्त-नैमित्तिक भावकी दृष्टि। स्वातन्त्र्य तो बताता है कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका कर्ता नहो, कभी न हुआ, न है, न होगा, क्योकि प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना स्वरूप लिए हुए है और निमित्तनैमित्तिक भाव यह कहता है कि कोईसा भी विकारपरिणमन निमित्त सग पाये बिना न हुआ, न है, न होगा। दोनोके अपने विषय ही अलग है। दोनो ही एक साथ रहते है और दोनोके हुए बिना विकार बनता नही। जैसे वस्तुस्वातन्त्र्यका एकान्त करके

कोई कहे कि भाई मुझमे जब विकार होता है तब विकारका नवर आता है। अपने सिलसिले मे विकार होते चले जाते है। ऐसा एकान्त तो विद्वानोकी गोष्ठीमे न चलेगा, क्योकि विद्वानो की गोष्ठीमे तो युक्तिसाध्य बात हुआ करती है। युक्तिसे सिद्ध करो, क्या मुझमे विकार मात्र मेरी योग्यतासे होते जाते है ? जब जो होना है सो होता है, इतनी बात करते है तब तो व्यवस्था न बनेगी। क्रोधके बाद मान क्यो आया ? मानके बाद लोभ क्यो आया ? हमको क्यो आया ? साधुको क्यो नही आता ? और भी अनेक प्रश्न होते है। वहाँ कोई समाधान दे कि भाई जिसमे जैसी योग्यता है सो होता है। तो भाई उनमे यह योग्यता क्यो नही बन गई ? सिद्धोमे योग्यता क्यो नही हुई ? प्रश्न पर प्रश्न चलते जायेगे। आखिर मानना पडेगा कि जो विषम पर्याय होती, जो विकारपरिणमन होता वह परसगका निमित्त पाकर ही होता है, परसग बिना नही होता। जिसको समयसारमे भली भाँति स्फटिक मणिका, रागादिक परिणमनका दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है। कोई दूसरी बातका एकान्त करे कि भाई कर्मोदय जीवमे राग पैदा करते, जीव विचार क्या करे ? जब कर्मकी मर्जी आती तव राग करता, मर्जी न आयगी तो राग नही करता। इसमे जीवका क्या वश ? सारा निमित्तका ही साम्राज्य है। देखो इसमे भी बाधा है। निमित्त राग करता है तो निमित्त अपना भी काम करता और जो राग किया वह किसका ? जीवका। तो उसका भी काम किया। तो एक पदार्थ दो का परिणाम करने लगे तो अव्यवस्था बन जायगी। खुद कुछ न रहे, खुदका परिणमन न रहे तो खुदपर प्रभाव क्यो ? खुदकी बात क्यो रहे ? सो भैया ! दोनो ही तथ्य है ? कोई पदार्थ किसी अन्यका न कर्ता है, न होगा यह भी तथ्य है, क्योकि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने प्रदेशोमे ही अविभक्त है और दूसरा भी तथ्य है कि जो भी विकारपरिणमन होता है वह अन्य पदार्थोका सग पाकर होता है। स्वय अपने आप अपने अकेलेमे खुद ही निमित्त बनकर कोई विकार नही करता।

निमित्त व आश्रयभूत तथा उनका स्थान—अब परखिये कुछ थोडा भ्रम ऐसा क्यो हो जाता है कि जब जीवनिमित्तपर लक्ष्य दे तो राग होता है, निमित्त पाकर राग नही होता, किन्तु यह किसी निमित्तपर लक्ष्य दें, उपयोग दें तो राग होना है। निमित्तकी क्या बात आयी ? यह तो खुद राग करता चला जा रहा है और यही निमित्तपर लक्ष्य देता चला जा रहा है। यह बात सब जगह घटाओ कि जो मनमे आता है उसके भ्रमका कारण क्या है ? भ्रमका कारण यही है कि निमित्तका नाम जीवविकारके प्रसगमे दो प्रकारके पदार्थों पर पडता है—नोकर्मपर भी और कर्मपर भी। नोकर्मको भी निमित्त शब्दसे कहते है और कर्मको भी निमित्त शब्दसे कहते है। जिसको और सीधे अर्थमे समझें तो आश्रयभूत पदार्थ

और कर्मविपाक, तो इनमे से जो आश्रयभूत पदार्थ है, नोकर्म उनमे यह बात है कि उनमे उपयोग जोडें, उन निमित्तोका लक्ष्य करें तो जीव राग करता है। जीवके राग करने की पद्धति यह ही चली आ रही है कि निमित्तपर लक्ष्य करता हुआ राग कर रहा है। तो यहाँ तो यह बात सत्य है कि वह निमित्त क्या निमित्त है, इसमे निमित्त ही नही है। वह तो जीवने उन बाह्यपदार्थोपर लक्ष्य दिया और राग करने लगा। उनके निमित्तकी बात ही क्या रही ? यह बात तो सत्य है कि यह पर केवल आश्रयभूत है, पर दूसरा जो कर्मविपाकरूप निमित्त है वह तो वास्तविक निमित्त है, उसका ज्ञान ही नही जीवोको। एकेन्द्रिय आदिक जीव क्या कर्मविपाकको जानते है ? मनुष्योमे भी कौन जानता है कर्मविपाकको ? कुछ ने सीख लिया, आगममे बताया है, बात करते है, पर कर्मविपाकको जाननेकी बात परमावधि ज्ञानी, सर्वावधि ज्ञानी और केवलज्ञानी, इनके ही सम्भव है। तो जिसका ज्ञान नही, जो अज्ञात है उसका कोई लक्ष्य कर सकता क्या ? उसमे कोई उपयोग जोड सकता क्या ? अरे उसका तो इस विकारके साथ सम्बन्ध ऐसा है जैसे कि दो अजीव पदार्थोमे सम्बन्ध रहता है। सो यह नोकर्म, एक अधिक है जो जीव विकारके प्रसंगमे अलग निमित्त रूपसे कहा गया है। तो अब यहाँ यह विचार करें कि कर्मविपाकका सन्निधान पाकर जीवमे विकार हुआ, उस समय यदि जीवने इन बाह्य पदार्थोमे उपयोग न जोडा तब तो रहेगा वह अव्यक्त विकार अथवा कहो अबुद्धिपूर्वक विकार और यदि इन नोकर्मोमे विकार जुडता है तो वह कहलाता है व्यक्त विकार बुद्धिपूर्वक विकार।

शास्त्रोके वर्णनका प्रयोजन स्वभावके दर्शनकी प्रेरणा—अध्यात्मशास्त्रमे जो चर्चा चलती है वह स्थूल चर्चा होती है याने बुद्धिपूर्वक आस्रवका अभाव, बुद्धिपूर्वक बंधका अभाव आदि इसकी ही चर्चा रहती है, पर जो समय-समयपर गुजरता है, जो अबुद्धिपूर्वक है, जो अव्यक्त विकार है उसकी चर्चा होती है करणानुयोगमे। ये तो सब काम चले, बुद्धिपूर्वक बने, ज्ञानमे तत्त्व आया। जो कुछ वर्णन होता है वह बुद्धिपूर्वक होता है। ऐसे सब वर्णनो का भी प्रयोजन अभी जानेंगे कि सबका प्रयोजन है स्वभावका दर्शन। स्वभावका दर्शन होना चाहिए। मेरा जो निज शाश्वत स्वभाव है उसकी दृष्टि बने, बस यह ही है आत्मकल्याणका प्रयोजन। जो प्रयोजन पर रहेगा उसको कही विवाद न जचेगा और जिसको प्रयोजन है ही नही चित्तमे तो वह अनेक विडम्बनायें कर लेता है। तो हाँ देखते जाइये—वस्तुस्वातन्त्र्यने बताया कि प्रत्येक पदार्थ स्वय अपना अपना स्वरूप लिए हुए है। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका कर्ता नही होता, न है, न होगा। यह एक ध्रुव सत्य है। तीनो कालोमे ऐसी ही बात रहती है। एक तो यह है तथ्यकी बात और दूसरी बात यह आयी कि कर्मविपाक—

सन्निधान पाये बिना जीवविकार नही होता, अब यहाँ दोनो तथ्योमें प्रयोजनकी बात निरखियेगा। पहले तथ्यमे जब यह जाना कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नही, उससे परखा क्या गया ? कुछ भी सम्बन्ध नही। सर्व पदार्थ स्वतत्र है, किसीका किसी पर कुछ प्रभाव नही, किसीसे कुछ सम्बन्ध नही। इस निश्चयमे उपयोगने केवल एक अद्वैत पदार्थको देखा और उसमे भी बढे तो अद्वैत अखण्ड आत्मतत्त्वको देखा। सो यह उपाय स्वभावके दर्शनका स्पष्ट मिल ही गया। अब दूसरे तथ्यकी बात देखिये—जहाँ यह पहिचान किया कि जीव तो केवल सहज स्वच्छ ज्ञानमात्र है, जीवमे विकारका क्या काम ? कोई पदार्थ अपने विकारको करने वाला स्वभाव नही रखता। स्वरूप विकार उत्पन्न नही करता। जीव अपने आपमे अपने आप ही विकार करता। स्वरूप विकार उत्पन्न कर दे, ऐसा स्वरूप किसी भी पदार्थका नही होता। हुआ क्या फिर यहाँ ? यह आत्मा अपने स्वच्छ चैतन्यमात्र है, याने स्वरूपकी निजकी बात कही जा रही है, घटना क्या घट रही है इसको अभी बतावेंगे। अभी तो निज सहजस्वरूपकी बात कही जा रही है। है यह चेतन अपने आपमे एक शुद्ध चेतनारूप, अर्थात् किसी भी पदार्थमे किसी दूसरे पदार्थका प्रवेश नही है, याने किसीके स्वरूपमे किसी दूसरेका स्वरूप नही लगा रहता है। अन्यथा उनकी सत्ता ही नही रह सकती है इस निगाहमे जब आत्माको देखे तो आत्मा तो स्वयं एक अपनी ज्ञानचेतना स्वरूप है। अच्छा और जो विकार आया सो। अरे ये विकार मेरे स्वरूप नही, मेरी चीज नही, मेरा काम नही, यह तो कर्मविपाककी छाया माया है। अब देखो निमित्तनैमित्तिक भाव। निमित्तनैमित्तिक भाव कभी यह नही बताता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता है।

उपचारकी असत्यता और उपचारमें तथ्यकी खोज—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको करता है—यह भाषा उपचारकी है और उपचार जिस भाषामे बोले उस भाषामे वैसा मानना यह ही है बात ठीक यो जानें तो यह मिथ्या है। पर उपचारका कोई तथ्य समझे कि ऐसा कहने का आखिर प्रयोजन क्या ? अटपट उपचार क्यो नही दुनिया करती ? किन्तु एक ही किस्म से लोग बोला करते है। जैसे कहते है ना—मदिरकी धोती ले आवो, घी का घडा ले आवो, टट्टीका-लोटा ले आवो क्या क्या नही बोलते उपचार भाषामे ? अच्छा कभी कोई अटपट भी बोलता क्या ? १० पुजारी आयेंगे तो सब कहेंगे कि मदिरको धोती लावो। अरे तो क्या मन्दिरकी धोती होती है ? होती तो नही। तो जिस भाषामे बोला उसमे तो सत्यता नही दिखती, मगर उसमे कुछ तथ्य न हो, प्रयोजन न हो तो सब लोग एक समान ही क्यो बोल रहे है ? फिर तो पागलकी तरह कोई कहे कि लकडीको धोती ले आवो, कोई कहे कि पेडकी धोती ले आवो। यो अटपट तो कोई नही बोलता। सभी ऐसा ही बोलते है कि मदिरकी

धोती ले आवो क्योकि अभी मदिरमे पूजा करना है। तो प्रयोजन रहा ना सबका एक। प्रयोजन देखो तो उस दृष्टिको बताया है खुद समयसारमे कि वह ईषत् प्रयोजनवान है। तो बात निर्णयमे रखें। जिसको आत्महितकी कामना है वह सब जगहसे स्वभावदर्शनकी शिक्षा ले लेगा और उसका अर्थ भावार्थ पद्धति नीति सब तरहसे निश्चित कर लेगा कि जिससे स्वभावका दर्शन करनेकी पात्रता होती है। हाँ बात क्या कही जा रही है दूसरे तथ्यकी कि विकारभाव परनिमित्त सग बिना नही होता। उससे हमको दीखा क्या कि ये विकार मेरे स्वरूप नही है, मेरे स्वयसे उठे हुए, स्वभावसे उठे हुए भाव नही है, किन्तु पूर्वबद्ध कर्मका विपाक हुआ और उस विपाकमे स्वय रागद्वेषकी मलीमसताका अनुभाग है। सो वहाँ यह भाव बना कर्ममे कर्मका। अब उसका हुआ प्रतिफलन उपयोग और उपयोगमे इस प्रकार मलीमसता बनी और उसे मान लिया जीवने अपना स्वरूप तो यो ससरण चलने लगा। निमित्तनैमित्तिक भावकी विविक्तता बहुत बडी पुष्टताको बताता है। मै इन विभावोसे निराला हू, ये नैमित्तिक है, मेरे स्वरूप नही है, इस तरहसे वह परखता है कि रागादिक भाव मेरे स्वरूप नही। मै तो एक विशुद्ध चैतन्यमात्र हू।

मुक्तिका प्रयोजन होनेपर विवादका समापन—भाई बात यह समझना कि अपना प्रयोजन है स्वभावकी दृष्टि। अगर प्रयोजन रहेगा तो विवाद न उठेगे। अभी यही देख लो कि जो पुरुष अपना कोई प्रयोजन निर्धारित कर लेता है तो उस प्रयोजनकी साधनाकी धुनमे बहुतसी बातोकी उपेक्षा कर जाता है। इसका क्या मतलब ? हम तो इस रास्तेसे चलेगे। इसमे हमको लाभ है। लौकिक बातोमे भी आप यह समझेंगे कि प्रयोजन निश्चित कर लेने पर प्रयोजनसे बाहरकी जो बात है उनमे यह अपना दिल नही लगाता। तो यहाँ भी प्रयोजन एक ही बनावे कि मुझे यहाँ किसी भी परवस्तुका विश्वास नही। किसीमे मुझे लगाव नही रखना। मेरेको तो समस्त बाह्यपदार्थोंमे विविक्त होना है, मुक्ति पाना है। यो सीधा बोलो—हमको तो सिद्ध भगवान बनना है। एक बात निश्चयमे आये। शब्दोसे न जाने, स्वभावसे जानिये—मुझमे तो केवल एक अन्वय आत्मतत्त्व रहे वह उपाय बनाना है। सो यह बात चित्तमे आ जाय तो वह जैन सिद्धान्तके सब कथनोमे अपने स्वभाव दर्शनकी युक्तिको पा लेगा और जिसे किसी प्रकारको कषायका आग्रह है वह आग्रहमे डोलेगा, स्वभावके दर्शनका पात्र न बन सकेगा। तो यहाँ दो तथ्य कहे जा रहे हैं। पहला तथ्य एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नही है, न हुआ न होगा। इसमे मिली हमको एक वस्तुके विविक्तपनेकी दृष्टि। सभी पदार्थ मुझसे निराले है, मै भी समस्त पदार्थोसे निराला हू। मेरे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को कोई दूसरा नही करता, किसी अन्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको मै नही कर सकता, सब

की अपने आपमे अपनी फैक्ट्री चल रही है, अपना उत्पाद व्यय चल रहा है। यह एक तथ्य है। दूसरा तथ्य यह है कि स्वभाव परिणमन तो बराबर स्वप्रत्ययक होता है, उसमे पर-प्रसग की आवश्यकता नही होती, मगर जितने भी विषम कार्य है चूंकि वे विषम है, अतएव नैमित्तिक है।

विकारपरिणामोके नैमित्तिकत्वकी अनुमान प्रमाणसे सिद्धि—एक यहाँ अनुमान बना लें कि विकार भाव नैमित्तिक है, क्योकि विषम होनेसे। जो जो विषम होते है वे नैमित्तिक होते है, जो नैमित्तिक नही होता वह विषम भी नही होता। आप अनुमान प्रमाणके समस्त अगोको घटा लीजिए--प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, अन्वय व्याप्ति, व्यतिरेक व्यप्ति, अन्वयदृष्टान्त, व्यतिरेक दृष्टान्त आदि। दार्शनिक शास्त्रकी युक्ति, दृष्टि, सभी तथ्यो से घटा लीजिए। वह कैसे ? जैसे लौकिक दृष्टान्तमे लोग कहते है कि इस पर्वतमे अग्नि है धुवां होनेसे। अग्नि तो दिख नही रही थी, धुवा दिख रहा था। तो पुरुष कहता है कि इस पर्वतमे अग्नि है धूम होनेसे। अब युक्तियोके सारे अंग बना लो। जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है—अन्वय व्याप्ति, जहाँ अग्नि नही होती वहाँ धूम नही होता—व्यतिरेक व्याप्ति, जहाँ धूम होता वहाँ अग्नि होनो, जैसे रसोईघर—अन्वय दृष्टान्त। जहाँ अग्नि नही होती वहाँ धुवा नही होता, जैसे तालाब—व्यतिरेक दृष्टान्त और यहाँ धुवा है—उपनय, अतः यहाँ अग्नि होनी चाहिए निगमन। जैसे लोक प्रमाणमे अनुमान प्रमाणमे सब युक्तियाँ घटित हो तो वह निश्चित प्रमाण। ऐसे ही विकारमे घटा लीजिए, विकार तो है कभी ज्यादा हो गया, कभी कम हो गया, कभी कुछ हो गया कभी कुछ। तो जो विषम कार्य है, जिसका आदि अन्त है, विषमता है जिसमे, वह कार्य नैमित्तिक होता है, निमित्त सग पाये बिना नही होता है। यह दूसरा तथ्य है।

नैमित्तिकताके तथ्यके परिचयसे स्वभावके दर्शनकी विधिका विवरण—नैमित्तिकता के तथ्यमे स्वभावका दर्शन कैसे मिलेगा ? अरे विकार नैमित्तिक है, परभाव है, औपाधिक है, मेरा नही है, मेरा स्वरूप नही है, मेरे स्वभावकी निधि नही है। इसमे क्यो लगाव करूँ ? मेरा स्वभाव तो चैतन्यमात्र है, जो अनादि अनन्त अहेतुक है वह मेरा स्वरूप है। स्वरूपदृष्टिकी ओर गया यह जीव। हाँ तो इन दोनो तथ्योके परिचयसे सहजपरमात्मतत्त्वकी कृपा जगती है। स्वभावका अभ्युदय होना, दर्शन होना, परिचय होना यही है हमारे सहज परमात्मतत्त्वकी कृपा। तो भाई जैसे अधेसे पूछो कि तुम्हे क्या चाहिए ? तो वह कहता है कि मुझे दो नयन चाहिएँ। भूखेसे पूछो कि तुम्हे क्या चाहिए ? तो वह कहता है कि दो रोटी चाहिएँ। आत्मकल्याणार्थीसे पूछो कि तुम्हे क्या चाहिए ? तो वह कहेगा कि मुझे स्व-

भावदर्शन चाहिए। सहजस्वभावरूपमे निजको मेरे आत्माका परिचय रहे और ऐसा ही ज्ञान बनाये रहे इसके सिवाय और कुछ न चाहिए। नो यही बात आगमके सभी वचनोसे प्राप्त कर सकते है। एक मोह छोडकर, कषाय छोडकर एक आत्महितकी धुन बन जाय, बस मेरे को तो यही चाहिए तो उसे आगमके वचनोमे स्वभावके दर्शनकी शिक्षा मिलती है।

(३०)

कोई भी जीव हमारा विरोधी नही है, हम सबका स्वरूप एक समान है, अपनी शान्तिके अर्थ ही ऐसा करता जिसकी चेष्टा हमे प्रतिकूल जचती वह उस प्रतिकूल चेष्टावान कर्माक्रात परमात्मस्वरूपका भी कल्याण हो।

कल्याणके कदमोमे प्रथम कदम सकल प्राणियोमे स्वरूपकी समताका दर्शन—अपने समयको शान्तिमे गुजारनेके लिए सर्वप्रथम यह दर्शन आवश्यक है कि सर्व जीवोमे हमको समान शुद्ध चैतन्यस्वरूपका दर्शन हो। जिस प्राणीको देखा उस ही प्राणीमे मौलिक सहज तत्त्वका दर्शन हो। और जो कुछ गुजर रहा है परिणमन, जो कुछ पर्याये दिख रही है वे सब नैमित्तिक औपाधिक एक परिस्थितियाँ ही नजर आये और भीतरका जो अन्तःप्रकाशमान स्वरूप है, स्वभाव है वह दृष्टिमे रहे। कल्याणमे प्रवेश करनेके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है। भले ही कषायके उदय होते है, पूर्वबद्ध कर्मका अनुभाग खिलता है, उपयोग दूषित होता है, सारी परिस्थितियाँ सिरपर आती है, तिसपर भी भीतरमे प्रतीति यह होनी चाहिए कि ससार के सब प्राणी एक समान स्वरूप वाले है।

सरूस्वरूप जीवोमे विरोधित्वके दर्शनका अनवकाश—जब सर्व जीवोका स्वरूप एक चैतन्यमात्र है। तो अब उस स्वरूपको ओरसे देखे कि ससारके क्या कोई प्राणी मेरे विरोधी हो सकते है ? स्वरूपदर्शन करते हुए परखो। जगतमे कोई भी जीव मूलत. मेरा विरोधी नही है। द्रव्यस्वरूपकी ओरमे निगाह करें तो न कोई मेरा विरोधी है, न कोई मेरा समर्थक है। प्रत्येक पदार्थ है और अपने-अपने सत्त्वके लाभके लिए है। उनमे उत्पाद व्यय होता रहे यही उनके सत्त्वका निरन्तर लाभ है। कोई असत् न था, नया सत्त्व नही मिल रहा, मगर सत्त्व ही रहता है जब प्रतिसमय उत्पादव्यय होता रहे। तो प्रत्येक जीव एक अखण्ड ज्ञानस्वरूप है। सभी अपने-अपने स्वरूपको लिए हुए है और अपने उस स्वरूपका ही परिणमन करते हैं, पर विकट बात बन क्या जाती है कि अनादिमे अज्ञानवश हम आप शरीर और कर्म—इन दो के घिरावमे पडे हुए है। सो कर्म जो पहले बांधे हुए है उन कर्मोका उदय उदीरणाके काल मे अनुभाग खिलता है। उन कर्मवर्गणाओमे ज्ञान नही है नही तो जैसे हम आप विह्वल होते है उससे अधिक दुर्गति होती कर्मकी। कर्म अचेतन है। अनुभाग खिलते है कर्ममे, उस

समय जो कुछ अनुभागका आत्मामे, उपयोगमे प्रतिफलन हुआ, छाया प्रतिबिम्ब हुआ और उससे उपयोग जो अबुद्धिपूर्वक दूषित हुआ वहाँ ज्ञान है जीवको, सो बाहरी पदार्थमे उपयोग जोडकर उसकी विडम्बना विकार व्यक्त बना लेती है। तो हो क्या रहा है ? इस ज्ञानने तो अज्ञानरूप परिणमन किया वह ज्ञानपरिणमन ज्ञानकी ही स्थिति है। ज्ञान ही इस प्रकारके विकल्परूप परिणाम गया। और वहाँ उस दोषको, उस प्रतिफलनको अपने रूप परिणमा लिया तो बस यह जीव विह्वल बन गया। बात इस समय खुदकी खुदमे कही जा रही है। इस जीवने क्या किया ? अपने उपयोगमे जो कर्म अनुभागका प्रतिफलन हुआ उसको अपना डाला। इतना ही काम यह जीव कर रहा है। इससे आगे जीव और कुछ काम नही करता। यह लोगोका भ्रम है, ज्ञानकी विडम्बना है जो बहुत बाते चित्तमे आती कि इसने यह विरोध कर डाला, मकान बना डाला, मिटा डाला, और-और बहुतसे काम कर दिये।

जीवका अज्ञानावस्थामे कर्तृत्व व ज्ञानावस्थामे अकर्तृत्व—भिन्न पदार्थोंके बारेमे कर्म करनेका जो ख्याल बनता है यह जीवका भ्रम है। जीवने तो यहाँ इतना भर किया कि इस उपयोगमे जो कर्म अनुभागका प्रतिफलन आया, उसमे सम्पर्क पाया, उसको अपनाया, उसमे जुड गया और उसमे अभेद अनुभव करने लगा और अपने आपकी सुध भूल गया। अज्ञानी जीव यह कर रहा है मूलमे। अज्ञानी भी किसी बाह्य पदार्थको करनेमे समर्थ नही हैं, किन्तु अपने ज्ञानको अज्ञानरूप परिणमाये, यह ही कहलाता है जीवका कर्तृत्व। सो जीव करता है अज्ञान अवस्थामे, सो भी बाह्य पदार्थका नही, किन्तु अपने अज्ञान परिणामका कर्ता है और उसमे बाह्य पदार्थके कर्तृत्वका विकल्प होता है, इस कारण अज्ञानीको कर्ता कहा है। जब इस जीवको अपने स्वरूपमे और कर्म अनुभागमे भेदविज्ञान हो जाता तब यह जीव अपने ज्ञानको ज्ञानरूपसे परिणमानेका पौरुष करता है तब यह जीव ज्ञानी है। तो देखो जीव करता क्या है ? अपने आपमे अपनी ही बातको यह कर रहा है। ऐसी ही सब जीवोकी बात है। जब सब जीव केवल अपने आपके आत्मामे अपने आपके व्यापारको ही करते है तो दूसरा मेरा क्या कर सकता है ? वह अपनेमे अपना परिणमन बनाकर अपनी पर्यायको पूर्ण करता है, अगली पर्यायको प्रारम्भ करता। यही तो कर रहे है सब जीव।

प्रतिकूल चेष्टाका प्रयोजन विरोध न होकर अपने सुखकी आशाका आधार—जब सब जीवोका निज प्रदेशमे ही उपयोगका कर्तृत्व है तब फिर कोई जीव मेरेपर क्या करता है ? कोई जीव मेरा विरोधी नही है, कोई मेरा विरोध नही करता। यदि कोई प्रतिकूल चेष्टा कर रहा हो तो हम ही तो समझते है कि मेरे प्रतिकूल कुछ चेष्टा कर रहा, वह तो अपनी शान्तिके लिए, अपने सुखके लाभके लिए जो उसकी बुद्धिमे आया, विकल्पमे आया उसकी ही

तो चेष्टा करता है कि मेरेमें वह कुछ कर सकता। यदि इस दृष्टिसे देखें तो कोई भी जीव किसीका विरोधी नही है। यदि गजकुमार मुनिके सिरपर उनके स्वसुरने आगकी अगीठी जला दी, तो इतना उपसर्ग होनेपर भी स्वसुरका जीव गजकुमारसे विरोध न कर सका। किन्तु वह तो अपनेमें अपना विकल्प बना सका। सो गजकुमारको दड देनेके लिए नही, किन्तु अपने को शान्ति पानेकी आशासे किया। अब कोई शान्त हो सके अथवा न हो सके, मगर जगतके जीव जो चेष्टा करते है वे अपनी सुख शान्तिके अर्थ चेष्टा करते है, दूसरेके लिए कोई कुछ चेष्टा नही करता। तब स्पष्ट विदित होता है कि कोई जीव मेरा विरोधी नही है। अगर मै किसीको विरोधी समझता हू तो वह मेरा अज्ञान है और वह मेरे विघातके लिए है। जब कोई मेरा विरोधी हो ही नही सकता तो मै भी ऐसा सच्चा ज्ञान रखू कि जगतमे कोई जीव मेरा विरोधी नही।

अन्यको विरोधी माननेके भ्रमका माध्यम विषयसाधनोंमें बाधा—अच्छा फिर लोक मे विरोधकी बात क्यो चित्तमे आती है ? उसका कारण यह है कि सभी जीव विषयकषायों से भरे हुए है। सबको अपने विषयोके साधनोमे सुख दिख रहा है। अच्छा स्पर्श मिले जो अपनेको सुहावना हो, कोमल कठोर, ठडा, गर्म, रूखा, चिकना, जैसा जो कुछ सुहावना लगे तो प्रीति जीवोके बसी भई है। जिसको रस जैसा मीठा लगता, जो सुहावना स्वाद लगता उसकी प्रीति है सुगंध स्वरूप, अच्छे शब्द, प्रशसा इसमे जीवोके रुचि जगी हुई है। तो जब इन विषयके साधनोमे बाधा आती है तो जीव कष्ट मानता है ना। अब वह बाधा आती है तो उसमे कोई पुरुषकी चेष्टा निमित्त बनती है। तो जिस पुरुषकी चेष्टा निरखकर हमने अपने विषयमे बाधा समझी तो बस वही जीव विरोधी जचने लगता है। उसने तो विरोध नही किया। उसने तो अपनी सुख शान्तिके लिए अपना परिणमन किया, लेकिन दूसरे जीवने अपने विषयसाधनमे बाधाका निमित्त समझकर उसे विरोधी समझ लिया। तो देखो सत्य ज्ञान रहे तो भीतरमे कषायकी अग्निका सताप न रहेगा।

विरोधित्वकी मान्यता दूर करनेके दो उपाय—बाह्यमे सर्व जीवोके अन्तः तो यह निरखें कि सबमे चैतन्यस्वरूप है, समान है और बाह्य चेष्टामे यह निरखें कि इस जीवके इस प्रकारके कर्मका उदय हुआ है, उस कर्मोदयमे उपयोग दूषित हुआ और वहाँ अपनी सुख-शान्तिके लिए उसको ऐसी चेष्टा करनेकी बुद्धि उपजी, तो इसीका निर्णय सामने रखना चाहिए, पहले तो आन्तरिक यह निर्णय है कि सर्व जीव मूलमे एक समान ज्ञानस्वरूप है। सर्वस्वरूप समान है और ससारी जीवोका ही समान नही, किन्तु जितने जीव है, मुक्त है, भगवान है, अन्तरात्मा है, बहिरात्मा है, एकेन्द्रिय है निगोद है, सर्व जीवोका अर्थात् सत्त्वके

समय जो कुछ अनुभागका आत्मामे, उपयोगमे प्रतिफलन हुआ, छाया प्रतिविम्ब हुआ और उससे उपयोग जो अबुद्धिपूर्वक दूपित हुआ वहाँ ज्ञान है जीवको, सो बाहरी पदार्थमे उपयोग जोडकर उसकी विडम्बना विकार व्यक्त बना लेती है। तो हो क्या रहा है ? इस ज्ञानने तो अज्ञानरूप परिणमन किया वह ज्ञानपरिणमन ज्ञानकी ही स्थिति है। ज्ञान ही इस प्रकारके विकल्परूप परिणाम गया। और वहाँ उस दोषको, उस प्रतिफलनको अपने रूप परिणमा लिया तो बस यह जीव विह्वल बन गया। बात इस समय खुदकी खुदमे कही जा रही है। इस जीवने क्या किया ? अपने उपयोगमे जो कर्म अनुभागका प्रतिफलन हुआ उसको अपना डाला। इतना ही काम यह जीव कर रहा है। इससे आगे जीव और कुछ काम नही करता। यह लोगोका भ्रम है, ज्ञानकी विडम्बना है जो बहुत बाते चित्तमे आती कि इसने यह विरोध कर डाला, मकान बना डाला, मिटा डाला, और-और बहुतसे काम कर दिये।

जीवका अज्ञानावस्थामे कर्तृत्व व ज्ञानावस्थामें अकर्तृत्व—भिन्न पदार्थोंके बारेमे कर्म करनेका जो ख्याल बनता है यह जीवका भ्रम है। जीवने तो यहाँ इतना भर किया कि इस उपयोगमे जो कर्म अनुभागका प्रतिफलन आया, उसमे सम्पर्क पाया, उसको अपनाया, उसमे जुड गया और उसमे अभेद अनुभव करने लगा और अपने आपकी सुध भूल गया। अज्ञानी जीव यह कर रहा है मूलमे। अज्ञानी भी किसी बाह्य पदार्थको करनेमे समर्थ नही है, किन्तु अपने ज्ञानको अज्ञानरूप परिणमाये, यह ही कहलाता है जीवका कर्तृत्व। सो जीव करता है अज्ञान अवस्थामे, सो भी बाह्य पदार्थका नही, किन्तु अपने अज्ञान परिणामका कर्ता है और उसमे बाह्य पदार्थके कर्तृत्वका विकल्प होता है, इस कारण अज्ञानीको कर्ता कहा है। जब इस जीवको अपने स्वरूपमे और कर्म अनुभागमे भेदविज्ञान हो जाता तब यह जीव अपने ज्ञानको ज्ञानरूपसे परिणमानेका पौरुष करता है तब यह जीव ज्ञानी है। तो देखो जीव करता क्या है ? अपने आपमे अपनी ही बातको यह कर रहा है। ऐसी ही सब जीवोकी बात है। जब सब जीव केवल अपने आपके आत्मामे अपने आपके व्यापारको ही करते है तो दूसरा मेरा क्या कर सकता है ? वह अपनेमे अपना परिणमन बनाकर अपनी पर्यायको पूर्ण करता है, अगली पर्यायको प्रारम्भ करता। यही तो कर रहे है सब जीव।

प्रतिकूल चेष्टाका प्रयोजन विरोध न होकर अपने सुखकी आशाका आधार—जब सब जीवोका निज प्रदेशमे ही उपयोगका कर्तृत्व है तब फिर कोई जीव मेरेपर क्या करता है ? कोई जीव मेरा विरोधी नही है, कोई मेरा विरोध नही करता। यदि कोई प्रतिकूल चेष्टा कर रहा हो तो हम ही तो समझते है कि मेरे प्रतिकूल कुछ चेष्टा कर रहा, वह तो अपनी शान्तिके लिए, अपने सुखके लाभके लिए जो उसकी बुद्धिमे आया, विकल्पमे आया उसकी ही

तो चेष्टा करता है कि मेरेमें वह कुछ कर सकता। यदि इस दृष्टिसे देखें तो कोई भी जीव किसीका विरोधी नही है। यदि गजकुमार मुनिके सिरपर उनके स्वसुरने आगकी अगीठी जला दी, तो इतना उपसर्ग होनेपर भी स्वसुरका जीव गजकुमारसे विरोध न कर सका। किन्तु वह तो अपनेमें अपना विकल्प बना सका। सो गजकुमारको दड देनेके लिए नही, किन्तु अपने को शान्ति पानेकी आशासे किया। अब कोई शान्त हो सके अथवा न हो सके, मगर जगतके जीव जो चेष्टा करते है वे अपनी सुख शान्तिके अर्थ चेष्टा करते है, दूसरेके लिए कोई कुछ चेष्टा नही करता। तब स्पष्ट विदित होता है कि कोई जीव मेरा विरोधी नही है। अगर मै किसीको विरोधी समझता हू तो वह मेरा अज्ञान है और वह मेरे विघातके लिए है। जब कोई मेरा विरोधी हो ही नही सकता तो मै भी ऐसा सच्चा ज्ञान रखू कि जगतमे कोई जीव मेरा विरोधी नही।

अन्यको विरोधी माननेके भ्रमका माध्यम विषयसाधनोंमें बाधा—अच्छा फिर लोक मे विरोधकी बात क्यो चित्तमे आती है ? उसका कारण यह है कि सभी जीव विषयकषायो से भरे हुए है। सबको अपने विषयोके साधनोमे सुख दिख रहा है। अच्छा स्पर्श मिले जो अपनेको सुहावना हो, कोमल कठोर, ठडा, गर्म, रूखा, चिकना, जैसा जो कुछ सुहावना लगे तो प्रीति जीवोके बसी भई है। जिसको रस जैसा मीठा लगता, जो सुहावना स्वाद लगता उसकी प्रीति है सुगध स्वरूप, अच्छे शब्द, प्रशसा इसमे जीवोके रुचि जगी हुई है। तो जब इन विषयके साधनोमे बाधा आती है तो जीव कष्ट मानता है ना। अब वह बाधा आती है तो उसमे कोई पुरुषकी चेष्टा निमित्त बनती है। तो जिस पुरुषकी चेष्टा निरखकर हमने अपने विषयमे बाधा समझी तो बस वही जीव विरोधी जचने लगता है। उसने तो विरोध नही किया। उसने तो अपनी सुख शान्तिके लिए अपना परिणमन किया, लेकिन दूसरे जीवने अपने विषयसाधनमे बाधाका निमित्त समझकर उसे विरोधी समझ लिया। तो देखो सत्य ज्ञान रहे तो भीतरमे कषायकी अग्निका सताप न रहेगा।

विरोधित्वकी मान्यता दूर करनेके दो उपाय—बाह्यमे सर्व जीवोके अन्त: तो यह निरखें कि सबमे चैतन्यस्वरूप है, समान है और बाह्य चेष्टामे यह निरखें कि इस जीवके इस प्रकारके कर्मका उदय हुआ है, उस कर्मोदयमे उपयोग दूषित हुआ और वहाँ अपनी सुख-शान्तिके लिए उसको ऐसी चेष्टा करनेको बुद्धि उपजी, तो इसीका निर्णय सामने रखना चाहिए, पहले तो आन्तरिक यह निर्णय है कि सर्व जीव मूलमे एक समान ज्ञानस्वरूप है। सर्वस्वरूप समान है और ससारी जीवोका ही समान नही, किन्तु जितने जीव है, मुक्त है, भगवान है, अन्तरात्मा है, बहिरात्मा है, एकेन्द्रिय है निगोद है, सर्व जीवोका अर्थात् सत्त्वके

कारण होने वाला स्वरूप स्वरूपमे समान है। एक तो निर्णय यह होना है, दूसरा निर्णय यह रहता कि जो लोग जो कुछ चेष्टा करते हैं वे दूसरेका विरोध करके नही करते। दूसरेमे तो कोई कुछ करनेमे समर्थ ही नही होता। न विरोध कर सकता कोई किसी अन्यका और न दोस्ती ही कर सकता है याने न सुख दे सके, न दुख दे सके। कोई जीव अपने प्रदेशसे बाहर अपनी क्रिया नही कर सकता। तो जो भी जो कुछ चेष्टा करते है वे अपनी इच्छासे ताडित होकर अपनी विषयसाधनाका रुचिसे पीडित होकर जैसा उनको जचा वैसी वे चेष्टा करते है। सो ऐसी चेष्टा वाले जीवको देखकर हम उसके अहितकी बात मत विचारें। किन्तु यह भावना बनावें कि इस जीवमे ऐसा ज्ञान जगे, ऐसी सद्बुद्धि बने कि यह अपनी अज्ञानत' की हठ छोड दे और अपने आपमें शान्तिका लाभ ले। यह जीव भी परमात्मस्वरूप है, पर वर्तमान परिस्थितिमे कर्मसे आक्रान्त है, यह मेरा विरोधी नही, किन्तु खुद यह दयनीय है।

कर्माक्रान्तता निरखकर हितार्थ चिन्तन—जैसे दर्पणके सामने हाथ कर दिया तो दर्पणमे जो हाथके अनुरूप छाया एकदम छोडकर आयी, दूरसे देखकर नही आयी, किन्तु ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि जिस कालमे दर्पणके सामने हाथ हिलाया, यह छाया बननेमे देर नही लगती। तत्काल छाया प्रतिबिम्ब हो गया तो यह तो प्रकृष्ट दौड है। दौड मे भी समय लगता। मगर यहाँ समयमे अन्तर नही पडा तो जैसे दर्पणके सामने हाथ आया तो दर्पणमे एक आक्रमण हुआ। साफ दिखता है तो जैसे वहाँ दर्पणमे निमित्तभूत पदार्थका आक्रमण कहलाता, प्रदेशसे निकलकर आया कुछ यह बात नही है। किन्तु जैसा तात्कालिक निमित्तनैमित्तिक योग है—अनिवारित, उसको देखकर परखिये कि जैसे दर्पणके सामने हाथ आया तो दर्पणका प्रतिबिम्ब रूपसे हाथका आक्रमण बना, ऐसे ही इस उपयोगमे पूर्वबद्ध कर्म का जब विपाक आया तब यह कर्मविपाक सन्निधानमे हुआ, उस समय तो तुरंत एकदम उपयोग दूषित हो गया। उपयोगमे प्रतिबिम्ब हुआ, प्रतिफलन हुआ तो यह कर्मका आक्रमण कहलाया। हम आप लोगोपर भव-भवके बांधे हुए कर्मके आक्रमण चल रहे है कि उस ओर तो कुछ ख्याल नही करते और बाहरमे जगतके जीवोको यह मेरा प्यारा, यह मेरा अनिष्ट, यह मेरा पराया, इस तरहके विकल्प बनाकर अपने आपके उपयोगको मथे जा रहे है। किसी भी जीवको विरोधी मान लें, शत्रु मान ले तो इसका असर उसपर कुछ होता है क्या? वह तो जो है सो ही है, पर जो विरोधीकी मान्यता रखता है बुरा तो उसका ही उपयोग हो जाता है। कोई शिकारी शस्त्र लेकर किसी जीवका वध करनेके ख्यालसे चला और रास्तेमे उसे मुनिके दर्शन हुए। तो साधुदर्शन करके शिकारीके मनमे रोष आता है—आज तो असगुन हुआ है, आज तो शिकार नही मिलनेका यह साधु सामने पड़ गया। शिकारीको साधुके प्रति

क्या घृणा, विरोध, ईर्ष्या नही जगती ? जगती, मगर इस दुर्भावके कारण कुछ मुनिराज पर भी बात बीती क्या ? वह तो अपने शुद्ध ज्ञानानन्दरसका ही स्वाद ले रहा है । वहाँ शिकारी की दुर्भावनाका कोई प्रभाव नही पडता । तो ऐसे ही समझिये कि जगतके जिन-जिन जीवो पर अपना दुर्भाव बना रहता है उस दुर्भावका फल स्वयंको ही भोगना पडता है, कोई दूसरा नही भोगने आता ।

अपनी विडम्बना बनानेमे खुदका उत्तरदायित्व—भैया ! एक मोटी बात हृदयमे रख लो, हम पाप करे तो उसका फल हमको ही भोगना पडेगा । भले ही इसके पूर्व पुण्यका उदय है, जो अन्याय करे, पाप करे, फिर भी उसे कोई लौकिक बाधायें नही आ रही है, ऐसा ही पूर्व पुण्यका उदय है और उस घटनामे हम अन्याय करें, पाप करें, अनाचार करें तो जो कर्म का बन्ध होगा वह कर्मका बध छोडेगा नही । कर्मबधसे निवृत्त होनेमे, असमयमे ही कर्मबन्धके फलको तोड देनेमे महान तपश्चरणकी आवश्यकता होती है । उत्कृष्ट समाधिभाव ही पूर्वबद्ध कर्मको टालनेमे समर्थ हो सकता है । केवल एक उस अलौकिक स्थितिके अभावमे सारी स्थितियाँ ऐसी है जो पूर्वबद्ध कर्मको टालनेमे समर्थ नही है । तो हम जो कर्म बाँधते है, कर्मका सचय होता है, भले ही कोई यह सोचे—हमारे इतना बडा ज्ञान है, हमारा इतना बडा बल है, इतना बडा चला है, ये कर्म मेरा क्या करेंगे ? लेकिन कर्मकी जब उदयउदीरणा होती है उस समय इस जीवको क्लेश भोगना पडता है । भोगता है वह अपने आपके विकल्पको, मगर निमित्तनैमित्तिक भावकी अनिवारिता तो देख लीजिए ।

विरोधभावना तजकर स्वपरहित शिवमय आशीषकी भावना रखनेका परिणाम—भैया ! हम कुछ अपनेमे भय रखे, हमसे बुरा काम न बनना चाहिए, क्योकि मेरा जो बध होगा वह मुझे ही भोगना पडेगा, कोई दूसरा न भोगेगा । सो अपने आपपर दया रखते हुए अपने आपकी ऐसी सद्भावना बनाये कि यह मोक्षमार्ग मेरेको मिले और कभी सदाके लिए इन ससारके सकटोसे छूट जायें । ऐसी एक शुद्ध वृत्ति पानेके लिए मेरेमे कुछ ज्ञानका व्यापार करना होता है । उन सबमे पहला नम्बर है इस बातका कि हम जगतके सब जीवोमे स्वरूप समान देखें और उसे निरखकर यह निर्णय रखें कि कोई जीव किसी दूसरेका विरोधी नही है । कोई मेरा विरोधी नही, जो करता है वह कर्मसे आक्रान्त होकर पायी हुई बुद्धिसे ऐसी-ऐसी चेष्टाये करता है, मेरे विरोधसे नही करता । ऐसा जानकर उन विरोधी जनोके प्रति दयाभाव रखे और उसको एक आशीष दें कि कर्मसे आक्रान्त हुए इस जीवको अपने आपके अन्त.प्रकाशमान परमात्मस्वरूपका दर्शन हो और अपने सहज शुद्ध परमात्मतत्त्वका दर्शन करके अपना कल्याण पावे । उसके प्रति कल्याणकी भावना बनाये । विरोधी किसी भी जीव

को न निरखें तो इसमे हम आपकी सुरक्षा है ।

(२१)

किसी भी जीवके प्रति विरोधभाव रखनेसे मेरी ही बरबादी है, क्योकि विरोधभाव पाप है, उससे स्वयको सक्लेश होता है, अतः किसीके प्रति विरोधभाव न जगे और सभी जीवो मे परमात्मस्वरूप दिखे ।

विकारपरिणमनसे जीवकी ही बरबादीकी सम्भवता—समस्त पदार्थ ६ जातिके है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इनमेसे चार द्रव्य तो सदा शुद्ध रहते हैं—धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इन पदार्थोमे न कभी विकारपरिणमन हुआ, न है, न होगा । विकारपरिणमन केवल दो प्रकारके पदार्थोमे ही सम्भव है—जीव और पुद्गल । सो पुद्गल तो अचेतन है, उसमे कुछ भी विकार हो उससे उसका क्या नुकसान पडता है ? कैसा ही परिणाम लो, जब दुःखका अनुभव नही, जब किसी प्रकारका विकल्प नही तो पुद्गलकी कुछ भी परिणति बने उससे पुद्गलको क्या नफा-टोटा है ? एक जीव ही द्रव्य ऐसा है कि उसमे विकार हो तो उसका प्रभाव इसपर पडता है । सुख हो, दुःख हो, क्षोभ हो, विकल्प हो, यो इसपर विकारका प्रभाव होता है । तो जीवके बारेमे ही सोचना है, यह जीव दो प्रकारके पदार्थोंको विषय करता हुआ अपनेमे क्षोभ मचाता है—जीव और पुद्गल । सो न तो वास्तविक पुद्गलको यह जानता है और न वास्तविक आत्माको जानता है । पर्यायरूप ही पुद्गलमे, पर्यायरूप ही जीवमे यह कुछ आस्था करता, विकल्प करता । तो यहाँ जीव जीव और पुद्गलके अतिरिक्त निकृष्ट जीव और पुद्गलमे अपना उपयोग जोडकर अपनेको क्षुब्ध बनाये रहता है । अब उपयोग जुडनेपर दो प्रकारकी बुद्धियाँ तो होती है—इष्टबुद्धि और अनिष्टबुद्धि, राग और द्वेष । सो राग भी इस जीवके लिए झझट है और द्वेष भी जीवके लिए झझट है, क्यो झझट है कि ये जीवके स्वरूप नही है, स्वभाव नही है, पर निमित्त पाकर हुए है । सो जैसे यह मै जीव वस्तुत न किसीसे दोस्ती रख सकता, न किसीसे विरोध रख सकता, अपने ही विकल्पमे हम इस तरहका भाव बनायें अथवा विरोधका भाव बनाये, ऐसी ही सब जीवोके साथ बात है । कल्पनासे वह मित्रता और विरोधका भाव बनाता है । तो जब हमारा अन्य किसी पदार्थसे कोई सम्बन्ध नही, वे मेरेको कुछ करते नही, मै अन्यमे कुछ करता नही तो ऐसा निर्णय पाकर अपनेको ऐसा स्वच्छ बनावें कि यह सदा भान रहे कि जगतमे मेरा कोई जीव विरोधी नही है, अविरोध है । कोई मित्र भी नही और विरोधी भी नही ।

विरोधभाव रखनेसे विरोधभाव रखने वालेकी बरबादी—जब जगतमे कोई जीव

मेरा विरोधी नही, जैसा कि उक्त निबधमें आया था कि जितने जीव चेष्टा करते है वे अपनी सुख शान्तिके लिए करते है वे मेरे विरोधके कारण नही करते । विरोध कहाँ मिलेगा ? यह सिद्धान्त नही, किन्तु इष्ट बुद्धिमे राग होना यह उनकी मौलिक बान बन गई मूलमे । सो लोकमे जिनसे बाधा जचती है उन्हे यह जीव विरोधी समझता है । वस्तुतः इस जीवका कोई जीव विरोधी नही है । किसी भी जीवके प्रति विरोध भाव रखना या विरोधकी बुद्धि बनाना यह तो अपनी बरबादीके लिए ही प्रवृत्ति है, दूसरेकी क्या बरबादी ? धन्यकुमार ही तो था ना, जिसके भाई ने कितना ही कोई मारनेका उपद्रव रचा और उन्ही घटनाओमे उसे धन लाभ हुआ, वैभव लाभ हुआ । श्रीपालको ही तो धवल सेठने समुद्रमे गिराया । गिर गया, किसी तरह किनारे आया तो वहाँ आधे राज्यका लाभ हुआ, राजपुत्रीके साथ विवाहकी बात हुई । तो धवल सेठने सोचा कि यदि मै इसे समुद्रमे गिरा दूँगा तो यह मर जायगा, सो समुद्र मे पटक दिया, पर हुआ वही जो उसके उदयमे था । तो कोई भी जीव किसीका अनिष्ट नही करता । कोई जीव मेरा विरोधी नही, मुझको किसी जीवके प्रति विरोध भाव न रखना चाहिए । हाँ कोई परिस्थिति है और कुछ बात बनती है तो वह एक घटना है, मगर भीतर मे श्रद्धान यही रखना चाहिए कि जीव जीव तो सब समान है, किसीका कोई विरोधी नही होता । यह बात सब अपनी दयाके लिए कही जा रही है । किसी दूसरेके ऐहसानके लिए धर्म नही हुपा करता । धर्मपालनका प्रयोजन है खुदको शान्ति और समताका लाभ होना । धर्म करके जैसे कोई समझता कि मै महान हू, ये लोग हमे पूजे, हमे मानें, हम इनके धर्मका बडा काम कर रहे है, ऐसी कुछ भी ऐहसानकी बात नही है । जो धर्म करता है वह एक अपने हितके लिए करता है । हाँ तो किसी जीवके प्रति विरोधभाव रखनेसे बरबादी किसकी है ? जिसके प्रति विरोध रखा उसकी या जिसने विरोधभाव बनाया उसकी । जिसने विरोध भाव बनाया उसकी बरबादी है । क्योंकि विरोधीभाव पापभाव है और सक्लेशका करने वाला है । सर्वजीव एक समान स्वरूप वाले हैं, रहा ऊपरका अन्तर सो यह सब कर्मलीला है, यह अन्तर किसी जीवके स्वरूपमे नही बसा है, तब फिर मेरा विरोधी कौन ? किसके प्रति मुझे विरोध होना चाहिए । विरोधकी बात यह जगती है कि जब अपनेको कषायमे आग्रह रहना है तो उस कषायके आग्रहके कारण नाना स्थितियाँ बन जाती है । यदि दुःखसे मुक्त होना है तो कषायोका आग्रह छोडना पडेगा ।

जीवके व्यक्त विकारके प्रसंगमे उपयोगसम्बन्धित तीन बाते—कषायभाव, बाह्यभाव, परभाव जैसा अनुभाग खिला वैसा इस उपयोग दर्पणमे वैसा ही यहाँ प्रतिबिम्बका प्रतिफलन हुआ । तो देखो जैसे कहा जाता ना कि किसी पदार्थमे उपयोग जुडा तो निमित्त कहलाता है,

यहाँ तीन बातें समझनी चाहिएँ, किसी बाह्य पदार्थमे उपयोग जुडा तो निमित्त कहलाता है यह बात घटित होती है बहिरंग निमित्तपर। है ही ऐसी बात। जगतमे विचरने वाले मनुष्यो पर, अन्य प्राणियोपर या अजीव वैभवपर, जिसपर भी उपयोग जाय वहाँ यह जीव अपनेमे विकार करता है और ये पदार्थ निमित्त कहलाते है। दूसरी बात क्या समझें कि ये बहिरंग पदार्थ उपचरित निमित्त है, लेकिन कर्मविपाक पूर्वबद्ध कर्मका उदय यह है विकारमे वास्तविक निमित्त, अन्तरंग निमित्त, क्योकि उसके साथ विकारका है अन्वयव्यतिरेक सम्बध याने कर्मोदय होनेपर ही, कर्म अनुभाग होनेपर ही विकार बनता है, कर्मविपाक न होनेपर विकार नही बनता। तो यो कर्मविपाक है वास्तविक निमित्त उनमे कोई उपयोग नही जोडता, जुड ही नही सकता। वे कर्म भिन्न है सूक्ष्म है, उनपर कोई उपयोग नही जोडता। अब तीसरी बात समझनी है कि कर्मविपाक जो कर्मकी परिणति है, कर्मका कार्य है उसमे तो जीव उपयोग नही जोड पाता, किन्तु उपयोगमे जो प्रतिफलन, प्रतिबिम्ब होता है उसकी तो बीत रही पद्धतिकी खबर है ना। उसमे सम्पर्क बनता है। पर कर्मविपाकमे सम्पर्क नही बनता। देखो कर्म सूक्ष्म चीज है या रागद्वेष जीवभाव सूक्ष्म चीज हैं। इन दोका ही मुकाबला देखो—कर्म रागद्वेप जिसका नाम है क्रोधादिक, ऐसी कार्माणवर्गणाओके स्पर्धक ये सूक्ष्म है या जीवमे जो भाव रागभाव, द्वेषभाव उठते है वे सूक्ष्म है। कहना होगा कि सूक्ष्म तो जीवभाव है, विभाव है। कर्म सूक्ष्म नही जीवविभावके सामने, क्योकि कर्म तो पौद्गलिक है, मूर्तिक है और जीवभाव ये अमूर्त आत्माके परिणाम है। तो कर्मसे भी अधिक सूक्ष्म होनेपर भी यह जीव अपने रागद्वेष क्रोधादिक भावोमे तो स्पष्ट परिचय रखता है और कर्मोसे इसे परिचय नही बनता। इसका कारण क्या है कि कर्म यद्यपि जीवके रागद्वेष भावसे मोटे है, लेकिन है तो भिन्न पदार्थ, इसलिए उनका ज्ञान तो नही बना, पर उन कर्मविपाकका निमित्त पाकर जीवमे जो छाया माया प्रतिफलन दोष आया यह तो खुदपर गुजरा ना, तो उसकी पहिचान जल्दी हो जाती है, उसका सम्पर्क जल्दी हो जाता है। तो तीसरी बात यह है कि कर्मविपाक के प्रतिफलनमे उपयोगका सम्पर्क होना यह बात है जीवविकार होनेकी विधियोमे।

कर्मविपाकके प्रतिफलनका विवरण—हाँ तो उन्ही उपयोगोमे से एक विरोध वाले उपयोगकी बात कही जा रही। द्वेषविकार, यह द्वेष विकार मुझमे हुआ। कैसे ? कि हुआ तो कर्ममे याने पहले कर्म बाँधे थे उनमे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग प्रदेश बधा था तो हुआ तो वह कर्मविपाक, अब उसका निमित्त पाकर जो प्रतिफलन हुआ वह जीवपर गुजरा। तो वह उपयोगको खबर हुई, ज्ञानमे आयी, ज्ञानमे कैसे आयी ? ज्ञान जैसा ज्ञानमे नही आया, मगर अधेरा जैसा झलका। दर्पणमे दूर रखी हुई चीज झलकती कि नही। पिछी रखी हो, घडा

रखा हो, कुछ भी चीज रखी हो वह झलकती है। और यदि बहुत घनी अधेरी रात हो और उस अधेरी रातमे दर्पण रखा है तो बताओ उस दर्पणमें भी कुछ झलका कि नही ? झलका तो है। क्या झलका ? अधेरा झलका। तो अंधेरेमे क्या मिला ? मिला क्या, वह तो अधेरा है। तो जैसे दर्पणमे लाल चीज भी झलकती है और अंधेरा भी झलकता है, पर अधेरेकी झलकमे कुछ झलका—यह विदित नही होता। इसी तरह जीवमे, उपयोगमे ये बाहरी पदार्थ भी झलके, ये विषयभूत पदार्थ और कर्मविपाक भी झलका, मगर इस झलकमे ऐसा ही अन्तर है कि जब ये विषयभूत पदार्थ झलके तब तो कुछ कुछ खबर है और जब कर्मविपाक झलका तो इसको कुछ खबर नही। मगर अधेरेकी तरह वह झलका, उसमे सम्पर्क बना। तो यह जीव इस प्रकार दोषी बन जाता है।

विरोधभाव न रखकर अन्तस्तत्त्वके दर्शनके पौरुषका कर्तव्य—कर्तव्य यह है कि किसी जीवके प्रति विरोध न रखना चाहिए। कलह भी हो जाय घरमे, विरोध भी हो जाय तो भी जैसे भीतर कुछ गुजाइश बनाये रहते ना क्षमाशील होनेकी। किसी लडकेने कोई काम बिगाड दिया या कुछ उपद्रव कर दिया तो बापको, माँको, भाईको क्रोध तो आता है, मगर ऐसा क्रोध नही आता कि इसे निकाल दूँ, मार दू। भीतरमे ऐसा राग बसा रहेगा, प्रेम बसा रहता कि उसे कभी पीटेंगे भी तो पोले हाथोसे पीटेंगे। शत्रुपर जैसे हाथ चलते वैसे हाथ इसपर भी चलते क्या ? अपने बालकपर या अपने इष्टपर क्या इस ढगसे कोई हाथ उठाता है जैसे कि लोकमे कोई बैरीपर उठाता है। तो बात क्या है वह परिस्थितिवश कषाय जग रही, मगर मूलमे इनका उच्छेद करनेका भाव नही बनता। तो ज्ञानी पुरुषके वे पहले बाँधे हुए कर्म उदयमे आये तो वहाँ कुछ विकार जग जाता है लेकिन मूलमे ज्ञानीको सच्ची सुध बनी रहती है। नट खेल दिखाता ना, ऊपर रस्सी बाँध देता है एक ओरसे दूसरी ओर तक और वह नट उस डोरपर, रस्सीपर चलता है, तो चलता है रस्सीपर, पर उसका उपयोग कहाँ रहता है, कमा केन्द्रित रहता है। और तो जाने दो—देखा होगा कि महिलाये अपने सिरपर तीन चार घडे तक रखकर कुवेंसे जल भर लाती है, वे हाथसे पकडती नहीं, दो-तीन महिलायें हुई तो बीच-बीच गप्प सप्प भी करती, सिर भी हिलता, पर उन घडोपर कुछ भी जोखिम नही आती। तो वहाँ क्या हुआ ? वहाँ ऐसी साधना है, सिरका ऐसा सयम है कि वहाँ घडोपर कुछ भी जोखिम नही आने पाती। ऐसे ही बहुतसे नाच नाचने वालोको भी देखा होगा, कई-कई घडे अपने सिरपर रखकर बिना उन्हे पकडे सब तरहसे नृत्य कर लेते है। तो वहाँ बात क्या है ? केवल एक सिरका सयम। ठीक ऐसे ही ज्ञानी पुरुषका ध्यान एक निज अन्तस्तत्त्वमे ऐसा सयत रहता है कि परिस्थितिवश अनेक घटनाये आये तिसपर भी

किसी भी घटनामे आसक्त नही होता। परिस्थिति आये कुछ विरोधकी, आक्रमणकी, झझट की, तिसपर भी जो ज्ञानी पुरुष है वह तो मूलमे उस जीवस्वरूपका आदर रखता है। तो विरोधभाव जगे तो इसमे बरबादी। किसकी बरबादी ? दूसरेकी नही, किन्तु खुदकी बरबादी है। अपने लिए भी भावना और समग्र जीवोंके लिए भी भावना कि कभी भी किसीके प्रति विरोधभाव, विनाशभावना न जगे और क्या बने कि सभी जीवोमे सहजपरमात्मतत्त्वका दर्शन हो।

(३२)

कितना भी दुःख आवे, समझो यह दुःख तो अनन्तदुखियोके सामने थोडासा ही है तथा यह समागत दुःख भी मात्र मानने माननेका दुःख है, मेरा स्वरूप तो ज्ञानमात्र अमूर्त है, इसमे तो दुःखका काम ही नही।

घबड़ाहटमें मरण न हो एतदर्थ जीवनमे धीरताकी आवश्यकता—यह सब संसार है, संकटोका घर है। संकट एक भी नही, फिर भी सकटोका घर है। यह ही तो कहलाती है एक समस्या, गोरखधधा, विचित्र बात, आश्चर्यकी चीज। संकट तो यो नही है कि सब जीव अपनी-अपनी सत्ता रखते है और सुरक्षित है, किसी जीवका विनाश नही होता। कोई यदि ऐसी मनमे दृढता कर ले कि अगर देह भी घटती है तो मेरा क्या गया ? मैं तो अमर हू, अविनाशी हू, यहाँ न रहा, और जगह चला गया, लेकिन बताओ कि जब कोई ऐसी स्थिति आती है कि जहाँ यह लगता है कि अब तो मेरा मरण ही होगा, होने ही वाला है उस समय मे शान्ति और समतापूर्वक कौन जाता है ? विरला ही ज्ञानी जा सकता है, पर प्रायः करके घबडाहट बनती कि नही ? अच्छा बतलाओ मरनेमे घबडाहट क्यो की जाती है ? उस घबडाहटके मुख्य दो ही कारण हो सकते है। एक तो यह सोच होना कि यहाँ जो कुछ पाया, जो कुछ बात बन सकी वह सब मिट रही है, उसका वियोग हो जाने वाला है। फिर अपनेको उसका उपभोग नही मिलनेका। ऐसा ध्यान लगता है तो यह जीव घबडाता जाता मरते समय और कोई थोडासा बुद्धिमान हो, कुछ धर्मरुचि वाला हो तो वह घबडाता है यो कि वह सोचता है कि मेरा जीवन व्यर्थ गया। मैं शान्ति समतासे जीवन न चला सका। ज्ञानमे मैं अपना जीवन न ढाल सका। मेरा यह मनुष्यभव व्यर्थ गया, यो ख्याल कर घबडाता है।

सो ऐसा उपाय तो बनावें कि मरते समय घबड़ाहट न रहे। वह क्या उपाय है ? यह उपाय है कि जीनेके समयमे भी घबडाहट न रहे तब तो मरणसमय घबडाहट न रहे, यह बात तो सोची जा सकती है। जीनेके समयमे घबडाहट न रहे, इसके लिए दो बातें समझनी चाहिएँ। एक तो यह हम निर्णय पहलेसे कर लें कि जो मिला है वह सब मिटनेके लिए

मिला है। जैसे बरसातके दिनोमे बच्चे लोग रेतीली नदीपर जाकर जो पांवके ऊपर रेत चढ़ाते है, थपथपाते है और फिर धीरेसे पैर निकालते है और घरसा बना लेते है तो बताओ वे उस घरमे रहनेके लिए घर बनाते है या मिटानेके लिए बनाते है ? मिटानेके लिए। खुद ही मिटा दिया तो कुछ झगडेकी बात नही और कोई दूसरा मिटा दे तो लडाई हो जाती है। है तो सब मिटनेके लिए ना ? मिटनेमे दूसरा कोई निमित्त बने तो उसपर विरोध करते । और अपने आप मिट जाय या खुद मिटा दे तो किसका विरोध करते ? इस जीवकी आदत है ऐसी कि प्रत्येक घटनामे दूसरेके दोष देखते। कोई सेठ है और गद्दीपर कालो स्याही की दवात रखते है ना और सेठजीकी लात लग जाय तब तो यह कहता सेठ कि देखकर दवात नही रखते मुनीम जी, और मुनीमसे वह स्याही बिखर जाय तो सेठजी उसपर यो कहकर नाराज होते है कि देखकर नही चलते । तो जब ऐसी दृष्टि रहती है कि खुदका विचार नही, दूसरेके दोष देखना और अपने आपके दोषका चिन्तन नही तो बतावो प्रगति कैसे हो सकती है ? तो ऐसे ही विकल्पके कारण यह सारा ससार सकटमय हो रहा है।

ज्ञानबलसे अपने संकटको न कुछ संकटसा समझकर दुःख दूर करनेका सन्देश— भैया ! यहाँ बहुत सकट है । यह जो निबन्ध पढ रहे है तो यह किस घटनाके समयमे बनाया हुआ है ? अहमदाबादमे एक सुभाष अग्रवाल जैन है तो उनका बच्चा चार वर्षका था। वह बडा चतुर था, सबसे बडे प्यारसे बोले। मेरे पास वह बहुत बैठता था, उसे हम अच्छे लगे और हमे भी वह अच्छा जचे। एक दिन अचानक ही वह छतसे गिरकर मर गया तो उस बच्चेका बाप सुभाष उसके पीछे पागलसा बन गया। उस प्रसगमे एक यह बात सम्बोधी गई कि देखो यहाँका कोई भी दुःख कुछ भी दुःख नही है। यद्यपि उसपर था बडा कठिन दुःख, मगर सोचना चाहिए कि जीवपर किसी समय कितना भी दुःख आये, मगर वह न कुछसा है। कैसे समझें कि हमपर यह दुःख बहुत थोडासा पडा है ? आप इससे अनेक गुणा दुःख वालोको और अनेक घटनाओको देख डालें, आपको विश्वास हो जायगा कि मुझपर तो यह दुःख बहुत ही थोडा है। दृष्टिकी बात है। जब अपनी दुःखपर दृष्टि है तो वह लगता है बडा और जब दूसरे अनन्तगुणे दुःखोपर दृष्टि है तो दुःख लगता है थोडा। जिसमे आराम मिले, शान्ति मिले, ज्ञान मिले, धैर्य मिले, वह काम करना चाहिए कि नही। तो यह जगत है तो सकटमय अपनी कल्पनासे, मगर यहाँ कितने ही प्रकारका सकट आये उन सब सकटोको थोडा जानें। प्रथम तो ऐसा समझें कि सकट है ही नही। बाह्य वस्तु है, आया, गया, रहा, जो हुआ सो हुआ। क्या ठेका है, आज यहाँ पैदा हुए, मरकर दुनियाके किसी और छोरमे पहुच गया तो उसके लिए यहाँ क्या है ? अनेक सम्बोधन है, जिससे यह समझना चाहिए कि मुझ

पर सकट कुछ नही, और न सहा जाय तो इतना तो समझ लेवें कि और दु खियोके मुकावले मे तो मुझपर ये कुछ भी सकट नही, थोडासा ही संकट है, और जो भी संकट है यह भी केवल माननेका सकट है। हर एक संकटके प्रति ऐसा ही वार्तालाप करें। दुःखीका दु ख दूर करनेके लिए कोई दूसरा न आयगा, कोई दूसरा दुःख दूर न कर सकेगा। खुदको ही ज्ञान बनाना होगा और अपने ही ज्ञानसे अपने दुःखको शान्त कर सकेगा। तो यह ध्यानमे लाना कि मुझपर कुछ दु.ख नही। और तो हमसे अनेक गुना दुःखी है और जो दु ख आया है वह भी एक माननेका दु.ख है।

स्वरूपकी आराधना करके संकटोसे अलग होनेका अनुरोध—भैया! वास्तविकता तो यह है कि मै तो अपनी ओरसे अपने सत्त्वके कारण सहज चैतन्यज्योतिमात्र हू, इसका भवन ही है कि यह परिणमता रहे। सो ईमानदारी तो यही है कि यह ज्ञानरूपसे ही परिणमता रहे, मगर अनादिसे योग्यता खराव, मलीमसता, कर्मवन्ध प्रतिसमय, उदय उदीरणा, उसकी झलक, उपयोग दूषित हुआ तो वहाँ विकल्परूप परिणमने लगा। तो यह विकल्परूप परिणमन तो औपाधिक बात है, मेरे स्वरूपकी बात नही है। मै तो चैतन्यज्योति मात्र हू। मेरा स्वरूप तो ज्ञानमात्र है जो कि है अमूर्त। जिसे कोई पहिचानता नही, जिनका विकल्प कर हम परेशान होते, उनमेसे कोई भी इस मुझको नही जानता। ऐसे इस अमूर्त चैतन्यस्वरूपमे दुःखका नाम ही नही, काम भी नही, ऐसा अपना अन्तर्ध्यान बनायें और जो दु ख आया वह कुछ नही है, ऐसा समझकर सर्वसंकटोसे अपनेको अलग बनाये रहे।

(३३)

जितना भी दुःख होता है वह अपने अज्ञान और रागके अपराधसे ही होता है। यदि दुःखसे दूर रहना चाहते हो तो ज्ञान और वैराग्यको पुष्ट करो, ज्ञान और वैराग्य ही दु खसे छुटकारा पानेका उपाय है।

दुःखका जनक अज्ञान और राग—संसारमे ये सभी जीव अपनेको दु खी अनुभव कर रहे है, कोई किसी पदार्थका विकल्प करके दुःख मानता है तो कोई किसी भावका विकल्प करके दुःख मानता है। उन दुःखोके होनेका कारण क्या है? क्या ये दु ख किसी बाहरी पदार्थके कारणसे हुए है? कोई बाहरी पदार्थ किसी तरह परिणमे या हुए, क्या किसी पदार्थ के कुछ भी परिणमनसे इस जीवको दुःख होता है? तो विचार करो तो स्पष्ट विदित होगा कि बाहरी पदार्थके किसी परिणमनसे जीवको दुःख नही होता, क्योकि वह तो बाहरी पदार्थ है और बाहरी पदार्थसे दुःख होता तो बाहरी पदार्थ ये जिस जिसके निकट हो उस उसको दुःख होना चाहिए। पर काम वही है, उसको कोई दु ख मानता, कोई सुख। घर वही है

उसे कोई दुःख मानता, कोई सुख मानता। बाहरी पदार्थसे दुःख नही होता। दुःख होता है तो वह अपने ही अपराधसे होता है। वह अपराध क्या? अज्ञान और राग। अज्ञान और रागके अपराधसे समस्त दुःख है। किसी भी दुःखकी बात सामने रख लो और यह विचार करो कि मेरेको दुःख क्यो हो रहा है? तो उत्तर मिलेगा कि इस जातिका तो अज्ञान है और इस जातिका राग लगा है, अज्ञान और राग इनका अपराध लगा है इससे दुःख हो रहा। अज्ञान तो क्या है इसके अनेक उत्तर हो सकते हैं। पर मौलिक उत्तर यह सब जगह मिलेगा कि अज्ञान यह है कि मेरा जो सहज स्वरूप है उसका हम इन कर्मविपाक देश प्रदेशो से न्यारा परिचय नही कर पा रहे और उन कर्मोकी माया छायामे लिपटे हुए अपने आपको देख रहे। यह एक मौलिक अपराध है। जिस कारण हमको दुःखी होना पडता है। अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान न होना अज्ञान कहलाता है और जब-जब अपने वास्तविक स्वरूप पर दृष्टि नही होती, ज्ञानमे वह स्वरूप नही रहता तब तब इस जीवमे विकल्प होते है और उन विकल्पोसे क्लेश होता है। तो जीवको जो कुछ दुःख होता है उसका कारण है अज्ञान और साथ ही लगा हुआ है राग, इस जीवने जब अपने आत्माके अनुभवका आनन्द नही पाया। ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाया, अन्य विकल्प हुआ ही नही, ऐसी परिस्थितिमे होने वाला जो अनुभव आनन्द है, जब वह सत्य आनन्द प्राप्त न हुआ तो चूँकि आनन्दका लेना ही तो जीवका प्रयोजन है, जब खुदमे आनन्द न मिला, जब निरपेक्ष सत्य सहज आनन्द न मिला तब यह आनन्द पानेके लिए बाह्यमे मन, वचन, कायकी चेष्टा करता है, बस वही कहलाया राग। तो जितना दुःख होना है वह अज्ञान और रागसे होता है।

जीवके क्लेशका कारण स्वकृत अपराध—

आप थोडा और विचार करेंगे, सोचेंगे कि मामूली जीवोमे तो यह बात घटित हो जाती है, मगर जो न तो अज्ञान रखता और न कोई घर गृहस्थीका राग बनाये है, योगी है, साधु संत जन है उन पर भी तो बडे-बडे उपसर्ग आते, बडे-बडे कष्ट आते तो उनको यह दुःख क्यो होता? न वहाँ अज्ञान है और न राग है, फिर उन्हे दुःखका कारण क्या? तो समाधान मे यह सोचे कि उपसर्गके समय यदि उनका दुःख जग रहा है तो उस दुःखमे अज्ञान और राग कारण पडेगा और अगर दुःख नही जग रहा तो यहाँ कोई नियम न रहा कि कोई उप-सर्ग कर रहा, पीटता तो दुःख ही हो। यह तो अपने-अपने ज्ञानकी पुष्टता और निर्बलतापर आधारित है। कोई जरासी आँख दिखाता और यह मनमे बडा दुःख महसूस करता और कोई शस्त्र भी मारे फिर भी ज्ञानी योगीजन उसमे दुःखका अनुभव नही करते। तो दुःख कोई अनुभव करे तो उसमें सोचना पडेगा कि कुछ न कुछ अज्ञान और राग है। जैसे किसी

योगीके सम्बन्धमे निरखा जाय, जो किसीसे विरोध नही रखता, मौन रखता, अपनी आत्म-साधनामे लगा है और कोई पूर्व भवका वैरी या किसी कारणसे क्रोधी कोई हो जाय और वह उस योगीको सताने लगे तो वहाँ तो योगी कुछ दुःख अनुभव करता, तो उसमें देखो राग कारण है। क्या विकल्प जगा कि मैं कुछ अपराध नही कर रहा और यह व्यर्थ ही मुझे सता रहा है। किसी न किसी प्रकारका राग तो चल रहा है और उस कालमे चूँकि विकल्प मच रहा तो उस विकल्पके समय इस जीवको अपने स्वरूपकी सुध नही, वहाँ दृष्टि नही, अनुभव नही, भले ही प्रतीति रहे, सम्यक्त्व भी रहा, मगर जब जब भी विकल्प है तब तब सहज ज्ञानस्वभावमे अनुभूति नही है। तो यह एक निर्णय रखें कि जिस जीवको भी दुःख होता है उसको अपने विकल्पके कारण होता है। और भी विशेष बात समझे, उस योगीने क्या अपराध किया जिससे दूसरे लोग सता रहे। तो अपराध समझिये क्या ? पहला अपराध तो यह कि वह दुःख मान रहा तो उसने कर्मविपाकके प्रतिफलनमे सम्पर्क बनाया, और मोटे रूपसे सोचो कि उसे उपद्रव क्यो आया ? उपसर्ग क्यो आया ? ऐसा ही कोई पूर्वबद्ध कर्मका उदय आ गया। तो जितने भी क्लेश होते है वे सब जीवोको अपने अपराधसे होते। जिसमे दुःख अनुभव हो वह तो मुख्यतया वर्तमानके अपराधसे है, और जिसमे बाहरी संकट मात्र हो वह पूर्वकालके अपराधसे है। जो वर्तमान दुःख है उसमे भी पूर्वका अपराध और वर्तमान का अपराध दोनो ही कारण पडते हैं। जहाँ दुःख नही हो रहा, उपद्रव उपसर्ग है वहाँ मात्र पूर्वके अपराधसे बाँधे हुए कर्मके उदयमे चल रहा है यह।

क्लेशोके दूर होनेका उपाय ज्ञान और वैराग्य—जितने भी क्लेश होते है जीवको वे अपने अपराधसे ही होते हैं, ऐसा निर्णय कोई बना ले तो उसको जीवनमे संकट नही आता। जिस जीवकी दृष्टि रहती है विपरीत कि देखो मेरेको यह व्यर्थ सता रहा, इसने मुझे कष्ट दिया, इस प्रकारके विकल्प उसने किये जिससे उसे कष्टका अनुभव हुआ। तो यदि कष्ट न चाहिए, दुःखसे दूर रहना चाहते हो तो अज्ञान और राग—इन दो अपराधोको दूर करना होगा। जब अज्ञान न रहा तो ज्ञान जग गया, जब राग न रहा तो वैराग्य जग गया। तो दुःख दूर करनेका उपाय है ज्ञान और वैराग्य। चीजोका संचय, संग्रह, परिग्रहका समागम यह दुःख दूर करनेका उपाय नही, किन्तु ज्ञान और वैराग्य ये भाव ही दुःख दूर करनेके उपाय है। जहाँ यह ज्ञान जगा कि जगतके ये समस्त पदार्थ मेरेसे अत्यंत भिन्न है, इन पदार्थों मे मै क्या करूँ, इनसे मेरा क्या मतलब ? ऐसा जब ज्ञान जगता है तब मोह रागद्वेषकृत दुःख नही रहता और इसी ज्ञानके बलपर वैराग्य भी बनता है। जब ये सब जुदे है तो मुझे लगावसे क्या मतलब ? ज्ञानी जन बाह्य पदार्थोसे लगाव हटा लेते है और अपने आपमे अपना

अनुभव करते है । तो दु.खसे दूर रहनेका उपाय है ज्ञान और वैराग्य । जब जीवके कुबुद्धि रहती है तो वह ज्ञान और वैराग्यमे तो क्लेश मानता है और अज्ञान और रागमे मोज मानता है, पर इस असार संसारमे काल्पनिक मौजोसे क्या गुजारा चलेगा ? काल्पनिक मौजका विकल्प छोडकर ज्ञान और वैराग्यको ही पुष्ट बनायें, ज्ञान और वैराग्य ही दु.खको उत्पन्न करनेका उपाय है । सबसे निराला ज्ञानमात्र यह मै परमात्मस्वरूप हू, जिसमे सहज ही असीम ज्ञान और आनन्द भरा पडा है । भरा भी क्या पडा यह ? आनन्दस्वरूप ही मैं हू । मेरेमे अपूर्णता क्या ? अधूरापन क्या ? झझट क्या ? कमी क्या ? जहाँ यह ज्ञान जगता है वहाँ विषयोका राग हटना है और अपने आपके आनन्दस्वरूप ज्ञानभावमे दृष्टि लगती है, अनन्त आनन्द झरने लगता है । तो अज्ञान और राग दूर करे और ज्ञान और वैराग्य भावसे अपने आपका सही अनुभव करे ।

(३४)

मै ज्ञानमात्र हू, ज्ञानपरिणमनको ही करता हू, ज्ञानपरिणमनको ही भोगता हू, मुझमे किसी भी परका प्रवेश नही, फिर बाधा कहांसे आये ? निज सहजानन्दको भूलकर बाहर कष्ट बनाये जानेका प्रोग्राम कैन्सिल ।

परपदार्थोके कर्तृत्वके आशयसे क्लेश—स्वहितके अर्थी भव्य जनोको यथार्थ मनन करना होगा कि मै क्या हू और मै क्या करता हू, मै क्या भोगता हू—इन तीन बातोकी धुन भी रहती है सबको । इन तीनके आशय बिना कोई मनुष्य है भी नही, पर यहाँ यह सोचना है कि हम कैसे अपने आपको इन तीन बातोमे लगाते कि क्लेश होता और कैसे इन तीन बातोको यथार्थ समझें तो कष्ट मिटेगा । जब यह जीव किसी पर्यायमे 'यह मै हू' ऐसी मान्यता करता है तो उसे कष्ट होता है, क्योकि पर्याय है, क्षणिक पर्याय है, औपाधिक पर्याय है, और उसे मान लिया कि मैं यह हू तो उस पर्यायकी अदल-बदलसे यह जीव अपनेको बडा कष्ट मानता है । जब यह जीव ज्ञानभावको छोडकर अन्य भाव और पदार्थमे 'मै करता हू' ऐसा विकल्प बनाता है तब यह जीव कष्ट भोगता है । ज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थको मै कर नही सकता । कैसे ? ऐसे अर्थ दो प्रकारके है—पर और परभाव । पर पदार्थ तो वे कहलाते है जिनकी स्वतत्र सत्ता है, हमसे निराले हैं, ऐसे पदार्थमे मै करता हू, ऐसा आशय रखे तो वह कष्टका ही कारण है । क्यो कष्टका कारण है कि परपदार्थमे कुछ करनेका अधिकार तो है नही, और अधिकार यह समझता है, तो अपने मनके अनुकूल जब परपदार्थमे परिणति नही हो पाती, तब यह कष्ट मानता है । जैसे कोई ५०-६० मनको गाडी बैल खीचे चले जा रहे हो और पीछे दो बालक गाडीपर हाथ लगाये कल्पनामे ढकेल रहे तो वे य-

मानते है कि इस गाडीको मै चलाता हू । तो क्यो जी, ऐसा माननेमे कुछ हर्ज है क्या ? मानने दो, कुछ हर्ज है क्या ? आखिर बच्चे ही तो है, अरे हर्ज है । उनसे अपराध यह हो गया कि वे झूठी मान्यता कर रहे है । जब गाडी खडी हो जाती तो वे बच्चे बडा कष्ट मानते । अरे मैं इस गाडीको चल रहा था, अब यह क्यो नही चलती ? तो माननेमे क्या अपराध है ? सो किसीको तो यो लगता कि क्या अपराध कर रहे ? बैठे है अपने घरमे, सिर्फ मान भर रहे तो जैसा चाहे मान लें, मगर सारा दु ख तो इस खोटी मान्यतामे ही है । तो यह जीव ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भावोमे, परपदार्थोमे करनेकी बुद्धि रखता है और दु.खी होता है ।

परभावके कर्तृत्वके आशयसे क्लेश—अच्छा परपदार्थ तो अत्यन्त भिन्न है, उनमे यदि करनेकी बुद्धि रखते हे तो यह तो हमको अपराध जच गया, और जब अपराध करता है तो दु खी हो रहा, लेकिन परभावोको करता हू—इस मान्यतामे क्या अपराध ? तो समझिये परभाव मायने क्या ? क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, ये जो विभाव है ये सब परभाव कहलाते है । परभाव क्यो कहलाते कि पूर्वमे बांधे हुए कर्मका उदय आता है और उस उदयका विपाकका, अनुभागका इस उपयोगमे प्रतिफलन होता, झांकी होती, तो यह जो झांकी हुई, उपयोगमे दोष आया, आया है चेतनाके विकाररूप, मगर यह परपदार्थका, कर्मका, विपाकका निमित्त पाकर हुआ है । अतएव परभाव है, आत्माके निज गुणका भाव नही है । तो परभावको मैं नही करता क्योकि मै तो उसका करने वाला हू जिसके करनेमे मैं स्वतत्र हू । व्याकरणमे भी कहते है "स्वतत्र कर्ता" । जो क्रियामे स्वतत्र हो उसे कर्ता कहते है । यद्यपि इस कर्ताकी परिभाषा समझनेके भी दो रूप है । पहला रूप तो यह कि जैसे सिद्ध भगवान प्रभु वीतराग अपने भावोके कर्ता है तो वे स्वतंत्र हे अर्थात् परनिमित्त वहाँ नही होता, पर निमित्तके बिना ही वे सब पर्याय है, सो स्वतत्र कर्ता है । और दूसरी दृष्टि यहाँ लगाया ससारी जीवोमे जो विकार परिणमन कर रहे है वे भी यद्यपि निमित्तका सग पाकर कर रहे है, पर जो किया जा रहा है वह तो आत्मामे आत्माके परिणमनकी ही तो बात है । कही दो द्रव्य मिलकर जीव विकारपरिणमको नही करते । तो एक स्वतत्रता वहाँ भी सिद्ध हुई । अब पहली स्वतत्रताकी बात तो शुद्ध पर्यायकी है, विकारकी नही । दूसरी स्वतत्रताकी बात है तो वह जो विकार है वह परनिमित्त पाकर हुआ है । इतना तो कलक सग लगा ही हुआ है । तो मै स्वयं अपने आप अपनी ओरसे परसग पाये बिना मै इस विकारभावका करने वाला नही हू, इसलिए मै परभावोका कर्ता नही हू । तब मै निरपेक्ष स्वतत्र नि सन्देह बाधा रहित रूपसे किसका करने वाला हू ? ज्ञानभावका करने वाला हू, ज्ञानस्वरूप हू, तो ज्ञानका व्यापार चल रहा । जितना निरपेक्ष परिणमन होता रहे उतना तो मै करने वाला हू, पर

उसके अतिरिक्त अन्य कुछ परभावोका या परका करने वाला नही हूं। जिसको अपने कर्ता-पन के रहस्यका परिचय हो जाता है वह जीव अपराध नही करता, उसको फिर कष्ट नही होता।

परके भोक्तृत्वके आशयसे क्लेश—अब तीसरी समस्या जाने कि मै किसको भोगता हू ? सारा जगत कहता है कि मै स्पर्श भोगता हू, रस भोगता हू, गंध भोगता हू ··पर एक द्रव्य किसी भिन्न प्रदेश वाले द्रव्यको क्या भोग सकता है, क्योकि भोगनेका अर्थ है अनुभवना'। अनुभवन खुदका खुदकी पर्यायरूपमे होता है, किसी अन्यकी पर्यायमे अनुभवन नही होता। तो किसी भी बाह्यपदार्थको मैं भोगता नही हू। हाँ बाह्यपदार्थका उपयोग करते समय यह जीव अपनेमें भोगनेका विकल्प करता, ज्ञान करता है, उस विकल्पका भोगता है, अनुभवता है तो यह जीव किसी बाह्यपदार्थको भोगता नही, किसी बाह्यपदार्थका निमित्त पाकर विकल्प को भोगता है, ऐसा वह भी कर्मविपाक होनेसे परभाव है, शुद्धनयसे तो मै परभावका भी भोक्ता नही हू।

कष्टके प्रोग्रामोंको नष्ट करके सहज आरामके पानेका कर्तव्य—जब मै, कर्तृत्व, भोक्तृत्व इन तीन प्रकारोमे वस्तुका परिचय किया, तब यह स्पष्ट जाहिर हो गया है कि मेरेमे किसी भी परका प्रवेश नही। जब कभी परका मेरेमे प्रवेश हो नही सकता तब उससे बाधा कहाँसे आ सकेगी ? मै निर्बाध हू, सहज अनादि अनन्त हू। बस इस निज सहज आनन्दको जो भूल गया और इस सहज आनन्दको भूल जानेके अपराधको यह बाहर ढूकने लगा। यहाँ सुख मिला, यहाँ सुख मिलेगा। जैसे किमी बालकको कोई घरसे निकाल दे तो वह यत्र तत्र डोलता फिरता है, कही बुआके घर, कही मौसीके घर, कही मित्रके साथ। तो जैसे घरसे निकाल दिए जानेपर बालक असहाय होकर यत्र तत्र डालता है ऐसे ही जब इस अज्ञानी जीवके यह भाव बना है कि मेरेमे आनन्द कहाँ है भीतर ? खुद कहाँ है ? खुदके आनन्दका परिचय नही और बाहरी पदार्थोमे जान बूझकर ढूक ढूककर शान्तिकी खोज करता है। मुझको यहाँ सुख मिलेगा, यहाँ शान्ति मिलेगी, यो जगह-जगह डोलता है तो उस परिभ्रमणमे कष्ट ही मिलता है, आनन्द नही मिलता। जहाँ अपना वश नही चल सकता, जहाँ अपना ठिकाना नही रह सकता। यो बाहरो पदार्थोका आश्रय करे तो वहाँ शान्ति और आनन्द कैसे मिल सकेगा ? यहाँ तो ज्ञानी सोचता है कि अनादिसे मैंने अपने सहज आनन्दस्वरूपको भुला दिया और बाहरमे अनेक पदार्थोके निकट उपयोग घुमाकर कष्ट बना, सो बना लिया अज्ञानमे कष्ट, लेकिन उस अज्ञानका प्रोग्राम अब हम खत्म करते है और ऐसा कष्ट भोगनेका प्रोग्राम भी हम खत्म करते है। व्यर्थ ही, है कुछ नही इस जीवका और बाहरी पदार्थोने

विकल्प करता, ममता करता, बाहरी पदार्थोंसे अपने आप विडम्बना करके कष्ट बनाया जा रहा है। अब इस कष्ट बनाये जानेके प्रोग्रामको हम कैन्सिल करते है और अपना जो सहज ज्ञानभाव है उसका आश्रय करते है।

(३५)

आध्यात्मिक व शारीरिक ब्रह्मचर्यका पालनहार ही पुरुष पवित्र है। परमे कर्तृत्व, भोक्तृत्व व स्वामित्वका व्यर्थ विकल्प करके मूढ मत बनो तथा देहवीर्य नष्ट करके अपनी विडम्बना मत बनाओ।

कल्याणसाधक उपयोगविषयकी जिज्ञासा—जीवका लक्षण उपयोग है। उसके उपयोग लक्षणरूप होनेसे यही तो बात आयगी कि यह जीव कही अपना उपयोग लगाता है। उपयोग मायने ज्ञान और दर्शन। कही यह जीव ज्ञानको लगाता है। सो ज्ञानको लगानेके लिये ज्ञान चाहिए और ज्ञानको कही लगाया तो विश्वास भी चाहिए। तो उपयोगस्वरूप रहनेसे ही तीन बातें आ जाती हैं। विश्वास है, ज्ञान है और चारित्र है अर्थात् यह अपने आपमे अपने या परके प्रति कुछ विश्वास बनाये रहता है और जानता रहता है और कही न कही लगा रहता है। तो यहां यह बात ध्यान देनेकी है कि यह जीव कहाँ उपयोग लगाये तो इस जीवका भला है और कहाँ उपयोग लगाये तो इस जीवकी बरबादी है। जो भले वाली बात है वह पवित्रता वाली बात है, जो बरबादी वाली बात है वह अपवित्रताकी बात है। तो अपनेसे बाहर उपयोगको अभिमुख करके जो कुछ लगाव बनता है वह तो है अपवित्रता और अपने स्वरूपकी ओर जो लगाव बनता है वह है पवित्रता। भगवानको क्या कहे ? परपदार्थ कहे कि निजरूप कहे ? देखो यद्यपि परमात्मा एक आत्मा है, मुझसे भिन्न पदार्थ है, तो भी जिसकी दृष्टि यहाँ तक ही है कि वह तो परपदार्थ है, वह तो भगवानकी भक्तिमे ठीक न बन सकेगा, और परपदार्थ होकर भी जो स्वरूपकी सम्पदा तकता है और उस नाते भक्ति करता है उनकी भक्ति होती ह। तो जहाँ स्वरूपका नाता नही ऐसे परपदार्थ तो कहलाते है कषायके नोकर्म। और जहाँ स्वरूपकी समता है, स्वरूपकी दृष्टिका नाता है वे कहलाते है हमारी भक्तिके विषय। हम कहाँ ध्यान जोडें, कहाँ उपयोग लगायें कि हम पवित्र बने ? इसके दो उत्तर है—एक उत्तर है परमार्थत, एक उत्तर है व्यवहारत. । व्यवहारसे तो यह उत्तर है कि प्रभु गुणगानमे लगाओ चित्त, परमेष्ठियोकी भक्तिमे लगाओ चित्त, जो प्रभुताके मार्गपर चल रहे हो ऐसे सत जनोकी भक्तिमे लगाओ जीवन। यह तो है व्यावहारिक पवित्रताकी बात। और निश्चयतः अपना जो एक सहजसिद्ध चैतन्यस्वरूप है उसमे चित्त लगावें, यह है परमार्थत पवित्रता।

आन्तरिक व बहिरंग ब्रह्मचर्यमे स्वकल्याण—यदि थोडे शब्दोमे कहो तो कहो, ब्रह्मचर्य ही पवित्रता है। आन्तरिक ब्रह्मचर्य और बाह्य ब्रह्मचर्य—आन्तरिक ब्रह्मचर्य तो है आध्यात्मिक ब्रह्मचर्यका पालन। सो निजके सहज चैतन्यस्वरूपको जानकर उसमे मग्न होना यह है आन्तरिक ब्रह्मचर्य। और बाह्य ब्रह्मचर्य है शारीरिक ब्रह्मचर्य। तो ऐसे दोनो ही प्रकारके ब्रह्मचर्योका पालनहार पुरुष पवित्र कहलाता है। अब इन दोनोके खिलाफ वाली वृत्तिकी अपवित्रता देखिये, जहाँ आन्तरिक ब्रह्मचर्य नही है अर्थात् निजका सहज ज्ञानस्वरूप परमब्रह्म रूप नही निरखमे आता और बाहर ही विश्वास बनाये है, कुछ तो उसमे बुद्धिया जगती है परके स्वामित्वकी। मै इसका मालिक हू। जीवोके बारेमे भी सोचते है कि मै इन जीवोका मालिक हू। ये मेरी आज्ञामे खिलाफ क्यो चलेंगे ? चलते है तो क्रोध करता है। मेरा तो आदमी है और आज्ञा नही मानता, परके स्वामित्वका आशय बनना यह आन्तरिक ब्रह्मचर्यका घात है। इसी प्रकार परका कर्तृत्व मानना, मै परको कर दूँगा, मैने परको किया, इस प्रकार अत्यन्त भिन्न परपदार्थोमे कर्तृत्वका अहकार होना जहाँ यह भाव है वहाँ आन्तरिक ब्रह्मचर्य नही है। तीसरी बात है परका भोक्तृत्व। तो जहाँ परपदार्थके बारेमे मै इसे भोगता हू, मै इसे खाता हू, इस प्रकारका जो विकल्प है, जहाँ जिसके विकल्प है वहाँ आन्तरिक ब्रह्मचर्य नही है। जहाँ आन्तरिक ब्रह्मचर्य है वहाँ कष्टका नाम नही।

परमब्रह्मचर्यको धारण करके सदाके लिये संकटमुक्त होनेकी भावना—भैया ! व्यर्थ ही परका स्वामित्व, परका कर्तृत्व, परका भोक्तृत्वका व्यर्थ विकल्प क्यो करके मूढ बने और क्यो दु खी हो ? कही कोई बात विशेष अडचनकी आ जाती और बहुत उलझन बन जाती है तो कहते है कि मैने इसका टटा निपटा दिया, सदाके लिए झझट तो मिटे। अपने बारेमे क्यो नही सोचते कि एक बार तो भीतरका टटा एकदम खत्म कर दे, सिद्धभगवानकी लिस्ट मे अपना नाम लिखायें। अब बतलावो थोडा मिला वहाँ भी ममता है। अरे थोडा क्या, तीन लोकका वैभव मिल जाय तो उससे भी क्या पूरा पडेगा ? जीवका पूरा पडेगा तो सम्यग्ज्ञानसे। सर्व पदार्थोसे विविक्त केवल एक ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वकी प्रतीतिसे सकट टलेगा। एक बार टटा तो मिटे। अनन्तकाल व्यतीत हो गया बात करते-करते भी, कही धर्मध्यानकी बात भी करते, सोचते, पर एक बार ऐसा कडा जी करो, साहस बनाओ, भीतरमे ध्यान बनाओ और जो अपना सहजस्वरूप है उस स्वरूपमे आस्था आग्रह. बनाकर ऐसा साहस बना लो कि बस मैं तो यह हू, इसके अतिरिक्त कुछ नही। मेरा सर्वस्व तो यह सहजस्वरूप है, इसके आगे कुछ नही। तो एक बार साहस जगा ले तो सदाके लिए दुःख इसके दूर हो सकते है। तो यही है आन्तरिक ब्रह्मचर्य—अपने स्वरूपको निहारकर अपने स्वरूपमे मग्न होनेका

पौरुष करना । तो आंतरिक ब्रह्मचर्यका घात मत करो याने विकल्पमे उपयोग मत फसाओ और दूसरा है बाह्य ब्रह्मचर्य । शारीरिक ब्रह्मचर्यके विरुद्ध चलकर अपनी देहशक्तिको नष्ट मत करें । तो जो प्राणी आन्तरिक और शारीरिक दोनो प्रकारके ब्रह्मचर्योंमे रहकर तृप्ति पाता है तो सर्व अपनी विडम्बनाओको समाप्त कर देता जो कि अब तक चला आया है, तो बस यह दृष्टि होनी चाहिए, मेरेको मेरा स्वरूप दीखे, स्वरूपमे ही मैं तृप्त रहू बाह्यमे रचमात्र भी किसी भी परपदार्थसे अपनायत न लाऊँ और अपने शारीरिक व आन्तरिक ब्रह्मचर्यकी रक्षा करके समस्त विडम्बनाओको समाप्त करूँ ।

(३६)

प्रत्येक जीवमे सहजपरमात्मतत्त्वको देख यथोचित विनयशील रहो । केवल जीव तो शुद्धस्वभावी है, उसमे विकार अपराधका काम नही, मात्र ज्ञाता न रहकर विकल्प बनाया जाना तो कर्मविपाकका नाच है ।

जीवोमे परमात्मस्वरूपका दर्शन करने वालेके असुविधाकी विडम्बनाका अभाव— जो भी ससारको असार जानकर इस देह सम्बधी विकल्पको अपनी विपत्तिका हेतु जानकर आत्मकल्याणके मार्गमे लगना चाहे वह रहे कहाँ ? रहनेके दो ही तो स्थान हैं—समागममे रहे या निर्जन वनमे । दोनो ही एक कठिन समस्यायें थी । जब तक ज्ञानबल नही बढता तब तक दोनो ही समस्याये है । निर्जन वनमे रहे अकेला, तो वहाँ अनेक बाधायें है । सुविधाओ का यह जीव आदी बन गया है । जगलमे कब खाना, कहाँ रहना ? वहाँकी असुविधाओसे मन घबडा सकता और समागममे रहता है तो समागममे रहकर जो अनेक व्यवहार चलते है ऊँचे-नीचे, कटुक प्रहार और चूँकि कषाये बसी है, दूसरा कुछ बोलता है, दूसरा भी कुछ बोल उठता है तो ऐसी स्थितियाँ है, उनसे असुविधायें मिली हुई है । तो वनमे रहे तो असुविधा, समागमोमे रहे तो असुविधा । अब तीसरी बात क्या हो सकती, सो बताओ ? जब कुछ तीसरी बात हो नही सकती तो इन्ही दोनो प्रसगोमे मार्ग निकालना चाहिए । निर्जन वनमे रहनेका संहनन हो, शक्ति हो, वैराग्य हो तो उत्तम तो वह है और उसे फिर बडा उपसर्ग-विजयी होना चाहिए । किसी और बातकी परवाह ही न हो । केवल एक आत्मानुभवकी धुन हो, ऐसा पुरुष निर्जन वनमे अपना समय अच्छा व्यतीत कर सकता है और साथ ही शरीर भी ठीक चाहिए, सयम भी ठीक चाहिए । अच्छा और समागममे रहे तो वहाँ कमसे कम इतना ध्यान तो होना ही चाहिए कि जब जिससे बोलें, व्यवहार करें तो एक बार यह तो समझ ले कि यहाँ भी परमात्मस्वरूप विराजमान है जिससे हम बात कर रहे । चाहे कुछ पागलसा लगता हो, चाहे कम बुद्धि वाला हो, चाहे प्रतिकूल मार्ग वाला हो, चाहे किसी ढग

का हो, पर एक बार तो उसमे अपना इतना ध्यान बनायें कि यहाँ एक अपना जैसा सहज परमात्मस्वरूप है। तो प्रत्येक जीवमे सहज परमात्मतत्त्वका दर्शन करके फिर उसके प्रति विनयशील बनकर वार्तालाप करें।

जीवमें परमात्मस्वरूपके दर्शनसे तथा विकारपरिणामको कर्मविपाकलीला समझ जाननेसे असंतोषका निरसन—परमात्मस्वरूपका दर्शन बहुत बडा तपश्चरण है, अपनी कषायो की बलि पहले देनी होती है तब ऐसा व्यवहार बन सकता है कि जीवोमें परमात्मस्वरूपका ध्यान करे, उसके प्रति विनयशील रहकर व्यवहार करे और उसका व्यवहार उचित बनता है और फिर जिसने परमात्मस्वरूपका दर्शन किया वह दूसरे जीवके प्रति यह सोचता है कि यह तो केवल शुद्ध चैतन्यस्वभावी है। भीतरमे स्वरूप जब खुद है, अस्तित्व है तो उस परमार्थ सत्का स्वरूप क्या है? केवल ज्ञानज्योति। निजके अस्तित्वमे विकार है क्या? वह तो स्वयं निरपेक्ष जैसे पारिणामिक भाव वाला होना चाहिए, सो ही है। तो जब दूसरे जीव मे परमात्मस्वरूपका दर्शन किया तो उसका ध्यान बनावे कि यह है सहजपरमात्मतत्त्वरूप। जीव तो शुद्धस्वभावी है। उसमे विकार अपराधका काम नही। देखो दूसरेको देखकर ध्यान जाता है कि यह अपराधी है, दोषी है, न कुछ है, बुद्धिहीन है, इस प्रकारका भाव जाता है तो क्षोभ होता है। और जब यह विचार कर लिया दूसरे जीवके प्रति कि यह तो शुद्ध ज्ञान वाला है अर्थात् अपने स्वरूपसे अपने ही सत्त्वके कारण स्वयमे विकार नही होता और खुद जो मेरा स्वरूप है बस वैसा ही मात्र इसका स्वरूप है। उसमे अपराधका क्या काम? दूसरे जीवको देखकर बात कही जा रही है—भीतरकी बात, ऊपरकी बात। जैसा दूसरे जीवको देखा उसके भीतरकी बात निहारो, बाहरकी बात निहारो। तो भीतरकी बात तो यो कि अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण तो वह एक प्रतिभास मात्र है और प्रतिभासन का काम जाननहार है। उस ओरसे अपराधका कोई काम नही। अपराध मायने विकार। जो अपने आपको शुद्धिसे अलग करे, तृप्तिसे अलग करे, कल्याणसे अलग कर दे, वही तो कहलाता है अपराधी। तो वह क्या है अपराध? विकार। तो ज्ञानी सोच रहा है जीवको निरखकर कि यह तो शुद्ध चेतनास्वरूप है अर्थात् स्वरूपतः यह अविकार है। इसमे विकार अपराधका काम नही। अच्छा और बाहरमे तो यह सब दिख रहा है कि यहाँ रागादिक कुटेव रहा करती, खुद अनेक विकल्पोमे चल रहा है। क्रोध भी है मान भी है, माया भी है, लोभ भी है, वचन है, बड़बडाहट है, नाना प्रकारकी देह चेष्टाये है। तो ये सारे विकार अपराध दिख तो रहे है, सो कहते है कि जो कुछ दिख रहा है वह सब कर्मविपाकका खेल है, कर्मविपाकका नाच है। स्वय तो एक ज्ञायकस्वरूप ज्ञानमात्र परमात्म तत्त्व है, ऐसा दूसरे जीवमे कोई

निरखे तो फिर उसके प्रति इसे असतोष न होगा । दूसरेकी विकट क्रियाको देखकर खुदमे असतोष होना यह ही तो दुःखका कारण बनता है । तो ऐसा ज्ञान बनाना कि दूसरेको देख कर हमको असतोष ही न हो । तो दूसरेको किस तरह देखें कि हम असतोषमे न रहे, बस वे ही दो बातें है भीतरमे, तो देखो कि यह तो अपने स्वरूपमात्र है, इसमे विकार अपराध नही है, फिर इसमे हमको असतोष क्यो ? ऐसे अतस्तत्त्वकी साधना तो हमारी प्रसन्नताके लिए है । अब बाहरकी बात देखो तो जो बाहरमे चेष्टाये हो रही है, दोष हो रहे है, विकार जग रहे है, वह सब कर्मविपाकका प्रतिबिम्ब है और उसमे यह भूल गया, अज्ञान कर लिया, उस प्रतिफलनमे लग गया, सो यह कर्मका खेल है । इसका क्या अपराध ? दोनो दृष्टियोमे जीवको निरपराध देखनेकी जो कला है बस उस कलासे असतोष दूर हो जाता है ।

सहज अन्तस्तत्त्वके परिचयसे निर्बाध होकर स्वरूपमग्न होनेका अनुरोध—जिसको आत्माके सहज अन्तः स्वरूपका परिचय हो गया उस पुरुषको अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि करना लीला मात्र है, और जिसको अन्तस्तत्त्वका परिचय न हो वह कोई सरल पुरुष धर्मके नामपर भक्ति करे, व्रत करे, तप करे, सयम करे तो पाप करने वालेसे तो भला है ही । हा, सम्यक्त्व नही है, इसलिए वह मोक्षमार्गमे नही आता । ऐसे जीवको क्या यह कहे कि तू व्रत, सयम छोड दे, ये विकार है, ये कामके नही है, पहले तू सम्यग्दर्शन ही धारण कर । तो लो अब उन्हे छोडकर बाह पसारकर सम्यग्दर्शन धारण करने चलेंगे तो कर लेगे क्या ? अरे उन्हे सम्बोधो कि तुम जो कर रहे हो सो ठीक है, मद कषाय है, सुगतिका कारण है, यह धार्मिक वातावरण का एक आधार है, पर तुम इसमे तृप्त मत होओ । अपने अन्तः खोजो, सहज ज्ञायकस्वरूपको उसमे लगाते हुए उसका आनन्द पावो तो उन्हे अन्त प्रयोगके लिए उत्साहित करना है । दुनिया अन्तस्तत्त्वका निरीक्षण नही करती । धार्मिक व्यवहार जो होता है वह सब प्रवृत्तिमे होता है । यदि प्रवृत्तिका लोप कर दिया जाय तो इसके मायने है कि जो भावी सन्तान होगे समाजमे, उन सबपर अदया की है, क्योकि वे फिर कोई पेटसे सीखकर तो आये नही निश्चय की बात । अरे जो निश्चयकी बात सीखी है, वह देखो व्यवहारमे था । माताके साथ मदिर आये, विनय सीखा, गुरुजनोकी भक्तिमें रहे, अनेकानेक बातोमे रहे और आज हम सीख गए परमार्थकी बात तो हम दूसरोको तो उलझनमे नहा लगायें । जैसे हम बने वैसे ही दूसरोको बतावें । तो प्रवृत्ति और व्यवहार इन सबको करते हुएमे एक भीतरका ज्ञानप्रकाश बनानेका ध्यान रखें । मै आत्मस्वरूपको जानूं, आत्मस्वरूपमे तृप्त होऊँ, इसमे कौन बाधा देगा ? प्रभु की भक्ति करें, सयम करें, व्रत करें, चारित्रको न खोवे, तो क्या ये आत्माके सम्यक्त्वमे बाधा डालते है ? अरे ये कार्य तो एक मदकषाय वाले है, इनमे बाधाका सवाल ही क्या ? बल्कि

ये तो पात्र बनाते है।

अब हम अपना ज्ञानबल बढावे और अपनेको ज्ञानस्वरूप निहारें और अपनेको ज्ञानमात्र निरखकर अपने आपमे प्रसन्न होवें। यह अपना भीतरी पुरुषार्थ बनावे। काम देगा भीतरी पुरुषार्थ। बाह्य बातें तो साधनाके लिए है। तो ऐसा जो एक आन्तरिक पुरुषार्थ है उस पुरुषार्थको ठीक व्यवस्था और प्रयोग बनानेके लिए पहले जो एक बाधा थी ना बहुत समागममे रहनेकी वहाँ पहले शुद्धता बनावें और समागमकी शुद्धता तब बन पायगी जब हमारे चित्तमे ये दो बाते जच जायें कि ये जीव, समागममे आये हुए लोग अतरगमे तो अविकारस्वरूप है, निरपराध है, प्रभु समान है और बाहरमे जो कुछ हो रहा है वह सब कर्मका नाच है, यह तो निरपराध है, ऐसी दृष्टि रहे और फिर व्यवहार चले तो योग्य व्यवहार बनता है। जैसे हो हमारे मुक्तिके मार्गमे बाधा न हो और निकट कालमे हम सर्वझझटोसे छुटकारा पाकर एक विशुद्ध ज्ञानस्वरूपमे ही तृप्त रहे, ऐसा हमारा प्रोग्राम और निर्णय होना चाहिए।

(३७)

हाल हल विषपानसे तो इसी भवमे एक बार मृत्यु होती है, विषयविषभोगसे अनेक भवोमे मृत्यु होती रहती है, अत. बार-बार मृत्युका काम तजकर, ज्ञानामृत पीकर अमर हो जावो।

हालाहलविषपानसे एक भवमे मरण और विषयविषभोगसे अनेकभवोमे मरण—ये ससारी प्राणी मृत्युसे बहुत भय खाते है। हर एकका अनुभव बता रहा होगा कि इस जीव को सबसे बडा डर है तो मरणका, पर एक अचम्भेकी बात है कि यह जीव एक मरणका डर करता है, अनेक मरणोका डर नही करता। जिस भवमे यह जीव है उस भवके मरण का भय है इसे, पर अनेक जन्म मरण होगे, उसका ख्याल ही नही करता, भय भी नही करता याने ससारमे रुलनेसे इसको वैराग्य नही है। हमको आगे कभी जन्ममरण न धारण करना पडे, ऐसी बात चित्तमे नही समाती। बस जिस भवमे गया उस भवका मरण न चाहिए। अब यहाँ यह बात देखो कि एक भवमे मरण किस कारण होता है, भव-भवमे मरण किस कारण होता है? एक भवका मरण निश्चयसे तो आयुकर्मका क्षय होनेसे होता है, पर बाह्य साधनोमे रोगसे हो, विषपानसे हो, शस्त्र छेदसे हो, अनेक साधन होते है, तो यहाँ किसी एक खास कारणको लीजिए। मानो विषपान, विषका भक्षण करनेसे जीवका मरण होता है याने यह भव छूटता है, सो ठीक है और अनेक भवोमे मरण किस कारणसे होता? ५ इन्द्रिय और मनके विषयके भोगनेसे आगे भव-भवमे मरण होता है। तो यहाँ दो बाते सामने है। हालाहल विषके खानेसे तो एक बार मरण होना और विषयभोग, विषय

साधन मौजसे भव-भवमे मरण होता है। तो अब जरा यहाँ छंटनी तो करो। एक बार मरण हो ले वह चाहिए या अनेक बार मरण करते रहना पडे वह चाहिए? वहाँ एक सीधे गणितके हिसाबसे तो झट कह देगे कि भव-भवमे मरण होना अच्छा नही, मगर दिलसे तो पूछो, भव-भवके मरण होनेके साधनमे राग करते हो या नही? और एक भवके मरणके साधनमे राग नही करते। विपसे सब कोई भय खाता है, विष न खाना, मगर विषयोसे कोई नही डरता कि विषय न भोगे। तो विषके भक्षण करनेसे तो इस ही भवमे एक बार मृत्यु होती है, किन्तु विषयविषोके भोगनेसे अनेक भवोमे मृत्यु होती है।

बारबार मरणके कामसे विरक्त होकर भवरहित होनेका उपाय करनेका अनुरोध— अब क्या करना? बारबार मरण होवे, ऐसा काम नही करना है। बारबार मरण होनेका साधन क्या? इन्द्रियविषयोको भोगना। ये ही रोजके काम बन रहे—रोज खाते है, रोज स्वाद आता है, रोज अच्छा लगता है, रोज नया-नयासा जचता है, उससे ऊब नही आती, वैराग्य भी नही बनता। यह तो भव-भवका भोग है। इसमे नवीनता क्या है? तो विषयोके भोगके अनुरागसे तो भव-भवमे मरण होता, तो उसका अनुराग छोडें याने बारबार मरणका काम छोड देवें और वस्तुके स्वभावका ज्ञान करें, यही है अमृतका पान। तो ऐसा ज्ञानामृत पीकर अमर हो जावे। अमर तो है ही सब जीव। कोई भी पदार्थ मरता नही है, पर यह जीव कल्पनामे समझता है कि मै मर गया, एक इस शरीरसे निकलकर चला उसको यह मरण मानता है। वस्तु तो जो है सो ही है। आत्मा तो ज्ञानदर्शनात्मक है वह अपने सत्त्वको कैसे त्यागेगा? अविनाशी है, सदा रहने वाला है। बस अज्ञानी जन शरीरके वियोगको मरण मानते है और इस शरीरवियोगका भय खाते है, यह सब अज्ञानका प्रताप है। मरण समयमे भय किस बातका? और मरण समयमे भय माननेसे क्या मरणसे छुटकारा मिलता है? लोग मरण समयमे भय करते है तो अज्ञानमे मान रखा था न। कि मेरा प्रताप है, मेरा वैभव है, मेरेको परिजनसे, मित्र जनोसे बडा आनन्द आता है। विषयोको भोगते रहे, उनमे मौज मानते रहे, अब परिचित यह समागम कुछ नही रहनेका है, मिट जाने वाला है। वियोग होगा, इस जीवको अकेले जाना पडना है।

तो इन समागत पदार्थोमे मोह रखनेके कारण इसको क्लेश होता है, और जब यह ज्ञानामृत पी लेवे याने मै सहज चैतन्यस्वरूप हू, चेतनामात्र प्राण है, यह चैतन्यप्राण मेरेसे एक क्षण भी अलग नही होता, चैतन्यमय ही मैं हू, मैं कुछ अलग चीज नही हू, मैं कोई अलग हू और फिर मुझमे प्राण आये, ऐसा है ही नही। अरे चैतन्यस्वरूप ही यह जीव है। जहाँ इसने जाना कि मेरा स्वरूप तो चेतनामात्र है तो ऐसे बाह्य पदार्थोके वियोगका दुःख न

होगा। उसके तो दृढ निर्णय रहेगा कि जो मेरा प्राण है वह मुझसे कभी छूट नही सकता। जो मेरा प्राण नही, किन्तु परिस्थितिवश संयोगको लिए बन गए वे मेरे प्राण नही कहलाते। तो यह दृष्टिमे एक मोटी बात रही कि हलाहल विषपान हो जाय, शस्त्रसे सिर छिद जाय, ऐसी स्थितियाँ विषयविष भोगनेसे अच्छी है, क्योकि विषपान आदिकसे तो एक भवमे मरण होता और विषयविष भोगसे भव-भवमे मरण होता। तो अनेक बारके मरणका काम छोडें और अपने आपका जो निज सहजस्वरूप है उस ज्ञानको पाकर अपनेको अमर अनुभव करें।

(३८)

कोई पुरुष कैसी ही लौकिक उन्नति कर रहा हो, उसकी आकाक्षा मत करो, वह सब तो मायाजाल है, विपरीत परिश्रम है, अनर्थकारी है। निज ज्ञानानन्दधाममे बसकर तृप्त होओ व सहज आनन्द भोगो।

दूसरोकी उन्नति देखकर आकांक्षा करनेकी विडम्बना—इस मनुष्यलोकमे इन मनुष्यों को एक बैठे-बैठेका कठिन दुःख बडा गजबका है और व्यर्थका है। वह क्या दु ख है कि अनेक लोग उन्नतिमे बढ रहे है, कोई करोडपति बन रहा है, किसीका सरकारमे बहुत बडा प्रभाव बन रहा, किसीके विद्याचातुर्य इतना विशेष हो गया कि सब लोग प्राय. उससे हार जाते है, ऐसी कुछ लौकिक उन्नतियाँ दूसरेकी कोई देखता है तो यह जीव अपने लिए उस लौकिक बडप्पनकी इच्छा कर बैठता है। यह जीवमे बहुत बडा दु ख है। कोई बडा धनी बन रहा तो बनने दो। बहुत धन हो गया तो यह समझ लो कि वह बहुत अधिक कीचडमे फसा हुआ है। रहता तो किसीका कुछ नही। कोई बहुत बडा धनिक हो गया तो उसके भी कुछ साथ नही रहनेका, कोई गरीब है उसके भी साथ नही रहनेका। आखिर फैसला तो एक है। चाहे धनी रहे, चाहे गरीब रहे, जितने दिनका जीवन है उतने दिनका काल्पनिक सुख है। आखिर फैसला एक है कि करोडपति हो तो उसे भी छोडकर जाना है, खोमचा वाला हो तो उसे भी अपनी सारी चीजे छोडकर जाना है। फिर यह लौकिक उन्नतिकी आकाक्षा क्यो ? दूसरे लोग धनमे, यशमे, कलामे बढ रहे है तो कौनसी बडी करामात पा ली है ? यह तो ससारका एक ससरण है, रुलाव है। उसमे इस जीवको क्या मिल गया ? तो किसीकी लौकिक उन्नति देख करके आकाक्षा न करना, क्योकि आकाक्षा ही दुःख है।

इच्छाके परिहार बिना परमविश्रामकी असम्भवता—भैया ! बाहर अपना कुछ नही है। जो इच्छा है उसीका नाम दुःख है। दु खसे बचना है तो इच्छा मत करो। इच्छा दु ख है सो देख लो। जब छोटे थे, बचपन था तबका जीवन कैसा सुखमय था, सबको अपना-अपना मालूम है। और जो वर्तमानमे बालक है उनका देख लो, दु.खसे बचे हुए तो न थे।

दु.ख तो था ही । इच्छा उनके भी थी । मगर जिस ढगकी इच्छा अब जवान और बूढोके चल रही है उस इच्छाको ऐसा पकड लेते है कि छोड ही नही सकते । ऐसी परिस्थिति बना ली है । ऐसी इच्छाये बचपनमे नही रहती । सुबह इच्छा की, घंटे भरमे भूल गए, मगर अब जो इच्छा चलती है आपकी वह तो कभी भूलती ही नही । रात-दिन दिलपर सवार रहती है तो देखो इच्छा ही तो दु.ख है । बालक थे तब और तरहकी इच्छा । वहाँ बिल्कुल बेढगी इच्छा, मगर वह इच्छा घर न करती थी, बस यही बचपनकी विशेपता थी । बालक तो ऐसी इच्छा कर बैठे कि जिसकी पूर्ति होना ही असम्भव है । जैसे एक घटना है कि एक बच्चा इस बातपर मचल गया कि हमको हाथी चाहिए । हाथी वालेसे कहकर उसके पिताने द्वारपर हाथी खडा करवा दिया । फिर वह बालक इस बातपर मचल गया कि हाथी हमको खरीद दो । तो पिताने हाथीको अपने बाडेके भीतर खडा कर दिया और कहा—लो बेटा, खरीद दिया । फिर वह बालक मचल गया कि इस हाथीको हमारी जेबमे धर दो । भला बतलावो, उस बालककी इस इच्छाकी पूर्ति कैसे हो सकेगी ? तो जैसे उस बालकने अटपट इच्छा की, ऐसे ही ये बडे-बूढे लोग भी तो अटपट इच्छाये कर रहे है । अब किसी परपदार्थ पर किसीका कुछ अधिकार है नही कि वह उसकी इच्छाके अनुसार ही परिणमन करे, और वह चाहता है अपनी इच्छाके अनुसार परिणमन । जब उसकी इच्छाके अनुसार बात होती नही तो उसे दुःखी होना प्राकृतिक बात है । अब तो एक ऐसा ज्ञान बनावें कि ये इच्छाये न जगे । ऐसा किए बिना किसीको आराम न मिलेगा । योगी साधु-सतोकी पहिचान ही क्या है ? यही तो विशेपता है कि उनके इच्छाओका अभाव हो गया । सब कुछ जान लिया, सब समझ लिया । इच्छा ही क्लेश है, इच्छा ही डाइन है, इच्छा ही पिशाचिनी है । जो इस जीव के बीच ऐसी लग गई कि इसे चैन नही लेने देती । भला बतलावो—किसी किस्मकी इच्छा करें तो क्या बिगाड़ होता है सो बतलावो । जिसके मनमे जिसकी इच्छा हो वह इच्छा न करे तो क्या बिगडता है ? क्या विपत्ति आती है ? क्या कष्ट होता है ? फिर क्यो नही इच्छा का त्याग करते ?

मायाजालके लगावका महान् क्लेश—जीवोको यह महान् दु ख लगा हुआ है, लोगो को देखते है, पुण्यके उदय है । जिसका जैसा उदय है उसके अनुकूल उसका वैभव, उसकी चला, प्रतिष्ठा, उसका अधिकार, उसका प्रभाव । उसे निरखकर यह इच्छा जग जाती है कि मेरा भी ऐसा प्रभाव हो, मेरे भी इतना वैभव हो, बस इस इच्छाके कारण इस जीवको निरन्तर क्लेश रहता है । सो भाई इच्छाके बारेमे ठीक निर्णय बनावें । इच्छा क्या चीज है ? इच्छा क्या कोई वास्तविक वस्तु है, परमार्थ सत् है या मायाजाल है । वे इच्छा तो मायाजाल

है, कर्मका उदय हो, उसकी अनुभूतिका प्रतिफलन हो और उसमे इस जीवने विकल्प बनाया, इच्छा बन गई, तो यह मायाजाल है। यह कोई परमार्थ वस्तु नही, जीवका स्वरूप नही, यह तो कृत्रिम चीज है। कर्मविपाकके प्रसंगमे इच्छाका जागरण है। यदि मायाजाल मालूम पड जाय तो उससे कोई मोह नही रखता। यह तो मायाजाल है, इससे क्या मोह रखना ? बादल कभी-कभी देखते है तो उनमे शक्ल बन जाती है। हाथी की, घोडेकी, पालकी की या मन्दिरकी, मकानकी उन बादलोमे शक्ल बन जाती है। तो उन शक्लोको देखकर कोई रीझता भी है क्या ? बादलका फैलाव है, यह मायाजाल है। आधा मिनटमे शक्ल बिगड जाती। तो जैसे बादलका आकार मायाजाल है, ऐसे ही जो खुदमे इच्छा जगती है वह भी मायाजाल है। उस इच्छाको छोडें और सुखी हो लें। तो यह इच्छा मायाजाल है, जो विपरीत परिश्रम है, उल्टा काम है। इच्छासे तो बनता है क्लेश और यह इच्छाको समझता है सुखकी चीज। इच्छा करता है सुख साधन मानकर तो दु खी होता है।

विडम्बनाओका मूल इच्छा—एक पुरुष नारियल खरीदने गया, बाजारमे पूछा—नारियल कितनेका दोगे ? ८ आनेका। अरे ४ आनेका नही दोगे ? ४ आनेका लेना हो तो नागपुर चले जावो। नागपुर गया। वहाँ पूछा—नारियल कितनेका दोगे ? ४ आनेका। २ आनेका नही दोगे ? अरे दो आनेका लेना हो तो पूना चले जावो। पूना गया, वहाँ पूछा—नारियल कितनेका दोगे ? दो आनेका। १ आनेका नही दोगे ? अरे एक आनेका लेना हो तो मैसूर चले जावो। मैसूर गया, पूछा नारियल कितनेका दोगे ? १ आनेका। दो पैसेका नही दोगे ? अरे २ पैसे भी क्यो खर्च करते ? पासके इन पेडोपर चढकर चाहे जितने नारियल तोड लावो। वह पहुचा एक नारियलके पेडके पास। पेडपर चढ गया, नारियल भी तोड लिया, मगर उसके दोनो पैर ऐसे फिसल गए कि वह उस पेडपर लटक गया, उतर ही न पाये। वहांसे निकला एक हाथी वाला। सो हाथी वालेसे वह बोला—भाई हमे उतार लो, हम तुम्हे ५००) देंगे। उस हाथी वालेने हाथीपर खडा होकर उसके पैर पकडकर उतारना चाहा, पर वह उसे पकड न सका, क्योकि वह करीब १ बिलस्त ऊँचा था, सो उचककर उसके पैर पकड लिये, इतनेमे हाथी खिसक गया, वह भी उसीमे लटक गया। अब दो व्यक्ति लटक गए। फिर वहांसे निकला एक ऊँट वाला। वे दोनो ऊँट वालेसे बोले—भाई हम दोनोको इस पेडसे उतार लो, हम दोनो तुम्हे ५ पाँच पाँच सौ रुपये देंगे। ऊँट वाला भी उसे पकडनेको हुआ, पर करीब एक बिलस्त दूर होनेसे उचककर पकड लिया, इतनेमे ऊट खिसक गया। वह भी उसीमे लटक गया। अब तीन पुरुष एक दूसरेके पैर पकडकर लटके रहे। इतनेमे आया एक घोडे वाला। उस घोडे वालेसे वे तीनो बोले—भाई हम तीनोको

उतार दो, हम तीनो ही तुमको पांच पांच सौ रुपये देंगे। सो उसने उतारनेका प्रयास किया तो घोडा भी खिसक गया और वह भी उसीमे लटक गया। अब चारो ही एक दूसरेके पैर पकडे लटके हुए थे, चारो ही एक दूसरेसे कह रहे थे—भैया! ऊपर वालेके पैर नही छोड देना, नही तो गिरकर मर जायेंगे। हम तुम्हे ५००) देंगे। भला बताओ उनकी कितनी विडबना बन गई ? इस विडम्बनाका मूल कारण बनी इच्छा। रात दिन यही बात देख लो। यह इच्छा इस जीवके दुःखका कारण बन रही है। तो भाई इस इच्छाको मेटो, 'देख पराई चूपडी मत ललचावे जीव, रूखा, सूखा खायके ठडा पानी पीव ।।' अरे दूसरोका ठाट बाट देखकर उसकी इच्छा न करो। यह इच्छा तो इस जीवका महा अनर्थ करने वाली है। जो जगतमे फसा सो इच्छाके कारण फसा। जिसके इच्छा नही वह पूरा अमीर और जिसके इच्छा बनी है वह पूरा गरीब।

इच्छाविनाशक ज्ञानका स्फुरण—इच्छा त्यागें और ऐसा ज्ञान बनावें कि जिससे अन्दरमे इच्छा ही न जगे। वह उपाय क्या है जिससे कि इच्छा न जगे ? वह उपाय वचनो से तो बता दिया जायगा, मगर बनेगा करनेसे। उसका प्रयोग करें। उपाय तो यह है कि अपने सहज ज्ञानस्वरूपको समझ लें कि वह अविकार है। और जगतके सब पदार्थोसे अत्यन्त निराला है। इतनी बात ज्ञानमे आये तो इच्छा न बनेगी। ज्ञानमे लगाव कैसे आयगा ? उसका प्रयोग बनाये, वस्तु स्वभावका अध्ययन करें उस तरह अपने भीतरमे ज्ञानकी प्रक्रिया बनायें, अनुभवमे आ जाय कि अहो मैं तो ऐसा अलौकिक ज्ञान और आनन्दका धाम हू। लेकिन इसे न पहिचानकर अब तक जगतमे यत्र तत्र भटकता रहा। तो अपने ज्ञान और आनन्दकी निधिको सभालो। ये बाहरके रूप, रस, गध, स्पर्श वाले पदार्थ ये निधि नही कहलाते, ये तो अत्यन्त निराले है। इनमे लगाव लगाने से तो इस जीवकी बरबादी है। ये निधि नही कहलाते। निधि तो है अपनेमे ज्ञान और आनन्दकी। स्वरूप ही ऐसा पडा है, तो बाहरमे मत ललचाओ। बाहरमे कोई वैभववान दीखे तो उसे तो दयाका पात्र समझो। यह बडा दुःखी है, यह तो दयाका पात्र है। इन बाहरी जड वैभवोमे दिल लगाकर अपनेको बेचैन किया जा रहा है। यह तो दुःखी जीव है, सुखी नही है। लौकिक उन्नतिमे बढे हुए लोगोको ऐसा देखो। उनको देखकर उन्हे दयापात्र समझो। और अपने आपके स्वरूपमे ज्ञान और आनन्द की निधि निरखे और स्वयं अपने आप यही बसकर तृप्त हो जावे। मैं तृप्त हू। मेरेमे क्या कमी है ? जो बाहरकी चीजें है वे कभी मरती नही, जो जिसका स्वरूप है वह कभी छूटता नही। तो जिसने अपने निज स्वरूप ज्ञानानन्द स्वरूपकी परख करली वह यहाँ ही बसकर तृप्त रहता है। तो जो अपने ज्ञानानन्दस्वरूपमे तृप्त रहेगा वही अविनाशी

सहज आनन्द प्राप्त करता है। तो हे भव्य पुरुष, हे आत्मन्! इस अंधेरनगरीमे तुम अपने को समाधानरूप बनाये रहो। जगतमे कोई कितनी ही आशा बना रहा हो ? तुम ऐसा बडा बननेकी चाह मत करो। वह उनका बडप्पन नही है। वह बरबादीका स्थान है। बडप्पन तो साधुसंत त्यागी जनोमे दिखेगा। जिनको जगतके वैभवोकी कुछ चाह नही, जो अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूपको निरखकर तृप्त रहा करते है, ऐसे योगी जन ही महान् कहलाते है। जगतके वैभवोमे पडा हुआ पुरुष महान् नही कहलाता है। तो उन्हे देखकर इच्छा न करें। इच्छा व्यर्थ है, अनर्थ है, उससे हटकर अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूपकी सुध ले, उसही मे तृप्त रहे और उसमें तृप्त रहकर जो अपना एक सहज आनन्द है उसका अनुभव करें। देखो आनन्द तो मिलता है सहज और संसारके दुःख मिलते है बनावट करके, परिश्रम करके और आनन्द मिलता है बिना दिखावट, बनावट तथा सजावटके। परिश्रम न करें, सत्य आराम पाकर मिलता है अविनाशी सहज आनन्द। तो इन काल्पनिक सुखोकी चाह न करे। काल्पनिक सुखोका जो साधन है, इच्छा है उसे अपवित्र समझकर उससे भी हटे और अपनेमे तृप्त जो ज्ञानानन्द स्वभाव है उस ज्ञानानन्दस्वभावकी दृष्टि रखकर अपनेमे आनन्द प्राप्त करें, यह ही है ज्ञानामृत, जिसका पान करके जीव अमर होता है और सर्व आनन्दसे सम्पन्न हो जाता है। बाहरमे कुछ मत पूछो, सर्व कुछ खोजो अपने आपमे। बाहरकी चीज मत ग्रहण करो, जो अपने आपमे सहज है, सत्य है, अपने ही सत्वके कारण है उस स्वरूपको ग्रहण करे और उस ही स्वरूपमे अपने आपकी आस्था बनावें। मैं यह हू, मै अन्य कुछ नही हू। यहाँ ही जो ज्ञानमे साधारणतया ज्ञानका और अनाकुलताका अनुभव हो रहा है वही मेरा सत्य व्यापार है। बस यही वृत्ति मेरी रहे, अन्य वृत्ति मुझे न चाहिए।

(३९)

धन इज्जत वैभवको अकारण जोडे चले जानेकी क्यो मूर्खता कर रहे हो ? परिग्रह जोड-जोडकर आखिर करोगे क्या, छोडना तो पडेगा ही। अभीसे ही परतत्त्वकी ममता तजकर अनाकुल शान्त हो लो।

लोकवैभवके संगका दुष्परिणाम—लोकमे मनुष्योको जो कुछ भी मिल रहा है धन कीर्ति, वैभव, इज्जत, उन्हीके बारेमे कुछ विचार करें कि इसका प्रयोजन क्या है ? इसके मिलनेसे, रहनेसे, बढनेसे मेरेको कौनसा लाभ है ? तो विचार करते जाइये। धन बढ गया, खूब जुड गया तो उससे क्या लाभ मिलनेका ? हाँ लोग सोचेंगे कि लाभ कैसे नही है ? बडे है, बडे सम्बन्ध होंगे, समाजमे प्रतिष्ठा रहेगी और सुखमे जीवन यापन होगा। यह तो प्रश्न किया जा सकता है, समाधान दिया जा सकता है। तो विचार करो कि बहुत धनी हो जाने

पर यही तो सोचा जाता कि बडे-बडे घरोमे रिश्तेदारी होगी। हो गई रिश्तेदारी तो उससे आत्माको क्या मिला ? अजी अपनी बच्ची बडे घर गई, बच्चा बडे घर व्याहा गया। तो उससे आपको क्या लाभ मिला ? अच्छा तो पहले तो यह ही अज्ञान कि मेरी बच्ची, मेरा बच्चा, अरे जिसका जैसा भाग्य है, अपने अपने कर्मका उदय है, वैसा उनका भवितव्य है। दूसरी गल्ती यह कि उसपर कुछ मनमे बात रखी कि हमारे करनेसे होगा। तीसरी बात जितना यह जीवन मिला है क्या इतना ही सब कुछ है ? जीवन समाप्त, आगे अकेला गया। क्या होता है, क्या नही होता ? पूर्वभवके भी समागम छोडकर यहाँ अकेले ही तो आये है। पूर्वभवका क्या है यहाँ ? ऐसे ही कुछ आज यहाँ है, आगे पता नही कहाँ होंगे ? अच्छा और नुक्सान कितना सो सुनो—उसमे विकल्प लगा, उसके सम्बन्धमे अहर्निश चिन्तन चला, तो आत्माकी सुध नही कर पाते तो खुद विकल्प विपत्तिमे है। कर्मबन्ध हुए, आगे उदय होगा, जन्म मरण चलता रहेगा। नुक्सान यह सारा हुआ। तब फिर कोई कहे तो क्या करे ? धन आये तो क्या कुवेमे डाल दें ? बहुत बहुत धनकी निन्दा की जा रही है तो क्या करें बोलो ? अरे कुवेमे डालनेकी बात नही कह रहे और ऐसा बोलनेकी बात नही कह रहे। सहज पुण्योदयमे जो आया बस उसकी व्यवस्था बना ले। ऐसा मत बनावें कि इतना और हो, ऐसा हो। उदयानुसार जो हो उसीमे अपनी व्यवस्था बनावें। यह कर्तव्य है।

अकारण वैभवसचयकी अनुचितता—भैया ! जो जोडनेका विकल्प है, सचय करनेका जो भीतरमे अहर्निश पौरुष रहता है वह सब अकारण है, उसका कोई प्रयोजन नही। और जो कुछ प्रयोजन समझा जाता वह सब अज्ञानमे प्रयोजन समझा जाता। पहला अज्ञान तो यही है कि जिस पर्यायमे हम है वह हम नही, यह मै हू ही नही, यह मायारूप है। इसको माने कि यह मै हू तो पहली चोट तो यही मिलती है। अज्ञान यही है। तो ज्ञानमार्ग और ससरण मार्ग ये भिन्न-भिन्न है। ज्ञानमार्ग और ससारके अपवित्र सगम, ये दो बिल्कुल जुदे-जुदे है, ऐसी चतुराई न चलेगी कि यह भी खूब रहे और वह भी खूब आये, एक निर्णय बनाना होगा—मुक्तिपद चाहिए या ससारमे ससरण चाहिए ? तो जैसे धन वैभवकी बातको अकारण जोडे चले जा रहे ऐसे ही यश प्रतिष्ठाकी बात। जितने भवोका सम्बन्ध है उतने समयोमे ही अपना मन खुश करना, सर्वस्व समझना यह तो भ्रम है, अज्ञान है। आगे क्या होगा उसकी भी तो कुछ दृष्टि दे। पहले क्या होता आया, इस पर भी ध्यान दो। तो धन वैभव, यश, प्रतिष्ठा जो कुछ भी लोग चाहते, जोडते, सचय करते वे सब अकारण। तो हे आत्मार्थी जनो, अकारण ही क्यो इनके पीछे पडे ? कितनी उन्मत्त दशा कि प्रभुभक्तिमे मन न लगे। मन्दिरमे आते तो एक लोकरीति आदत बनी है तो रोजका रोटीन बना बना है, पर

प्रभुमुद्राको देखकर और प्रभुके स्वरूपका स्मरण कर अपनी सुध लेकर कुछ भावभीनी मन मे बातें भी होती क्या ? रोज न सही, पर ५—७ दिनोमे एक दिन प्रभुदर्शनमे भावभीनी बात भी चलती क्या ? और चलती क्या है ? बाह्य पदार्थोकी धुन । तो ये सब बाह्य धुन विकार है ना, अकारण है, क्या प्रयोजन है, जो इतना उनके पीछे चला जा रहा ? जरासे जीवनमे मानो कुछ मोही जीवोने भला भलासा कह दिया तो इतने ही के पीछे भावुक बनकर निरन्तर वैभवकी धुन रहे, अपनी सुध भूल जाय, प्रभुस्वरूपकी सुध भूल जाय तो यह तो कोई बुद्धिमानी नही है ।

लौकिक बड़प्पनकी अविश्वास्यता—बडे-बडे शूरवीर राजा महाराजा सबको अपने अपने पापका उदय आनेपर उनको पीडा सहनी पडी । श्रीपाल राजाके पुत्र ही तो थे, और अचानक हो गया कुष्ट रोग तो न जाने कितनी ही पीडायें सहन करनी पडी । तो कोई कितना ही लौकिक बडा हो, क्या विश्वास रखें कि मेरा सब कुछ भला ही रहेगा । लोकदृष्टिमें सब कुछ मौजकी ही बात रहेगी, ऐसा कुछ विश्वास नही । तो यहाँ जो कुछ बडप्पन मचाया जा रहा वह कितने दिनके लिए, और उससे प्रयोजन क्या निकलेगा, इस बातपर कुछ गहरा विचार रखना चाहिए और फिर एक बात और है कि कमाईसे थोडे ही कोई कमा लेता । वह तो पूर्वमे पुण्य किया, धर्मभाव हुआ, मद कषाय हुई, तपश्चरण, व्रत, दया आदिक कोई शुभ भाव हुए, पुण्यबध हुआ, उदय मिला, सम्पदा हो गई । अरे जैसे किसी करोडपतिके हाथ पैर है, दिमाग है, बुद्धि है वही तो दूसरेके भी है, उदयका फेर है । जो आज मूर्खसा भी समझा जाता और उदय आया, वैभव मिला तो वह माह दो माहमे ही बुद्धिमानसा बन जाता है । तो यहाँ कुछ भी चीज आस्थाके योग्य नही । और इस वैभवका जोडना बिल्कुल अकारण है, निष्प्रयोजन है, वास्तविक प्रयोजन वहाँ नही, लेकिन जहाँ मोह वालोकी सख्या ज्यादह है तो एक दूसरेको पागल कैसे कहे ? अगर एक कोई किसी दूसरेको पागल कहता तो उसका अर्थ उसे पागलका नम्बर पहले मिलेगा । तो जब मोही जगत है तो यह सब एक दूसरेका अनुकरण करते है और एक यह बहुत बडी समस्या है कि थोडा बहुत ज्ञान भी जग जाय, आत्महितकी भावना भी बन जाय तो भी इस तृष्णाके घेरेसे निकलना यो भी कठिन रहता कि उसी लक्ष्मीके उपासक तो सब बन गए । लक्ष्मीके संचयकी धुन रखने वालोको क्या बोलते है ? लक्ष्मीपुत्र । जैसे पुत्र माँ की सेवा करता है वैसे ही लक्ष्मीपुत्र लक्ष्मीकी सेवा ही करता है । उसका दान भोग करनेमे समर्थ नही हो पाता । आखिर लक्ष्मी माँ ही तो बन गई और यह पुत्र बन रहा । तो थोडा यह ध्यान देना चाहिए कि हम जिन बातोमे अधिक चित्त लगाये फिरते है उससे लाभ क्या ? क्यो अकारण इस बातके पीछे हम जुटे

चले जा रहे है ?

सारहीन संगमकी उपेक्षा कर आत्महितमे लगनेका अनुरोध— भैया ! अपने हितकी बात खुदको करनी है, खुदमे करनी है, गुप्त होकर करनी है । यहाँ तक भी समझ लें कि न होते आज हम मनुष्य, ससारकी किसी अन्य गतिमे होते तो मेरे लिए यह सब क्या कुछ था ? और लोग क्या मुझे जानते ? तब फिर ऐसा ही समझो कि हम तो सबसे अपरिचित है । तो मुझे तो अपनेमे अपना ही काम बनाना चाहिए । तो यह बाहरी वैभव यश इनके अकारण जोडते चले जानेका नाम क्या रखा जाय ? मूढता । ऐसी मूढता क्यो कर रहे हो ? एक हवेलीमे नौकर था, नीचे रहता था तो उसकी यह कहनेकी आदत थी कि "देंगे दयाल तो देंगे बुलाके । कौन जायगा लेने, देंगे खुद आके ।" एक बार क्या हुआ कि ऐसी ही कुछ चर्चा मालूम पडी नौकरको कि चोर लोग उस घरमे पीछे दीवालमेंसे छेद करके चोरी करना चाहते है तो वह अन्दरसे ही बोला—अरे यहाँ क्यो आये नासके मिटे भीत खोदने, वहाँ उस बड़के पेडके नीचे जाकर क्यो नही खोदते जहाँ धन गडा है ? तो चोरोने यह आवाज सुन ली और वहाँसे चलकर उस बडके पेडके नीचे पहुचे । एक जगह पर गड्ढा खोदना शुरू किया । रातका समय था, काफी गहराई तक खोदने पर उन्हे एक जगह एक हडा गडा हुआ मिला । उस हडेमे अशर्फियाँ भरी हुई थी, उसका कुछ ढक्कन खोला तो ततइयाँ निकलना शुरू हुआ । ततैयोंने उन्हे काटना शुरू किया तो उन चोरोने समझा—अरे उस घरमे बोलने वाला वह आदमी तो बडा बदमाश निकला, इसमे तो सब ततैये भरे है, फिर उसे झट एक तवेसे ढांक दिया और मारे गुस्सेके उसी पुरुषके घरमे ले जाकर पटक दिया, इसलिए कि ये सब ततैया उडकर उसके घर वालोको काट लेंगी । वहाँ क्या था ? सारी अशर्फियाँ ही निकल पडी । उस नौकरने सारा धन यो ही बिना प्रयास किए पा लिया । तो भाई वह बोला—देंगे दयाल तो देंगे बुलाके । कौन जायगा लेने देंगे खुद आके ।" जब उदय अनुकूल होता है तो पता नही कब किस बहाने धन प्राप्त हो जाता है ? इन बाहरी बातोको तो कर्मोदयपर छोडना चाहिए । लगना चाहिए मोक्षमार्गमे । प्रभुभक्तिमे लगाव, वस्तुस्वरूपके अध्ययनमे लगाव, कल्याणके चिन्तनमे लगाव, यहाँ बुद्धि लगाना चाहिए ।

विनाशीक वैभवकी धुन त्याग कर अविनाशी आत्मभाव स्वभावमय अपनी प्रतीति रखनेका संदेश— तो हाँ समझाये अपने आपको कि धन वैभव आदिकके चक्रमे पडकर क्यो इसे अकारण जोडनेकी मूर्खता कर रहे हो ? आखिर ये सब नष्ट तो होगे ही । कितना क्लेश है जीवोको ? बचपनसे सोचते जा रहे—यो करूँगा, यो चलूँगा और जुड भी गया सब कुछ और किन्हीका गुम भी गया सब कुछ, सब तरहकी स्थितियाँ मिली । अब कोई

भी स्थिति मिली हो बुढापे तक, उसके मनमे विकल्प रहना, चिन्ता रहना, प्रोग्राम रहना, सब कुछ रहना ! कोई सोच भी लेता अजी पाँच वर्ष इसमे और लगेंगे, बादमे झझट छोड देंगे और केवल धर्मसाधना करेंगे और जब वे ५ वर्ष पार हो गए तो सोचते कि ५ वर्ष तो नही, मगर दस वर्ष बाद देखेंगे, ऐसा होते-होते फिर फिर नही आते । तो एक यह चक्र पडा हुआ है जिसमे गर्क होता है और यह धुन, यह ज्ञान नही करते कि किसलिए इतना कर रहे ? आखिर यह तो मिटेगा ही, आखिर वियोग होगा ही । जो चीज मिलेगी नही, जिसको नियम से छोडना हो पडेगा उस परिग्रहकी तृष्णा करके हो क्या रहा है कि यह भव भी ऐसा ही जा रहा है और अगले भविष्यके भव भी ऐसे ही व्याकुलतामे जायेंगे इससे कर्तव्य यह है कि इन बाह्य समागमोको बिना प्रयोजन अकारण ही जोडनेकी धुनमे मत लगें । नही तो होता क्या है ? उदय साथ नही दे रहा और थोडी-थोडी सी बातपर तृष्णा कर रहा, यहाँ तो थोडी सी चतुराई बनाकर कुछ पा रहे और कही दूसरी जगह कुछसे कुछ लुट भी रहा । सब चलता है चलने दो उदयानुसार । तो उदयके पीछे मत भगो ! अपने आपको मुक्ति कैसे प्राप्त हो ? ससारके सकटोसे सदाके लिए छुटकारा कैसे बने ? उस उपायमे अपना उपयोग लगाना चाहिए ।

(४०)

आत्मन् ! प्राप्त यह देह घृणित, भयानक, विनश्वर व सतापकारी है, देहदृष्टि रच भी हितकर नही, प्रत्युत सकल क्लेशोका स्रोत है, देहराग तज विदेह ज्ञानस्वरूपकी रुचिमे ही कल्याण होगा ।

देहानुरागकी मूढता—देखिये अनेकानेक नाम करके भी जो कुछ भी श्रम करके जीव विपदा बनाता है, जैसे धन चाहिए, वैभव चाहिए, और-और भी बातें चाहिएँ, उन सब विपदाओका मूल है देहात्मबुद्धि । देहको समझना कि यह मै हू । बस इस बुद्धिपर ये सारी विडम्बनाये आलम्बित है । कुछ तो सम्पर्क है । फोडा हो जाय, कुछ हो जाय तो यहाँके आज कलके ज्ञानी भी आखिर वेदनामे आते है, कुछ बात तो है सम्पर्ककी, मगर वह भी सब अज्ञान और निर्बलताके कारण है । कुछ भी कैसी हो घटना हो, कर्तव्य यह ही है कि देहसे निराले विभिन्न अपने स्वरूपको परखें । मै देहसे निराला यह आत्मा हू । देहमे और मुझमे बडा अन्तर । देह तो अपवित्र है, घिनावना है और देह जिस भावसे पाया जाता वह भाव भी अपवित्र । लोग तो कोई जरासीट ट्टी पडो हो, कूडा पडा हो तो नाक भौ सिकोडते है देखकर और यह नही जानते कि ऐसी जो गदी चीजें पडी हैं सो वे गंदी चीजे बनी कैसे है ? कहाँसे निकली है ? अरे उस गदगीका स्रोत तो यह देह है, जिस देहसे प्रीति करते ।

तो उस गंदीसे भी गदा रहा यह देह । अरे जहाँ गदगीका निर्माण हो उसे गदी न कहेगे क्या ? तो यह देह तो अपवित्र है और घृणित है, भयानक है। कभी कुछ जवानीमे सुन्दरता सी जचती है, पर सुन्दरता क्या ? जो छोटे-छोटे चमकीले सफेद दाँत सामने दिख रहे वे क्या है ? अरे वे एक हड्डी है । वे मासके बीचमे से जरासा बाहर निकल पडे, मोती जैसे चमकने लगे तो ये हड्डी ही तो है। एक तो चमडेके भीतरकी हड्डी और एक चमडेसे बाहरकी हड्डी और हड्डी ही नही बल्कि हड्डीका मैल । अब समझ लो क्या हैं वे दाँत जो दिखनेमे बडे अच्छे लग रहे ? अच्छा और देखो—यह चमडी, यह रूप भी क्या चीज है ? अरे मासकी एक पपडी ही तो है। जैसे सूखा माँस हो तो उसमे पपडीसी पड जाती है ना, तो यही तो पपडी है, चाम है, अब तो रूप रहेगा उसका । जिसको आप लोग बडा सुन्दर, पवित्र, सुहावना मानते वह क्या चीज है ? हड्डी और मासकी पपडी। इतने पर भी विनाशीक । एक तो भयानक दूसरा अपवित्र और तीसरा विनाशीक । कोई कहे कि चलो जितनी देरको देह मिला खुदका और दूसरेका कुछ अधिकारसा मिला, देह मिला तो इतनी देर तो सुखसे रह ले। सो भाई देखो विनाशीक चीज है वह, नष्ट हो जाने वाला है। तो कोई कहे कि नष्ट हो जाने दो । जितनी देर है उतनी देर तो मौज रहेगी । तो उतनी देरका मौज भी सताप करने वाला है । अपने देहमे आत्मबुद्धि हो, दूसरेके देहसे कुछ आकर्षण लगाव हो तो सतापको ही करते है, शान्ति नही पैदा करते ।

घृणित भयानक विनश्वर संतापकारक देहसे विरक्त होकर अशरीर अविकार आत्मस्वभावके अभिमुख होनेमे कल्याण—सब लोग अपनी-अपनी गई गुजरी मूर्खताओ की रोकड फिरसे देख लेवे ? क्या क्या मूर्खतायें करते रहे, वे सब बात फिर भी सोच सकते अपनी अपनी । तो ऐसा यह देह जिसको यह जीव ढोये-ढोये फिरता वह देह घृणित है, भयानक है, विनश्वर है, सताप करने वाला है, इससे स्नेह करना व्यर्थ है । ऐसे देहसे लगाव करनेमे हित नही है । बल्कि लगाव रहेगा तो क्लेश ही मिलेगा । एक राजाका पुत्र था । वह जा रहा था तो किसी सेठकी बहूपर उसकी दृष्टि पड गई, उसे देखकर वह राजपुत्र बडा अधीर हो गया । जब किसी दासीने उससे उदासीका कारण पूछा तो राजपुत्रने अपना उदासी का कारण उससे बता दिया । तो दासी ने कहा कि तुम्हारा यह काम मैं करवाऊँगी । आखिर गई सेठकी बहूके पास और सारा हाल कह सुनाया । तो वह बहू बोली ठीक है, राजपुत्रसे कह देना कि अबसे १५ वे दिन वह यहाँ हमारे घर आ जाय । ठीक है । अब वह बहू तो थी चतुर । उसने क्या किया कि कोई ऐसी चीज खा लिया कि जिससे उसके दस्त आने शुरू हो गए । उसने एक बड़ासा मटका रखा था, जिसमे प्रतिदिन वह दस्त कर

दिया करती थी। इस तरहसे १५ दिन बराबर यही काम किया। १५ दिन तक दस्त करने के कारण वह बहू बडी दुबली पतली और कान्तिहीन हो गई और दस्तसे वह मटका भी भर गया। उस मटके को बहूने किसी ढक्कनसे बन्द कर दिया और उसको बडे ही सुन्दर रगोसे खूब सजा दिया। जब १५ वें दिन वह राजपुत्र उस बहूके घर आया तो क्या देखता है कि उस बहूमे तो सौन्दर्यका नाम न था बल्कि उसे देखकर कुछ घृणासी पैदा हो रही थी। उस बहूको देखकर राजपुत्र बडे आश्चर्यमे पड गया और बडा उदास हो गया। उसे उदास देखकर बहू बोली—हे राजपुत्र! आप उदास क्यो हो रहे? तो राजपुत्र बोला—देखो मुझे वह सुन्दरता अब नही दिख रही जो मैने १५ दिन पहले देखी थी। तो फिर वह बहू बोली—हे राजपुत्र! आप इतना अधीर न हो, आप जिस सुन्दरतासे प्यार करते है वह सुन्दरता तो हमने एक जगह छिपाकर रख दी है। अगर आप देखना चाहे तो मै दिखा दू? हाँ हाँ दिखाइये। वह बहू राजपुत्रको उस मटकेके पास ले गई और बोली—देखो हमारी सारी सुन्दरता इस मटकेके अन्दर भरी है। राजपुत्रने उसे खोलकर देखा तो दुर्गन्धके मारे वह घबडा कर वापिस चला गया। तो भाई यह देह रम्य नही है, यह महा घृणित है, हितकारी नही है, बल्कि क्लेशका कारण है। सो भाई इस देहका राग त्याग दो और इस देहरहित जो अपना ज्ञानस्वरूप है, सहजभाव है उसमें प्रीति करो तो कल्याण होगा। इस देहसे प्रीति छोडो। इस देहरहित जो आत्माका ज्ञानज्योतिस्वरूप है उसमे 'यह मै हू' ऐसी अपने आपको आस्था बनावे, यह ही कल्याणका मार्ग है।

(४१)

स्वार्थी तो बनो, किन्तु सत्य स्वार्थकी पहिचान अवश्य कर लो। सत्य स्वार्थ अपने सहज ज्ञानस्वभावमे ज्ञानको रमाकर सहजानन्द पाना है। क्षणिक, भिन्न व तृष्णाके हेतुभूत विषयप्रसग स्वार्थ नही, अनर्थ है।

लौकिक स्वार्थोकी दुःखबीजता—मनुष्य परस्परमे एक दूसरेको कहते है कि यह तो स्वार्थी है, खुदगर्ज है, लेकिन स्वार्थी न हो तो कोई क्या परार्थी हो सकता है? जब ससार के प्रत्येक पदार्थ परस्पर अत्यन्त भिन्न है, एकसे दूसरेमे अत्यन्ताभाव है तो क्या कोई किसी दूसरेको चाह सकता है अथवा कोई किसी दूसरेका काम कर सकता है क्या? यह बात तो सम्भव नही। व्यवहार जो चल रहा है कि हमने तुम्हारा उपकार किया, इसने उसका कुछ काम किया, तो यह सब निमित्तनैमित्तिक भावके आधारपर व्यवहार है। वस्तुत. कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका न करने वाला है, न चाहने वाला है और न भोगने वाला है, बल्कि और अन्तर्दृष्टि करें तो कोई किसी दूसरेका जानने वाला भी नही है, क्योकि जानन

परिणमन खुदका खुदके प्रदेशोमे ही हो सकता है। ज्ञानक्रियाका प्रयोग बाह्यमे नही हुआ करता। निश्चयसे देखा जाय तो कोई किसी पदार्थका कुछ करने वाला नही है। तो जो लोग लोगोको स्वार्थी कहते है वे कुछ अपराध तो नही करते। ठीक ही तो कहते है, पर थोडा विचार करना होगा स्वार्थी सब है। स्वार्थी ही सबको रहना चाहिए। स्वार्थी होनेमे ही भला है, पर स्वार्थी किसका नाम है इस पर कुछ दृष्टि देनी जरूरी है। स्वार्थी तो बनो किन्तु वास्तविक स्वार्थ क्या है ? इसकी पहिचान जरूर रखो। अच्छा इसकी पहिचानसे पहले थोडा लौकिक झंझट स्वार्थकी भी परख करो। लोग स्वार्थ समझते हैं इस बातमे कि जो ५ इन्द्रियके विषय और मनका विषय हे, कषायें है, इनकी पूर्ति बने, इसमे समझते है लोग अपना स्वार्थ, अर्थात् कषायोके भोगनेको लोग स्वार्थ समझते है, पर विचार तो करो कि इन इन्द्रियविषयोका भोगोपभोग, मनके विषयका भोगोपभोग। स्वार्थ कैसा ? स्वार्थ नाम है स्वका प्रयोजन। जिसमे स्वका कल्याण होता हो वह कहलाता है स्वार्थ। तो भोगोमे स्वार्थ कैसे है—इस बात पर विचार करो। पहली बात तो यह है कि ये विषय सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न है। इनका जुदा अस्तित्व है, इनका परिणमन इनके ही अनुसार है, अत्यन्त भिन्न है। अत्यन्त भिन्न पदार्थ मेरा स्वार्थ कैसे कहला सकते ? और फिर क्षणिक भी है सब। कुछ देरको हुए है, कुछ देर बाद नष्ट हो जाते है। तो जो क्षणिक है, नही रहते, कुछ काल भी होकर नष्ट हो जाते है उनपर दृष्टि जमायें, उनका अनुभव करें, उनमे विकल्प बनाये, उनको भोगें तो वह अपना प्रयोजन कैसे हो सकता है ? कोई कहे कि रहने दो भिन्न और रहने दो क्षणिक, मगर जितने काल भोगोका प्रसग है उतने काल तो जीव सुखी हो लेता है, सो यह भी बात ठीक नही है। जितने काल भोगका प्रसग है उतने काल यह जीव दुःखी रहता है, क्योकि वह भोग तृष्णाका कारणभूत है। तृष्णाका सग लगा हुआ है। जहाँ जहाँ तृष्णाभाव लगा है वहाँ वहाँ क्लेश है। तो इन भिन्न क्षणिक विषयोका भोगोपभोग सुख शान्तिके लिए नही, किन्तु केवल कष्टके लिए है। ऐसा विषयोका सगम स्वार्थ कैसे हो सकता है ? वह तो दुःखका ही बीजभूत है।

इन्द्रियविषयोकी प्रीतिसे बरबादी होनेके कुछ उदाहरण—पुराणोमे अनेक चरित्र आये। तृष्णाके वश होकर कैसा बडे-बडे पुरुषोने भी अपनी बरबादी की और लौकिक घटना मे भी देखा जाता है कि इन इन्द्रियविषयोमे से एक-एक इन्द्रिय विषय भी जीवके प्राणघात के लिए हो जाता है। स्पर्शनइन्द्रियके विषयकी तृष्णाके कारण हाथी पकडा जाता है। जिस-का कितना महान बल होता कि अगर सिह और हाथीके बलकी तुलना की जाय तो हाथीका बल अधिक होता है, पर सिह होता है फुर्तीला इसलिए दोनोकी लडाईमे विजय सिहकी

होती है, मगर हाथी यदि सिहको पकड़ ले तो उसके टूक-टूक कर दे। हाथीका बल बहुत बडा बताया गया है, मगर वह भी स्पर्शन इन्द्रियके वश होकर अपनेको गड्ढेमे गिरा देता है और पराधीन बन जाता है, वह कैसे? सो बताया गया है कि जगलमे कोई बडा गड्ढा खोदते है शिकारी लोग, उसपर बाँसकी पतली-पतली पंचें बिछाकर उसपर पतली-पतली मिट्टी डाल देते है, उसपर एक झूठी हथिनी बनाते है और कोई ५० हाथ दूरपर एक दूसरा नकली हाथी उस हथिनीकी ओर दौड़ता हुआ सा बना देते है। अब जगलका हाथी इन दोनो कृत्रिम हाथी तथा हथिनीको देखकर हथिनीको अपने विषयोका साधन जानकर दौडता है और आकर उस गड्ढेमे गिर जाता है। कई दिनो तक वह भूखा प्यासा उसी गड्ढेमे पडा रहता है। जब वह बहुत शिथिल हो जाता है तो शिकारी लोग उस हाथीको अपने वशमे करनेके लिए गली निकालना प्रारम्भ कर देते है, फिर धीरे-धीरे उसको अकुशके वश करके उसको गड्ढेसे बाहर निकाल लेते है। तो देखो एक स्पर्शनइन्द्रियके वश होकर हाथीने अपने प्राण गवाये या अपनी बरबादी की। रसनाइन्द्रियके विषयका उदाहरण प्रसिद्ध है। मछली एक केंचुवा जैसा कुछ मासके टुकडेके लोभमे आकर अपने प्राण गंवा देती है। मछली पकड़ने वाले लोग एक लम्बे डडेमे एक काँटेकी तरहका कोला सूतमे फसाकर तथा उसे काँटेमे माँस पिण्ड फसाकर पानीमे डाल देते है तो माँसके लोभमे आकर मछली उसे खा जाती है। वह काँटा मछलीके कठमे फस जाता है और मछली अपने प्राण गंवा देती है। तो रसनाइन्द्रियके वशीभूत होकर मछलीने अपने प्राण गवाये। अब घ्राणेन्द्रियकी बात देखिये—जिस भवरेमे इतनी शक्ति है कि काठको छेदकर आरपार हो जाय वह भवरा गधके लोभमे आकर कमलके फूलके अन्दर सूर्यास्तके समय बद हो जाता है। हाथी आता है और उसे खा जाता है। गधके लोभमे आकर वह भँवरा कमलके उन कोमल पत्तोको भी छेदकर बाहर नही निकल पाता। तो देखिये एक इस घ्राणेन्द्रियके वशीभूत होकर भ्रमरने अपने प्राण गवाये। अब चक्षुइन्द्रिय के विषयकी बात देखिये—चक्षुइन्द्रियके लोभमे आकर पतिगे दीपकमे गिरकर जल जाते है, इसी प्रकार कर्णेन्द्रियके विषयोमे आसक्त होकर सांप तथा हिरण ये अपने आपको गारुडके द्वारा गिरफ्तार करा लेते है। जब कोई बीन बजे, सितार बजे तो सांप और हिरन उसके निकट आ जाते है और शिकारी फिर उन्हे पकड लेता है। तो एक कर्णेन्द्रियके वश होकर ये सर्प तथा हिरण अपने प्राण गवां देते है और मनका विषय तो बहुत ही भयकर है। इस से तो बडे-बडे राजाओने भी प्राण गवाया। तो ये विषय एक तृष्णाके हेतुभूत है, ये रम्य नही है, और इनके भोगनेको स्वार्थ नही कहते। यह अपने कल्याणकी बात नही है।

वास्तविक स्वार्थ, आन्तरिक स्वास्थ्य, स्वरूपमग्नताके पौरुषका कर्तव्य—भैया!

स्वार्थी तो बनें मगर वास्तविक स्वार्थकी बात पहिचान लें। क्या है स्वार्थ, किसमे है मेरा भला ? किसमे मेरे आनन्दका प्रयोजन सिद्ध होता है ? तो स्वार्थ क्या है ? वास्तविक स्वार्थ है स्वास्थ्य। अपने आपके स्वरूपमे स्थिर हो जाना यह ही है वास्तविक स्वार्थ, क्योकि स्वरूपमग्नता होनेमे ही जीवको निराकुलता है। स्वरूपसे हट कर बाहरी पदार्थोंमे उपयोग लगाये तो वहाँ इस जीवको व्यग्रता ही है। जीवका स्वार्थ तो अपने आत्माके स्वरूपमे समा जाना है, विषयोका सगम स्वार्थ नही है, किन्तु यह तो अनर्थ है, याने उल्टा बरबाद करनेका ही कारणभूत हैं। जगतमे जो जीव अब तक रुलते चले आये वे इन विषयोंकी प्रीतिसे ही तो रुलते चले आये है। तो इन विषयोके सगमका ध्यान छोडें और अपने आपके सच्चे स्वरूपका सहज भावका परिचय करके 'यह ही मै हू' ऐसा दृढ निर्णय करके रह जायें। देखो संसार महा विपदा है। इस महाविपदासे छुटकारा पानेके लिए अपनी भीतर सहज सत्यका दृढ आग्रह करना होगा। कोई कुछ कह रहा है उल्टा सीधा, यहाँ दृढ आग्रह बनाना है कि मै तो सहज ज्ञानानन्द स्वभाव हू, इस स्वरूपमे किसी दूसरी चीजका प्रवेश ही नही है। जगतमे कितने ही पदार्थ मौजूद है, कभी दिख भी जाते है। कभी ध्यानमे आँखें बन्द करके अपने ध्यानमे रहते है। उनकी ओर उपेक्षा है, पर ज्ञानी जानता है कि जगतके जितने पदार्थ है उनका कुछ भी देखने लायक नही है, मेरे हितके साधन नही है। मेरे हितका साधन है तो मेरे अपने आपके स्वरूपमे स्थिर हो जाना है। तो समस्त विषयोके सग प्रसगसे दूर होकर अपने आपमे अपने स्वरूपमे मग्न होनेका पौरुष करना कर्तव्य है।

(४२)

निज अन्त प्रकाशमान सहजपरमात्मतत्त्वके दर्शन बिना क्लेश ही पाया, अब ज्ञानघन परमब्रह्मके प्रसादसे सुबुद्धि पाई तो इसका सदुपयोग कर लो। यदि वह अवसर खो दिया तो न जाने पेड, कीडे क्या-क्या हो होकर दुर्दशा भोगोगे।

सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन बिना अनतकालका व्यर्थ यापन—जरा अपना पिछला इतिहास देखो—आज हम मनुष्य है, कबसे मनुष्य है ? सो लोग जानते है कि हम इतने बर्षसे है, अच्छा और उतने वर्षसे पहले हम क्या थे ? कुछ भी न थे, यह बात तो हो नही सकती, क्योकि कुछ भी न हो और आज कुछ बन जाय, ऐसा कभी नही होता। जो पदार्थ पहले से सत् है उसी पदार्थमे परिणमन आता है। जो सत् नही उसमे परिणमन कैसे हो ? तो आज हम मनुष्य है तो इससे पहले हम कुछ जरूर थे। क्या थे ? तो युक्तिसे विचार लो जब अज्ञान लगा है, रागद्वेष लगा है, बाह्य पदार्थोंमे अपना ध्यान लगा है तो ये जगतके जीव जो दिख रहे है इन्ही मे से ही तो मै कुछ होऊगा पहले। सूकर, गधा, कुत्ता, बिल्ली, कीडा

मकौडा, पेड पौधे, पानी और निगोद, ये ही तो मै था पहले। कितना काल व्यतीत हो गया खोटे खोटे परिणमनोमे ? अच्छा कबसे काल है ? क्या किसी दिनसे समय प्रारभ होता है कि अमुक क्षणसे दिनका प्रारम्भ हुआ। उससे पहले कुछ न था क्या ? समय अनादि है। युक्ति से सोच लो। समयको किसीने बनाया नही। जो कोई ऐसा प्रोग्राम रचा गया हो कि अब तक तो समय कुछ होता ही नही, आजसे समय होते रहनेका प्रोगाम है, ऐसा कोई प्रोग्राम बनाता है क्या ? समयकी आदि नही। अच्छा, हमारी आदि है क्या कि किसी दिनसे हमारा अस्तित्त्व बना। था नही तो बना कैसे ? जो असत् है उसका प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है ? तो हम भी अनादिसे है, समय भी अनादिसे है, और हमारी खोटी दशाये भी अनादिसे है। खोटी दशाओको भोग भोगकर कितना काल व्यतीत हुआ ? अनन्त काल व्यतीत हुआ। इतना काल कैसे व्यतीत हो गया, क्यो व्यतीत हो गया ? अपने आपमे बसे हुए सहजपरमात्मतत्त्वके दर्शन बिना अनन्तकाल हमने भोगोमे खोया।

सहज परमात्मतत्त्वकी अन्तःप्रकाशमानता तथा उसके आश्रयका कर्तव्य—जिस परमात्मदर्शनके विना अनन्त काल हमने बिता डाला वह सहजपरमात्मतत्त्व भी अनादिकाल से अन्त प्रकाशमान है। देखो कितनी उलझन है ? जैसे कोई घरमे या मित्रमडलीमे रहता तो है अच्छी तरह। सबका भाव उसके प्रति उत्तम है, पर इसे पता ही न हो, भ्रम हो जाय, जानकारी हो न हो, तो जैसे यह दुःखी होता है तो व्यर्थकी कल्पनाओसे दुःखी होता है, ऐसे ही अपने आपमे अन्त प्रकाशमान है वह परमात्मस्वरूप, परतु भोगोकी आशासे, तृष्णासे इस सहज परमात्मतत्त्वको न निरख सके, उसकी वजह यह है कि अब तक हमारा अनन्तकाल खोटे भवोमे व्यतीत हुआ। तो देखो अपने आपमे अन्तरमे प्रकाशमान इस सहज ज्ञानस्वरूप का जब दर्शन न कर सके तो इस वृत्तिमे अनन्तकाल व्यतीत हो गया। अच्छा पुराना इतिहास तो ऐसा है, अब वर्तमानमे क्या किया जाय सो बताओ ? तो सुनो—वर्तमानमे क्या करना चाहिए ? पहले यह ही सोचो कि कुछ कर सकने लायक हमारी बुद्धि है या नही। हाँ हाँ बुद्धि तो है। जब हम इस बुद्धि द्वारा लोकके बड़े-बडे टेढ़ कामोको सभाल लेते है तो हम इस बुद्धि द्वारा अपने आपके सहजस्वरूपको न सभाल सकेगे क्या ? बुद्धि तो है, सद्बुद्धि तो मिल गई और वह मिली है किसके प्रसादमे ? इसी शुद्ध ज्ञानदर्शनमय परम ब्रह्मके प्रसादसे। कारण पाकर जैसे जैसे आत्माके कलक दूर होते गए, ज्ञानविकास होता गया। आज हमने इतनी बुद्धि पायी कि हम हित अहितका विवेक कर सकते है, तो यही तो है अपने स्वरूपका परमपद। हम इस लायक आज बने कि हम सही परिचय बना ले। यदि ऐसी सद्बुद्धि पायी है तो भाई इतना सदुपयोग कर लेना ठीक है, उसके लिए विलम्ब न

करना। जैसे जल्दी भावना बने वैसे इसका सदुपयोग करना चाहिए। सदुपयोग क्या है कि अपनी बुद्धिका उस प्रकार प्रयोग करते रहे। ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्वका दर्शन करते रहे, उसका लक्ष्य बनाये रहे तो यह कहलायगा अपनी सद्बुद्धिका सदुपयोग।

गये गुजरे समयका चिन्तन करके कुछ शिक्षा लेनेका अनुरोध—देखो जिसमे ममता है, घरके लोग है, मित्रमण्डलीके लोग है उनके लिए तो हर एक कोई तन, मन, धन, वचन सब कुछ हाजिर करते है और अपने आपको ऐसा ही उनके लिए सर्वस्व समझता है। लेकिन यह तो सब धोखा है। देव, शास्त्र, गुरु जिनसे हमारा ममताका नाता नही, केवल आत्माके कल्याणके लिए ही जिनका दर्शन है उनके प्रति, धर्मके प्रति तन, धन, वचन ये कुर्बान हो, समर्पित हो तो समझिये कि हममे अपने आपके स्वरूपमे भक्ति करनेकी पात्रता आयी। मौज आयी यह भी एक तफरी। मन्दिर आये, पूजा किया, दर्शन किया, कुछ स्वाध्याय किया और जैसे ही निकले तो वही टेढी खीर, वही परिणाम, वही अन्याय करना, और और बाते सोचना, तो ऐसी एक घटनासे कल्याण न बनेगा। कल्याण होगा तो अपने सत्यस्वरूपके बारबार अभ्याससे। हाँ तो सदुपयोग कीजिए अपनी बुद्धिका, अपनेको अहर्निश ऐसा अनुभवमे लें कि मै सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हू। जो बात सच है उसकी भावना बनायें। बात जो मिथ्या है उससे अपनेको अलग हटायें। यदि हम सदुपयोग कर सके अपनी पायी हुई बुद्धिका तब तो जीवन सफल है, नही तो यह भव हमने व्यर्थ ही खो दिया समझिये। जैसे आज जिसकी जितनी उम्र है कोई ५० सालका, कोई ६० सालका तो वह सोचता है ना—अरे ये जीवनके इतने वर्ष कैसे निकल गए ? कुछ पता ही न पडा। उस बीते हुए समयके बारेमे तो यह ही जच रहा ना कि आननफानन कैसे गुजर गया सारा समय ? तो जैसे अब तकका जो समय गुजर गया, ऐसे ही चंद दिनोका यह भव भी तो गुजर ही जायगा और जल्दी ही गुजरेगा। तो यो यह अपना भव इन भोग साधनोमे ही गुजर गया, तो फिर पता नही पडता कि उद्धार कैसे होगा ? आज मनुष्य है तो सब तरहकी हम व्यवस्था बना रहे है। दूसरेके मनकी समझ रहे है, अपने मनकी बात दूसरोको बता रहे है। सारे कार्य चलते है और जब यह आत्मनिर्णय न रहेगा तो रहेगा क्या ? पर्यायमे आत्मबुद्धि कि यह मै हू। जो पर्याय पायी उसीको मानेगे कि यह मै हू। तो जैसी पर्याय पायेगे और उस रूप अपनेको मानेंगे वैसा ही कर्मबन्ध है, विकल्प है और इस कर्मके उदयकालमे दुर्गति होना निश्चित है।

दृश्य लोकको देखकर आत्महित करनेकी शिक्षापर चलनेका औचित्य—यह आजका जो दुर्लभ अवसर पाया इसे व्यर्थ न खोये। इससे कोई ऊँचा काम अपना बना लीजिए। अन्यथा मर गए और हो गए फिर वही कीडे मकौडे तो फिर न जाने क्या दशा होगी ? इस

से इन कीडा मकौडोको निरखकर जो आपको दिख जाते है उनसे ही एक ऐसे ढंगका चिन्तन बना लीजिए अपना कि हमारा कल्याण कैसे होगा ? ये कीडा मकौडा अब क्या कर सकते है ? तो इन कीडा मकौडोकी दुर्गति देखकर अपने आपमे कुछ तो ऐसा चिन्तन लाइये कि मेरा भव न बिगड जाय। देखो सबसे बडा धन ज्ञान हम आपने पाया। यदि ज्ञानतत्त्वके निरखनेको भीतरमे तैयारी बनेगी तो वर्तमानमे भी शान्तिसे रह लेंगे और आगेका भव भी न बिगडेगा। यदि ऐसा मौका पाया, ऐसी भावना पायी तो मुक्तिके निकट पहुच जायेंगे और यदि यह आत्मभावना न मिल सकी तो ससारमे रुलना ही रुलना बना रहेगा। तो देखो आज इस भवमे जो कुछ धन वैभव आदिक बाह्य समागम पाया उसे सर्वस्व न समझे। अरे यह सारा समागम स्वप्नवत् है। जैसे स्वप्नमे जो कुछ दिखता है वह उस समय तो सच लगता है, पर जगने पर मालूम पडता है कि अरे वह तो कुछ नही था। ऐसे ही इस मोहकी नीदका आजका पाया हुआ समागम अपनेको सब कुछ दिख रहा है, लेकिन जब यह मोह-नीद नष्ट हो जाय, पदार्थका वास्तविक स्वरूप दृष्टिमे आ जाय तो उसे मालूम पडता है कि अहो अबसे पहले इसने मोहकी नीदमे न जाने क्या-क्या मान रखा था और उस मान्यता से अपनेको दु खी बना रहे थे। तो भाई कुछ अपने आपके बारेमे विचार करे, हमारा अनन्त काल तो खोटा गया और आज हमने कुछ हित अहित समझनेकी बुद्धि पायी तो उसका सदुपयोग करे। ज्ञानघन जो परमपिता परमेश्वर निज ब्रह्म है, उसकी दृष्टि बनाये और इससे अपना शेष जीवन सफल करें। यदि इस भवमे न चेत सके तो फिर आगे चेतना बडा मुश्किल है। कदाचित् चेतनेका मौका मिले तो ऐसी आशा रखकर वर्तमान भवको बिगाड दिया तो ठीक नही। जो आगेकी आशा रखकर वर्तमान भवको बिगाड़ दे तो वहाँ आगे के लिए हितका अवसर पानेकी सम्भावना नही है।

(४३)

खुद ज्ञानघन और खुदका ही ज्ञान न रहा, इससे गजब और क्या हो सकता है ? ज्ञानस्वरूप होकर भी खुदका ज्ञान न करना अपने आपपर गजब सितम ढाना है। अज्ञान महा अपराध है। आत्मज्ञान करो, अन्य सदकी उपेक्षा कर दो।

ज्ञानमय होनेपर भी स्वय स्वयके ज्ञानस्वरूपको न जाननेकी गजब बातपर आश्चर्य— जब कोई सुनाता है कि पानीमे रहने वाली मछली भी प्यासी रहा करती है अथवा किसी गुरुने, किसी भक्तको भेजा, कहा कि जावो नदीके तटपर मगर रहता है, वह ज्ञानी है, वह तुम्हे आत्माका ज्ञान देगा। गया वह और कहा—मगरराज मुझको मेरा ज्ञान दो। तो मगर राजने मानो कहा कि भाई हमको इस समय बहुत तेज प्यास लगी है, तुम्हारे हाथमे लोटा है

कुवेसे पानी भर लावो, हम अपनी प्यास बुझा लें तब आपको उपदेश देंगे। तो वह पुरुष वहाँ सोचता है कि यह मगरराज कितना मूर्ख है, अरे पानीमे ही तो बस रहा और अपनेको प्यासा बता रहा। तो ऐसे ही यह बात कितने गजबकी चल रही है कि हूं तो मै ज्ञानघन, ज्ञान ज्ञान ही मेरा स्वरूप है और फिर उस ज्ञानको ही नही जान पाता तो यह तो बडे गजब की बात, अचम्भेकी बात समझना चाहिए। क्या वजह है? खुद है ज्ञानस्वरूप और खुदको ज्ञानमय नही समझ पाता। जब यह है ज्ञानस्वरूप और ज्ञान ही का नाम आत्मा है और फिर यह ज्ञान इस ज्ञानस्वरूपको ही न समझ पाये कि यह है स्वयं ज्ञानस्वरूप तो इससे और बडे गजबकी बात, अचम्भेकी बात और क्या हो सकती है? अपने आपके स्वरूपको जानने की कोशिश करें। भीतर देखो कि मै क्या हू, किस तरहसे क्या हो सकता हू? दृष्टि पसारो, पसारो नही, किन्तु सकोचो, अपनेको देखो। यह मै किस स्वरूप हू, मेरा सर्वस्व क्या है? किससे रचा हुआ हू, क्या तत्त्व हू। शरीरको भुलावो और एक आत्माको निरखो कि मै क्या हू? मैं हू यह थोडे थोडे ज्ञान वाला, ऐसा कोई समझे तो उसने अभी स्वरूप जाना ही नही। मैं हू कोई सहजज्ञानस्वरूप अखण्ड ज्ञान ज्ञान ही से व्याप्त, ऐसा मै ज्ञानमय आत्मतत्त्व ज्ञान, ज्ञान ही जिसके अन्दर है उसके अनुरूप बाहरी वृत्ति हो, बस यही है सर्वस्व। निरपेक्ष वृत्ति न हो तो भी अन्यके गुणका काम नही। सर्व परिस्थितियोमे ज्ञान ज्ञान ही का काम चल रहा। किसीको दुःख मिला तो क्या मिला? दु ख। ज्ञानको ही उस प्रकार बना लिया कि जिसमे दु खका अनुभव हुआ। किसीने सुख माना तो क्या मिला कहीसे? सुख। ज्ञानको ही उस प्रकारका बना डाला जिसमे सुखसाताका अनुभव होता है। तो जब ज्ञान ही स्वरूप है, ज्ञानमात्र ही मै हू, ज्ञान ही सर्वस्व है, ज्ञानमय ही हमारी वृत्ति है, ज्ञानमय ही रहता है, ज्ञान ही साथ चलता है, सर्व कुछ मेरा ज्ञानस्वरूपमय है और फिर अपने ज्ञानस्वरूपको न जाना तो यह है बडे गजबकी बात। इससे गजब और क्या हो सकता है?

अन्तःप्रभुसे प्रतिकूल हो जानेका अन्याय—ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञानके न होनेकी गजब बातके बाद फिर और देखिये—ज्ञानस्वरूप हू मै, अन्तःसहजस्वरूप हू मैं और निजमे बैठे हुए प्रकाशमान शक्तिरूप अपने भगवानको न देखूं और उसे न देखकर बाहरमे ही अपना उपयोग ढुलाये तो यह कितना बडा भारी हो गया अन्याय अपने प्रभुपर? अपने घरके किसी बडेकी उपेक्षा करना और पास-पडौसके छोटे तुच्छ, गुंडे, दुर्जनोमे लग जाना, यह अपने घरके पालक रक्षक बडेपर अन्याय है कि नही और उसका फल कितना खोटा मिलेगा कि उसे दुर्दशाओमे जाना पडेगा। यह तो है एक लौकिक बात। यहाँ तो चाहे किसी तरह गुजारा भी हो सकता है, मगर अपने अन्तःप्रकाशमान अनादि अनन्त शाश्वत इस चैतन्य महाप्रभुकी

दृष्टि न होना और इसे छोडकर बाहरकी तुच्छ बातको बडा महत्त्व देना, उससे अपना बडप्पन मानना यह अपने आपके प्रभुपर एक बडा गजब सितम ढाना है, इसका फल कौन भोगेगा ? जो किसी बडेसे विपरीत चलेगा, जो अपने आपमे सर्वस्व है, जिसकी कृपा बिना शान्ति नही मिल सकती, ऐसे सहज परमात्मतत्त्वकी ओर अभिमुख न हो और छलमय माया स्वरूप बाहरके चेतन अचेतन वैभवकी ओर अभिमुख हो जाये तो यह अपने आपपर बहुत बडा भारी अन्याय है । मगर जहाँ अन्याय करने वाले सभी हो वहाँ अन्यायकी बात कहेगा कौन ? समारके सभी जीवोमे यह ही बात तो बसी पडी हुई है । सब बाहरकी ओर बाहरका महत्त्व देते । अपने आपमे जो निधान है, ज्ञानस्वरूप है उसकी महिमा नही भाती, यह है अपने आपपर अन्य.य ।

प्रभुसे प्रतिकूल हो जानेके अन्याघ.का कारण अज्ञान—प्रभुसे प्रतिकूल होनेका अन्याय क्यो कर बैठा यह जीव ? अज्ञान था इसे । इसको अपने प्रभुकी महिमाका पता ही न था । जहाँ सहजस्वभावत. स्वच्छ ज्ञानकी उछाले चलती हो, ऐसे स्वभावका जिसको पता नही है वह तो बाहरके कृत्रिम बनावटी इन भ्रान्त कल्पित सुखोकी ओर मुडता है, तो ऐसे अज्ञान का अपराध जब तक है तब तक ससारमे रुलता है । देखो हम आप सब यही बडे सुखसे शान्तिसे समतासे यहाँ बैठ सकते है और आराम पा सकते है, किन्तु जहाँ अपनेको न देखकर बाहरकी चीजोको अपना लेना, महत्व आँकना, यह वृत्ति जहाँ लग गई हो वहाँ शान्तिकी आशा नही होती । देखो अपने को मै ज्ञानस्वरूप हू । मब कर डाला काम इस जीवने, मगर एक यही काम नही किया गया । क्यो जी हजार काम कर डाला हो और सभी कामोमें टोटा पडा हो और उससे कही अच्छा काम दीखे तो बडे उमगसे कह उठते है कि हाँ हाँ अब एक काम और करके देख लिया जायगा । क्या हर्ज है ? जहाँ हजार कामोमे विजय न मिली तो चलो इस ज्ञानका एक काम और करके देख लें । इस अलौकिक कामको करनेके लिए न बाहर कही जाना, न किसीकी प्रतीक्षा रखना । किसी भी प्रकारका कही कोई कष्ट नही है । एक अपनेको देखें कि मै ज्ञानमात्र हू, ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानज्ञानमय ही हू, ऐसा अपना एक बोध बनाया फिर अन्याय नही, फिर तो न्याय ही न्याय बर्तेगा । तो जहाँ यह न्याय नही, जहाँ यह ज्ञान नही, जहाँ यह आराधना नही वहाँ तो इस अज्ञानपरिणामका फल अतीव भयानक है । सो भाई अपने आपपर दया करो, व्यर्थ कष्ट मत भोगो, विकल्प जाल बढाकर अपनेको अशान्त मत बनाओ । एक इस अतस्तत्त्वका बोध करके इस ही एक आत्माराममे आत्मज्ञानमे अपनेको रमावो और सकटोसे सदाके लिए मुक्त होनेका उपाय बनाओ ।

(४४)

प्रियतम चैतन्य महाप्रभो ! तुमसे बिछुडकर मै उपयोग बहुत बरबाद हुआ, आनन्द घन चैतन्यप्रभु तो मुझमे ही था, मेरी ही भूलसे गुप्त रहा, प्रियतम चैतन्य महाप्रभो ! दर्शन दिये, अब कभी ओझल न होना ।

ज्ञानस्वरूपकी महिमाकी समझसे विकल्पविपदाका विलय—जब अपने ज्ञानस्वरूपकी महिमा समझमे आती है तो ऐसे ही यह ज्ञानी कह उठता है कि अहो एक इस ज्ञानप्रकाशके पाये बिना अब तक अनन्त सारा समय विकल्प-विकल्पमे ही गया और कहो झुझलाकर भी बोले—तुम यही तो थे जो मुझे दिख गए । जो मेरी आराधनामे आया वह तो कही बाहर तो था ही नही । था तो यहाँ ही, क्यो नही अब तक दीखा ? एक ऐसे सहजस्वभावकी रुचिमे ये शब्द निकल सकते है । क्यो इतना काल व्यर्थमे व्यतीत हो गया ? खैर जब चेते तभी भला । तो यह ज्ञानी पुरुष अपने इस अन्त प्रभुसे कहता है कि हे चैतन्यमहाप्रभो, हे सहज चैतन्य-स्वरूप ! तुझसे मैं अब तक बिछुडा रहा था । मै के मायने उपयोग और तुझके मायने सहज-शुद्ध परमात्मतत्त्व । हे परमात्मतत्त्व, तुमसे अभी तक यह उपयोग बिछुडा रहा और इसी बिछोहके कारण बरबाद हुआ । बरबादके मायने यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ—इन कषायोमे उपयोगको लगाना और अपने आपको अधीर बनाना, सो हे चैतन्यमहाप्रभो ! तेरी कृपा बिना, तेरी दृष्टि बिना अब तक मैं इस ससारमे परिभ्रमण करता हुआ बरबाद ही होता चला आया । यह आनन्दघन सहजचैतन्यस्वरूप जो दृष्टिमे आया, जब आया तब ही से संकट समाप्त । एक निजकी बात सीखनेके लिए ही ये सब प्रभुभक्ति, स्वाध्याय, सत्सग ध्यान और ये विषयपरिहार, ये व्रतनियम सयम ये सब इतनी सी एक कला पानेके लिए किए जाते है । मैं समझ जाऊँ—यह मैं ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्व सबसे निराला स्वय सहज ज्योतिर्मय निरा-कुल हू, ऐसा ज्ञान बना तो रहे, वहाँ फिर सकट नही, कोई मुझे नही जानता । यह ही तो मेरे लिए बडा अच्छा है और जो कोई मुझे जानता है सो जो जानता है न वह सच और जिस ढगमे मुझे जानता न वह सच । तो झूठ-झूठकी लडाईमे क्या दखल देना ? मै सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप मात्र हू । यहाँ कष्टका कोई काम नही । देखो सबसे उत्कृष्ट जो अपने कल्याणकी बात है वह कितनी स्वाधीन है और कितनी सुगम है ? पर इसके लिए निजका साहस बनाना होगा ।

प्रबल भेदविज्ञान बिना संसरणप्रसंगसे निवृत्तिकी अशक्यता—यह ससार तो एक मानो वह फड़ है जहाँ जुवा खेला जाता हो । वहाँ कोई फस जाय, कोई दो-चार आनेका दाँव लगा बैठे तो वहाँ फिर ऐसी धारा हो जाती है कि हारे तो खेलना, जीते तो खेलना । और

खेलते-खेलते बहुत कुछ हार गए और थोडेसे पैसे रह गए जेबमे और सोचा कि अब हमे घर चलना चाहिए, तो उस फडपर बैठे हुए जो लोग है उनकी वाणी, उनके वचन, उनका व्यवहार ऐसा होता है कि वे वहांसे भागनेमे समर्थ नही हो पाते। हार गए तो कहेगे कि बस इतना ही दम था, हार गए अब चल दिये, और जीत गये तो कहेगे कि अरे ये तो बडे खुदगर्ज निकले, जीत गए और चल दिए। इस तरहसे वह उस फडसे उठ नही पाता। तो जैसे वह खिलाडी उस जुवेके फडसे निकल नही पाता, इसी तरहकी एक बहुत बडी असुविधा है ज्ञानबल पाये बिना। कुछ थोडा चाहता है कि मै इन विषयसाधनोसे हट जाऊँ, लेकिन यह सब एक ऐसा वातावरण है कि बहुत-बहुत चाहनेपर भी नही हट पाता, और फिर थोडा बहुत ज्ञान भी न हो तब तो वह इसमे आसक्तिसे लगता ही है। तो इस ससारके इस जुवे वाले, हार-जीत वाले अड्डेसे हटनेके लिए बहुत बड़े भेदविज्ञानकी आवश्यकता है। जहाँ यह बात समा गई हो कि मैं तो सबसे निराला हू, मुझे यहां जानने मानने वाला भी कौन ? जो जानता है वह झूठ, जिसको जानता है वह झूठ। यह तो सब ऐसा ही आत्माका प्रसग है, मायाका प्रसग है, मुझे ऐसे ज्ञानविकल्पमे लगना नही और जो मैं परमार्थ ज्ञायक हू ऐसे मुझका जानने वाला स्वय ही स्वरूपमग्न हो जाता है। जब तक आन्तरिक बल प्रकट हो तब यहाँके दृश्य ससार समागमसे छुट्टी पायी जा सकती है।

अन्तःप्रभुके सतत दृष्टिपथगामी बने रहनेकी भावना—यह अन्त.प्रभु जिसका कि अन्तर्दर्शन हुआ। था तो पहलेसे मुझमे अनादिसे ही। अब समझा तो प्रथम तो झुझलाहट हुई कि हे प्रभो! तुम जब नजरमे आये, थे अनादिसे ही मेरेमे सतत और फिर आवश्यकतासे अधिक जब झुझलाहट होती तब फिर पछतावा भी आता। ओह, प्रभु भगवान तुम्हारा इसमे क्या ? मै ही भूलसे अपने आपमे अपने प्रभुको न पा सका। अंतः विराजे हुए प्रभुका अपराध है क्या ? वह तो तब भी वैसा ही, अब भी ऐसा ही। जिसने दृष्टि दी उसने इस पर्यायमे विकास किया। जिसको इस निज परमात्मतत्त्वकी सुध नही वह ससारमे रुलता रहा। तो हे चैतन्य महाप्रभो, हे निज सहज परमपारिणामिक भाव, हे निज समरसपूर्ण सहजस्वभाव! तुमने अब दर्शन तो दिये। अब मेरे ज्ञानमे तुम कुछ आये तो हो, सो जाना, समझा कि यह सारी दुनिया बेकार है, और इस निजमे बसे हुए सहजपरमात्मतत्त्वका उपयोग ही सार है, सो अब आपके दर्शन तो हुए प्रभु। अब ऐसा न हो कि तुम हमसे ओझल हो जावो। इससे महान् वैभव दुनियामे और क्या हो सकता है कि अपने अविकार आनन्दघन सहज ज्ञानस्वभाव सुधमे रहे और सतत खबर रहे, धुन रहे, इससे बढकर और वैभव क्या हो सकता है ? यदि कोई अज्ञानी मोही धनपति होकर या चला, प्रतिष्ठा वाला होकर अपने आपमे अपना गौरव अनुभव

करे, अपने ही अज्ञान विकल्पसे तो क्या परवाह ज्ञानीको ? कोई अपने घरमे बादशाहसा बना फिरे तो रहे, पर शान्ति नही मिल सकती । शान्तिका उपाय तो मात्र यह ही अंत:प्रकाशमान चैतन्यमहाप्रभुके दर्शन है । सो अपने चित्तमे यही भावना बनायें कि मेरेको मेरा यह सहज ज्ञानस्वरूप चैतन्यप्रभु दृष्टिमे आये और सतत इसकी सुध रहे, इसके अतिरिक्त और कुछ न चाहिए । क्यो न चाहिए ? मिले तो भी छूटेगा । सो वियोगके समय कष्ट आये ऐसा उपाय क्यो बनावें ? कुछ न चाहिए । केवल एक चैतन्यमहाप्रभु ही मेरी दृष्टिमे विराजे ।

(८५)

परमार्थको निरखनेमे अधिक समय गुजरो, जहाँ देखो वहाँ परमार्थ, जीवमे निरखो परमात्मस्वरूप, पुद्गलमे निरखो केवल परमाणु, परमार्थके निरखनेपर अपरमार्थके व्यामोहका सकट मिट जावेगा ।

प्रत्येक सत्‌की द्रव्यपर्यायात्मकता—प्रत्येक सत् द्रव्यपर्यायात्मक है अर्थात् वह बनता है, बिगडता है और सदा बना रहता है । तो जो सदा बना रहता है वह भाव तो कहलाता है परमार्थ । और जो बनता है, बिगडता है, याने जिसका उत्पाद व्यय है वह कहलाता है अपरमार्थ या पर्याय । तो जीवोको दोनो ही बातें परिचयमे आ सकती हैं—पदार्थका ध्रुव स्वरूप और पदार्थका परिणमन । पदार्थके परिणमनको जानने वाले तो प्राय सभी जीव हैं और उनमे अनन्त जीव हैं ऐसे कि जो परिणमनको ही सर्वस्व समझते है और अपने परिणमनको भी सर्वस्व समझते है । कोई विलक्षण ध्रुव परमार्थस्वरूप भी है उस भावकी ओर दृष्टि नही की । ऐसे जीवको कहते है अज्ञानी और कुछ विरले ऐसे भी जीव हैं इस लोकमे कि जो परिणमनको भी जानते है कि यह परिणमन है, पर्याय है, परवस्तुके परमार्थस्वरूपको भी जानते है वे कहलाते है सम्यग्दृष्टि जीव । अब यहाँ यह बात निरखें कि परिणमनको ही जानते रहनेमे क्या प्रभाव पडता है और अपने परमार्थस्वरूपको जानते रहनेमे क्या प्रभाव पडता है ? जब जीवके परिणमनपर ही दृष्टि है और यही परिणमन यही विशेष है, सर्वस्व है, जहाँ ऐसी दृष्टि होती है वहाँ चूँकि परिणमन विनाशीक है तो विकार भी स्थिर कैसे रह सकता ? जो अस्थिर परिणमनको जानता हो, फिर अस्थिर विषयको जानने वाले ज्ञानमे अनाकुलता शान्ति स्थिरता कैसे बन सकती है ? तो जो परिणमनको जानने वाला ज्ञान है उसका प्रभाव तो दूषित होता है । और आत्माके प्रभुस्वरूपको जानने वाला जो ज्ञान है वह ज्ञान स्थिर हो सकता है । स्थिर विषयको जाना है वहाँ क्षोभ न होगा, निराकुलता हो सकती है । तो यह है एक निज ध्रुवस्वरूपको जाननेका प्रभाव । यद्यपि पर्याय बिना परमार्थ नही, परमार्थ बिना पर्याय नही । कौनसा है ऐसा पदार्थ जिसमे परिणमन तो होवे नही और

वस्तु कहलाये ? ऐसा तो कुछ है ही नही और कोई जबरदस्ती मतव्य बनाये ऐसा कि पर्याय तो कुछ नही होता, परिणमन है ही नही और बताया जाय कि है कुछ तो वह केवल ब्रह्म-वाद जैसा सिद्धान्त बन जायगा। जहाँ परिणमन नही है वहाँ सत्त्व ही क्या है ? तो परि-णमन हुए बिना पदार्थ नही होता और परमार्थ हुए बिना भी पदार्थ नही होता। सिर्फ परि-णमन परिणमन ही सब कुछ है और परिणमन है वह सब भिन्न-भिन्न समयोमे भिन्न-भिन्न। और प्रत्येक परिणमन है सर्वस्व चीज, परिणमनके सिवाय और कुछ सदा रहने वाला परमा-र्थभूत कुछ है ही नही। ऐसा मानने वालो ! अब यह बतलावो कि वह परिणमन कहाँ हुआ और किस आधारमे हुआ ? कैसे संतान बने, तो होना चाहिए ना वस्तुका ध्रुवस्वरूप। तो जो ध्रुव वस्तु है उस ही मे तो परिणमन होगा। तो परमार्थ बिना परिणमन नही, परिणमन बिना परमार्थ नही।

पदार्थमे परमार्थ व परिणमन दोनोकी अनिवारितता होनेपर भी उनकी दृष्टिका भिन्न-भिन्न प्रभाव—वस्तुमे परमार्थ व परिणमन दोनो ही अनिवारित है, तिस पर भी यह जीव परिणमनपर दृष्टि देता है और उस परिणमनको ही सर्वस्व समझता है, उसके अति-रिक्त अन्यका कुछ बोध ही नही है, परमार्थ उसकी समझमे ही नही है तो ऐसा पुरुष कह-लाता है अज्ञानी और उस अज्ञानके कारण परिणमनको ही उपयोगका विषय बना बनाकर दुःखी होता है और यह सारा जीवन यो कहो कि व्यर्थ उसका गुजर गया है तथा अपने ध्रुव ज्ञानस्वरूपमे 'यह मै हू,' इस प्रकारका प्रत्यय जिसके बना है, विश्वास है, ऐसा पुरुष स्थिर, शान्त, निराकुल रहता है। तो जब परमार्थके निरखनेमे आनन्दका अभ्युदय होता है तब यही तो चाहिए कि परमार्थके निरखनेमे अपना अधिक समय गुजरे। देखनेमे तो सब आ सकता याने जाननेमे परमार्थ भी जाना जाता है, परिणमन भी जाना जाता है, किन्तु परि-णमनको भी समझ चुकने वाला ज्ञानी पुरुष परिणमनको गौण कर जब मुख्यतया परमार्थको निरखता है तो उनके आनन्दका अभ्युदय होता है। परमार्थ और परिणमनका अर्थ क्या है कि कोई चीज है ना, मै हू, आप है, कुछ हे। तो जो भी चीज है वह सदा रहती है। तो जो बात सदा रहे और जिस बातमे फर्क न आये, जो पहले से सबमे सदाकाल जो एक रूप रहे ऐसा जो स्वभाव है उसका नाम तो है परमार्थ और समय-समयपर जो परिणमन होते रहते हे वह परिणमन कहलाता है पर्याय। पर्याय सदा नही रहती। जो पर्याय अभी हुई है अगले समयमे वह नही रहती, दूसरी हो जाती है। तो यो परमार्थ और पर्याय—इन दोनोमे पर्यायको जानकर, पर्यायको गौण कर परमार्थको मुख्यतया देखे वहाँ अलौकिक आनन्दका अभ्युदय होता। तो ज्ञानी जीवका आशय यह बनता हे कि परमार्थको निरखनेमे ही अधिक

समय गुजारा करें। ऐसी दृष्टि बन जाय कि जहाँ देखो वहाँ ही परमार्थ। जीवको देखो तो उसकी बाहरी बाते न देखकर उसके अन्तःप्रकाशमान जो सहजज्ञानस्वभाव है वह निरखने मे आये, वही दीखे और जो आंखोसे दिखने वाले परमार्थ है पुद्गल उनमे भी अणुवोका समूह रूप, स्कंध, इनमे ज्ञान न फसाकर जो परमाणुका वास्तविक निरपेक्ष आनन्दका स्वरूप है उस स्वरूपपर दृष्टि आये तो यह निरखना हो गया पुद्गलमे परमार्थका। तो द्रव्यकी जब चर्चा हो, जानकारी करने चले तो हमे वहाँ छाया, माया परिणमन न देखकर एक शाश्वत अनादि अनन्त ध्रुव स्वभाव ही निरखनेमे आवे। अपनी ज्यादह जानकारी बनती है तो जीव और पुद्गलके बारेमे, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन चार द्रव्योमे जब हम कुछ जान कर उसमे जानकारी बनाते है और बहुत विशेष सोचते है तो उनका परिचय कर लेते है आगमके आधारपर और युक्तिके आधारपर। अधिकतया तो जीव और पुद्गलके सम्बन्धमे ही परिज्ञान चलता रहता है। तो जीवके विपयमे हमको कुछ दीखे वही सहज परमात्मस्वरूप और इसी तरह पुद्गलके बारेमे, स्कधोके विषयमे हमे दीखे तो वही एक सहज सत् परमाणु। तो इस तरह जब परमार्थको देखने की हमारी वृत्ति बन जायगी, अभ्यास बनेगा, परमार्थ ही प्रायः दृष्टिमे रहेगा तो अपरमार्थके व्यामोहका सकट दूर हो जायगा।

संकटका मूल अपरमार्थका व्यामोह—जीवोको सकट किस बातका है? किसी भी लौकिक सकटका नाम लेकर बताओ, तो आखिर यही बोलेंगे कि इसने यह अपरमार्थका व्यामोह बनाया है, इस कारण सकट छाया है। जीव तो भगवानकी तरह विशुद्ध ज्ञानानदस्वरूप है। जीवमे सकटका क्या काम है? किन्तु जब-जब जीवपर सकट आया तो वह अपरमार्थके व्यामोहसे लगावसे ही सकट आया, और प्रकारसे सकट नही होता जीवपर। सकटोके नाम लेकर भी देख लो। कोई कहे कि हमको इसमे १० हजार रुपयेका टोटा पड गया, तो भला बताओ वे १० हजार रुपये क्या कोई परमार्थ वस्तु है? जीवका उससे कोई नाता है क्या? जीव तो ज्ञान दर्शनस्वरूप अमूर्त एक चैतन्य पदार्थ है। उसका किसी बाह्यसे क्या नाता? तो सम्बध कुछ नही, नाता कुछ नही, और फिर भी कुबुद्धि ऐसी छायी है कि वैभवमे इसका उपयोग फस जाता है और उससे मानता है कि इस वैभवका सयोग मिले तो वह है हमारा बडप्पन, गहिमा और विघट जाय, कुछ चीज मिट जाय, उसके पास न रहे तो उससे है उसकी बरबादी, विनाश। ऐसा एक झूठा आशय बना रखा अज्ञानी जीवोने। तो इस अज्ञान के कारण उनकी पर्यायमे व्यामोह आ जाता है। किसीने सोचा कि हमारा कोई बच्चा-बच्चो गुजर गया, बडा सकट आया। अरे सकट किस बातका? अपरमार्थ जो बच्चा-बच्चो है, विनाशीक है, कल्पनामात्र कि जगतमे अनन्त जीव है, उन अनन्त जीवोमे से किसी एक दो जीवो

को ही अपना बच्चा-बच्ची कह देना, यह है एक अपने आपपर अत्याचार । जब सर्वजीव एक समान है । प्रभु, ससारी हम, छोटे बड़े सभीका स्वरूप जब पूर्णतया एक समान है और सबके प्रदेश निराले है, भिन्न-भिन्न है, फिर भी किसीको मेरा समझना, किसीको पराया समझना यह तो अपने आत्मदेवपर अन्याय अत्याचारकी बात समझिये—तो व्यामोह हुआ ना, उसका है सकट । सकट जितना है वह मोहका है । मोह नही तो सकट नही, मोह है तो सकट है । अब जिसका मोह बना है उसका सकट मिटानेके लिए बड़ेसे बडे बुधजन, विद्वान्, पडित कोई भी उसे समझाये या उपाय बनाये नो क्या वह सकट दूर हो सकता ? मोहसे उत्पन्न होने वाला सकट नो मोहके दूर होनेसे ही मिट सकेगा । मोहका सकट मोहके दूर करनेसे ही मिट सकेगा ।

अपरमार्थ व्यामोहके संकटके मिटनेका उपाय परमार्थका आलम्बन—मोहका सकट मोह करनेसे नही मिटता । परमार्थ स्वरूपके निरखनेपर यह व्यामोहका सकट दूर हो सकता है । सकटोसे मुक्ति चाहिए तो यहाँ बहुत ज्यादह समय देना पडेगा, अभ्यास बनाना होगा । देखो धनकी कमाई तो आपके आधीन है नही । पुण्यका उदय है तो थोडे समयमे भी आप अपना पूरा काम पा लें और पुण्यका उदय नही है तो कितने ही सम्बन्ध जुटाये, कितने ही विकल्प करे, आपको लाभ न होगा । तो जो बात आपके आधीन नही है, आपके आत्मपरिणामके आधीन नही है उसमे तो लगाया जाता है सारा समय । कहते हो है धर्मके लिए, स्वाध्यायके लिए, विचार उपयोगमे समय देनेके लिए समय ही नही है हमारे पास । तो जो बात अपने आधीन नही उसमे तो तन, मन, धन, वचन, प्राण न्यौछावर कर दिया और जो बात अपने आधीन है, कौनसी बात है अपने आधीन ? अपने ज्ञान द्वारा अपने आपमे जो स्वरूप बसा है उसकी दृष्टि करना, मानना कि मै यह हू, यह बात आपके आधीन है, सो लग रही है बहुत बडी कठिन । जैसे कोई रक्षक या पिता अपने पुत्रको, शिष्यको बहुत-बहुत समझाये, पर वह न माने, प्रतिकूल चले तो फिर यही तो वह बठते है कि जा, जैसा तेरा होना हो हो, उसकी उपेक्षा ही तो कर डालते है । तो ऐसे ही इस जीवको आचार्य सतोने बहुत बहुत समझाया, बात मान लें, स्वरूपको पहिचान लें, बाहरी पदार्थोमे कुछ करनेकी कुटेव मत करो । बहुत-बहुत समझाया जाने पर भी यदि यह ज्ञानमार्गमे नही आता तब तो यह ही फैसला है कि जो तुझे भाये सो कर, चाहे एकेन्द्रियमे जा, चाहे दोइन्द्रियमे जा, चाहे भाडमे जा । भाड मायने आग । चाहे आग बनो, चाहे हवा, चाहे पेड-पोधा । तुझे जो बनना हो सो बन । और आचार्य सतोके समझानेसे अगर कुछ मान सकता है तो मान ले । आचार्य सतोका सदुपदेश है यह कि तू इन बाह्य भिन्न असार पदार्थोसे मोह मत कर । ये तेरे कुछ

नही है । तेरा तो ज्ञान है । तो अपरमार्थ, पर्याय परिणमन इनके व्यामोहको छोडकर यदि परमार्थका आश्रय लेगा तो तेरे सारे सकट दूर हो जायेंगे । तो चाहिए यह कि हम वस्तु-स्वरूपको जाननेके लिए और अपनेमे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिए अधिक समय दें । सत्सगमे, स्वाध्यायमे, ज्ञानार्जनमे, तो यह तो है हमारा भला होनेका मार्ग और परमार्थसे उपेक्षा रख कर व्यावहारिक बातोमे, परिणमनोमे ही अपना समय दें तो यह है मेरे अकल्याणका मार्ग । अकल्याणके मार्गसे हटे और कल्याणके मार्गमे आयें ।

(४६)

दुनियामे क्या हो रहा—यह देखनेके लिये तू ज्ञानामृतधामसे बाहर मत निकल, बाहर तो मायाजालका महाजाल ही सर्वत्र छाया हुआ है । बाहर मत देख, निजको देख, बुरा है तो बुरा, भला है तो भला, देख स्वको ही ।

ज्ञानानन्दधाममे आकर वहिर्जगतकी ओर न ढूकनेका संदेश—आचार्य सतोकी वाणी सुन सुनकर पहले कुछ अपने आपको प्रतिबोध ले और ध्यान ज्ञानसे अपने आपके स्वरूपको अपनेमे ही निरखनेका दृढ अभ्यास बना ले, ऐसा पुरुष भी कर्मविपाकवश अपने लक्ष्यसे अनेक वार उचकता रहता है । तो जिसने आनन्दधाम निज महलमे प्रवेश कर अपने आपके आनन्द का स्वाद लिया वह पुरुष मानो अपने आपसे कह रहा है कि रे उपयोग ! बस तू यही रह, यही बैठ, इस अपने धामसे बाहर कही भी मत निकल । क्यो निकलता है बाहर ? जब तू ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानका ही यह सब उपयोग है, उपयोग ज्ञानस्वरूपमे आ गया, अब इससे बाहर ढूकनेकी क्या चिन्ता करना ? शायद यह कहो कि अपने स्वरूपमे उपयोगको लगाये रहनेमे बहुत बल लगाना पडता है, सो उसकी मनाई तो नही, यह भी करो, पर कुछ मनमे यह भी तो आता है कि मैं बाहरमे देखू तो सही कि हो क्या रहा है ? यह देखनेके लिए तू अपने ज्ञानानन्दधामसे बाहर मत निकल । जैसे बरषातके दिनोमे तेज वर्षा भी हो रही है, ओले भी पड रहे है, काली घटा छा गई है, बिजली भी चमक रही है और कहा कही गाज बिजली भी गिर जाती है, ऐसे एक वातावरणमे कोई पुरुष कुछ थोडा निकले और शीघ्र ही कोई ऐसा धाम, कमरा मिले कि जहां जाकर वह बैठ गया, तो वह अपनेको कितना साताम अनुभव करता । ऐसी भयानक स्थितिमे वह तो यही चाहेगा कि तू बाहरमे ढूक भी मत, बाहर जानेकी बात तो छोडो । ऐसी कठिन वर्षामे तू बाहर कही ढूक मत । तो ऐसे ही समझो कि बाहरमे यह सारा मायाजाल छाया है, जिसे देखते है तो देखकर चैन थोडे ही आती, क्योकि राग लगा है । दुःख तो होगा ही । तो बाहरके पदार्थोंको देखकर, इस माया-जालको परखकर तो यह जीव बडे संकटमे आ जाता है । कल्पना, रागद्वेष, नाना सकट, और

उस कालमे इसे मिल जाय अपने ज्ञानानन्दस्वरूप निजका दर्शन तो देखो उसके सकटोमे कितना अन्तर आ जाता है ? जब उपयोग बाहर बाहर ही विषय करता था, बाहरकी चीजों मे ही अपना उपयोग जोडता था उस समय तो यह महान् सकटमे था और अब वहांसे हट-कर ज्ञानानन्दस्वरूप निजधाममे प्रवेश किया तो वहाँ आता है विचित्र आनन्द । तो बाहर मायाजाल है, तू अपने ज्ञानधाममे एक बार आ गया है तो अब थोडासा ही पौरुष कर, और बाकी रहा जो हो जायगा और ससारसकटोसे मुक्त हो जायगा । तो अब अपने ज्ञानधाममे आकर बाहर क्या हो रहा, ऐसा निरखनेका तू ख्याल मत रख ।

बाहर देखनेका विकल्प तजकर अन्तरमे ज्ञानानन्दमय अन्तस्तत्त्वका आलम्बन करने का संदेश—जैसे मानो दो चार हवाई जहाज ऊपर उड रहे हो, प्रयोजन अपनेको कुछ नहीं और कोई मुखिया यह कह दे कि ऊपर मत देखो, अपने काममे लगे रहो, पढो लिखो, काम करो, ऊपर मत देखो तो ऊपर देखनेका नियन्त्रण कर दिया । देखता तो नही, मगर चित्तमें जरूर रहता कि कैसा हवाई जहाज, कहाँ उड रहा, कितना है, ऐसी बात चित्तमे उठती है और देख भी आता है, तो ऐसा ही कुछ सही ठीक ज्ञान हो जानेपर भी बाहर कुछ निरखने को चित्त चाहता है । ज्ञानी पुरुष अपनेको प्रतिबोध रहा कि दुनियामे बाहरमे जो कुछ हो रहा उसको देखनेके लिए तू अपने ज्ञानानदधामसे बाहर मत निकल । बाहरमे तू क्या देखेगा ? मायाजालका महान जाल ही सर्वत्र छाया हुआ है । यहाँ कोई सारभूत तथ्य नही है, इसलिए बाहरमे निकलनेकी बुद्धि न कर, बाहर कुछ मत देख । देख तो अपने आपको देख । अपना दर्शन होगा ज्ञान द्वारा । और यह भी अपना निश्चय बना कि मुझे तो अपने आपको ही देखना है, बाहरके किन्ही भी पदार्थोके देखनेसे मेरा प्रयोजन नही ।

तो देखो अपनेको । बुरा है तो बुरा देखो, भला है तो भला देखो । अपनेको बुरा देख लोगे तो भी भला, अपनेको भला देख लोगे तो भी भला । देखो अपने स्वको ही । बाहर कुछ न देखो । बाहर क्या है ? जो बाहरमे मौजूद है वह विषयकषायके आश्रयभूत ही तो हो सकता है । मुझमे कोई अलौकिक आनन्द तो नही बरसा सकता, इस कारण बाहर कोई कुछ मत देखो । देखो अपने अन्दरमे ही तो अन्तरमे देखनेको कलाका प्रयोग क्यो न होगा ? अपने को ज्ञानस्वरूपमे देखो तो अपने अन्दरका दर्शन होगा । कुछ ऐसा नही है कि घरकी तरह आत्मा पोली चीज हो और उसमे कुछ बसा हुआ हो । यह आत्मा ज्ञानमय है । तो अपने ज्ञानस्वरूपको देखकर अपने आपमे तृप्त होवो, प्रसन्न होवो । अपने इस आनन्दधामसे मत निकलो, बाहरमें कुछ मत ढूको । बाह्य स्पर्श है कुछ तो रहा आये, रूप, रस, गध आदि है तो रहे आयें, उनसे मेरे आत्माको कौनसी सम्पदा प्राप्त होती है ? ऐसा एक दृढ निर्णय करके

यह ही एक संकल्प बना लो कि रहना है अपने आपके स्वरूपके ज्ञानमे। इसके अतिरिक्त बाहरमे मुझे कुछ नही ढूकना। ऐसा अन्तर्दर्शन करना, परमार्थको निरखना, यह ही है हमारे कल्याणकी बात।

(४७)

विकल्पोका विलय हो, ममताका समागम हो, यही सर्वोपरि वैभव है। स्वयकी सुध न हो, बाहर ही उपयोग दौडे, यही सर्वोपरि विपदा है। अन्यकी दृष्टि हटे, अनन्य चित्स्वरूप की दृष्टि रहे, यही सर्वोपरि शरण है।

भेय विपदाका तथ्य—ससारके प्राणी विपत्तिसे तो डरते है, विपदासे हटना चाहते है और सम्पदामे लगना चाहते है। संसारी प्राणियोकी ऐसी वान्छा रहती है, सो इस बातसे बुरा तो नही कहा जा सकता। विपत्तिसे हटना चाहिए और सपत्तिमे लगना चाहिए। सीधी बात है, लेकिन कोई विपत्तिको ही सम्पदा मान ले और सम्पदाकी बातको विपत्ति मान ले तब तो वहाँ गलत हो जाता है। लोकमे यही देखा जा रहा है। जो वास्तविक सम्पदा है वहाँ तो गति नही है और जो वास्तवमे विपदा है उसको सम्पदा मान रहे है। इस जीवपर कौनसी विपत्ति छायी है? लोग कहेगे कि एक विपत्ति हो तो नाम बतावें, पर जहाँ हजारो विपत्तियाँ लगी है वहाँ किस-किसका नाम बतायें कि हमपर कौनसी विपत्ति लगी है? तो सुनो—विपत्तियाँ हजारो नही है। विपत्ति भी एक ही है और सम्पदा भी एक ही है। जिसको लोग विपत्ति कहते है वह तो विपत्ति है ही नही। बाहरी पदार्थ न मिले, कुछ मिल गए इसीमे ही लोग विपत्ति और सम्पत्तिका भेद समझते है, पर यह विपत्ति और सम्पत्तिका सही लक्षण नही है। विपत्ति नाम है अपनी सुध न होना और बाहरकी बातोमे उपयोगका लगाना, बस यही मात्र विपत्ति है जीवपर। जैसे सब मनुष्योका जन्म एक तरहसे ही होता है। ईसाई हो, हिन्दू हो, कोई हो, और मरण भी एक ही तरहसे होता है, एक साधारणसी बात है। तो ऐसे ही विपत्ति और सम्पत्ति एक ही प्रकारसे होती है। सब जीवोपर जो विपत्ति छा रही है वह विपत्ति यही है कि अपनी सुध न रहना, यह है विपत्ति। जो-जो भी लोग सकटमे है उन सबकी स्थिति परख लो, अपनी सुधमे नहीं है तब ही ये सकटमे है। ऐसा सकट, ऐसी विपत्ति सबपर एक विधिसे चलती है। विपत्तिमे कोई मनुष्यका भेद नहीं कि अमुकपर इस ढगसे आया, अमुकपर इस ढगसे आया। प्राणिमात्रपर यह ही बात है कि जो जीव दुःखी हो रहे है उस दुःखका मूल कारण, साधन यह है कि वह अपनी सुधमे नही है। अपनी सुध क्या? जैसा मेरे आत्माका सहजस्वरूप है, अपने सत्त्वके कारण जो भी यहाँ भाव है, स्वभाव है, स्वरूप है उसकी खबर न रहना, मै यह हू—ऐसी सुध नही है तब इसपर विपत्तियाँ,

है। सुध न होना ही विपत्ति है और जहाँ आत्माकी सुध नही है वहाँ बाहर ही बाहर उपयोग दौडेगा। जब आनन्दका धाम न पाया तो आनन्द पानेकी इच्छा तो रहती ही है। भीतरी आनन्द मिला नही, क्योकि खबर ही नही उसकी। अज्ञान छाया है। जब यह बाहर मे अपने उपयोगको दौडाता रहता है यही विपत्ति है। अपनी सुध न होना और बाहर ही बाहर उपयोगका दौडाना यही विपत्ति है। चाहे छोटा पुरुष हो, चाहे बडा पुरुष हो, सबपर विपत्ति आती है तो इसी ढगसे आती है। यह है विपत्तिकी बात, जिससे कि यह जीव हटना नही चाहता। मान रहा है और और कुछ विपत्ति।

सम्पदाका तथ्य—अच्छा अब सम्पदाकी बात देखो—सम्पदा क्या है ? विपत्तिका अभाव होना यही सम्पदा है। विपत्ति है विकल्प। विकल्पका विलय हो तो सम्पदा मिले। लोग विषयोके वश होकर, कषायोसे पीडित होकर नाना तरहके विकल्प मचाया करते है, उन विकल्पोका विलय हो जाय तो यही सम्पत्ति है। जहाँ विकल्पका विलय है वहाँ सम्पदाका समागम है। विकल्प रहे नही, सम्पदा भरपूर स्वय है, बस यही एक सम्पदा है। लोग जिसको सम्पदा मानते है वह तो सब विपत्तिका साधन है। बाहरके भिन्न पदार्थ उनका समागम हो जाय इसको कहते है सम्पदा। लेकिन भाई मुक्तिका मार्ग और ससारका मार्ग ये बिल्कुल उल्टे उल्टे रास्ते है। बाहरी पदार्थोमे आसक्त होना, बाहरी पदार्थोके सग होनेपर अपनेको बडा अनुभव करना यह सब कहलाती है विपत्ति। इस विपत्तिमे सभी ग्रस्त हो रहे है, यही कारण है कि उन्हे चैन नही पडती। छोटे लोगोको ये लोकमे बडे धनिक लोग दिखते है कि ये बडे सुखी है, लेकिन जो लोकमे लौकिक बडा है उसका दु.ख इतना कठिन है कि उन दु खोको नही सह सकता तो मरण ही शरण है। छोटे लोगोको क्या, कही बैठ लिया तो क्या हुआ ? कही झगडा हो गया, कही गाली-गलौज हो गया, कही इष्टवियोग हो गया तो छोटे लोग उसपर बहुत महसूस नही करते और जो लोकमे बडे कहलाते है, जिनके धन विशेष है, प्रतिष्ठा विशेष है वे कुछ ही विचार बनाकर अपनेको दु.खी अनुभव करते है। तो विपत्ति क्या है ? अपनी सुध न होना और बाहर ही बाहर उपयोग जोडना, और सम्पदा क्या है ? विकल्पका विलय होना और सम्पदाका समागम होना, यही सम्पदा है। अच्छा कोई यह बता सकता क्या कि कितनी लौकिक सम्पदा मिले तो उसे सेठ (बडा) कहा जाय ? तो इसका कोई निर्णय नही दे सकता। क्योकि जितना मिलता जाय उतनी ही इसकी तृष्णा बढे, उतना ही इसका विचार बढे। भील लोग जब कभी आपसमे वार्ता करते तो कहते होगे कि सुखी तो राजा होता है ? कैसे ? इसलिए कि वह तो रोज-रोज गुड हो गुड खाता होगा। अब भीलोकी जितनी बुद्धि और जितनेसे उन्होने सुख मान लिया, वहाँ तक ही उनकी

दौड जाती है । और जो राजा है उनसे पूछो कि उन्हे कितना सुख है ? तो उन्हे ऐसी चितायें, ऐसी विकट समस्याये आ जाती है कि जहाँ न चाहे अनेक काम करने पडते है । रात्रिको नीद न आये, फिक्र बनी रहे । तो कोई बाहरमे कितना निर्णय बना सकता कि इतना मिल जाय तो सुखी रहेगा । ऐसा कोई निर्णय नही दे सकता । इसका कारण यह है कि बाहरकी चीजे सम्पदा ही नही कहलाती । और यह निर्णय बना बनाया है कि जहाँ आत्मसम्पदाका समागम हो वहाँ आनन्द ही आनन्द है, समता ही सम्पदा है । जहाँ विकल्प नही उठ रहा वहाँ सर्व सम्पदा है । तो पहला निर्णय क्या किया था कि जहाँ आत्माकी सुध नही और उपयोग बाहर ही बाहर दौडता हो, बस वही जीवपर विपदा है । और दूसरी बात क्या कही कि जहाँ विकल्प न उठे और रागद्वेषका अभाव याने समताका परिणाम बने बस वही एक मात्र सम्पदा है । कोई कहे कि सम्पदा चाहिए तो झट उसका अर्थ लगाओ कि सबमे समता का परिणाम बने और किसीके प्रति भी द्वेष विकल्प उत्पन्न न हो, बस यही हुआ समताका रूप । दो बाते हुईं सम्पदा और विपदा ।

लौकिक सम्पत्तिकी चाहसे व विपत्तिके भयसे हटकर परमार्थ शरण्यके आलंबनका कर्तव्य—अब तीसरी बात सुनो—अपने लिए शरण क्या है ? बाहरमे तो अपना कुछ शरण है नही । केवल विकल्प ही विकल्प है । कल्पना ही की जाती है । वास्तविक शरण है क्या ? तो वह मिलेगा अपने आपके आत्मामे और उस शरणको पानेके लिए कहीसे हटना और कही लगना—ये दो काम करने होगे । एक अन्यकी दृष्टि तो हट जाय याने ऐसी शान्त गभीर उदार धीर ज्ञानकी वृत्ति बने कि जहाँ अन्यकी दृष्टि न रहे । बाहरी पदार्थोंपर दृष्टि गडे, उन मे कुछ अपनायत बने तो उसका फल तो अशान्ति है, दु.ख है । अन्यकी दृष्टि न रहना चाहिए और दृष्टि बने तो किसकी ? जो शाश्वत आनन्दस्वरूप है ऐसे निज चैतन्यस्वभावकी दृष्टि बने । बस यही मात्र इस जीवको शरण है । तो यहाँ तीन बातें कही गईं—विपत्ति क्या है ? सम्पदा क्या है ? शरण क्या है ? विपदा है अपनी सुध न होना, बाहरी वस्तुमे उपयोग लगना । इस विपत्तिसे हटने की आवश्यकता है । अपना ज्ञानवल ऐसा पुष्ट बनाये कि अपनी सुध न भूल सके । बाहरी पदार्थोमे उपयोग देनेसे एकाग्र चित्त न हो सके, यह तो है विपदा और किसी प्रकारका विकल्प न उठे, समतापरिणाम रहे यह है सम्पदा और जो अपने आपका सहज स्वरूप है वही है शरण । उसही स्वरूपका आश्रय करना, उस स्वरूपमे ही अपनी प्रतीति रखना बस यही वास्तवमे जीवका शरण है । विपत्तिसे हटो, सम्पदामे पगो और शरण्यका आलम्बन लो ।

(४८)

मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप ही हूं, मुझमे कष्टका कोई काम नही, परपदार्थमे व्यर्थ कुछ सोचनेकी कुटेव करनेसे दु ख होता है। मैं स्वयंमे, स्वयंकी वृत्तिसे रहू, यही मात्र मेरी ईमानदारी है।

कष्टरहित आत्मस्वरूपका मनन—अनेक प्रकारसे जब जीवने अपने आपको समझा लिया, प्रतिबोध लिया तो यह जीव अपने आपमें यह निर्णय करता है कि मै तो सदा आनन्दस्वरूप हू। उद्दण्डता न करे, वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे बेईमानी न करें तो इसका आनन्द तो प्रत्यक्ष है। जीव बेईमानी क्या करता है ? वस्तुस्वरूप यह है कि किसी भी वस्तुका परिणमन, गुण किसी अन्य वस्तुमे नही पहुचता। भले ही यह जीव अपने स्वरूपसे विमुख होकर बेईमान बने याने किसी परपदार्थको ओर अभिमुख बने तो भी परपदार्थमे नहीं गया यह, परपदार्थको नही करता यह, किन्तु उस प्रकारकी कल्पना बना लिया याने जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा न मानकर अब अहकार कर्तृत्वभाव रखना, यह ही कहलाती है बेईमानी। शब्द बुरा भले ही लगे, पर बेईमानीका अर्थ क्या है ? सत्पथसे हटना और कुपथमे लगना। तो हाँ अपनी सच्चाईपर रहे, जैसा मेरा स्वभाव है उसके अनुकुल चलें तो यहाँ आनन्दमे कोई बाधा नही आती। अनधिकार काम करनेसे अशान्ति बढती है। सर्वत्र घटा लो, यह बात। जिस बातमे अपना अधिकार नही उसमे अपनेको आसक्त बनाये, उसमे दखल दे तो वहाँ विपत्ति होना, कष्ट आना प्राकृतिक बात है। तो अपने स्वरूपके अनुरूप उपयोग बनायें तो आनन्द ही आनन्द है, वहाँ कष्टका काम नही। एक मोटीसी बात समझ लो कि जो कुछ जिसे मिला है अभी उससे इस जीवका पूरा पड जायगा क्या ? इस भवसे जायगा। साराका सारा यही धरा रह जायगा। करोडोको माया हो, मरनेके बाद इस जीवका एक पैसा भी तो काममे नही आ पाता। तो जब मर गए और सब यही छोड गए, यह स्थिति आती है। तो जो छूट जायगा उसमे ममता क्यो की जा रही है ? वस्तुस्वरूपके खिलाफ तो वहाँ विपत्ति आना प्राकृतिक बात है। तो अपने स्वरूपको देखो—आनन्दस्वरूप है, यहाँ कष्टका कुछ भी नाम नही है। कष्ट होता कैसे है ? बाह्य पदार्थोके बारेमे व्यर्थ सोच लगाये फिरते है और उसी लगावकी कुटेव बनाये फिरते है, बस यही है विपत्तिका आधार। जो अनधिकार चेष्टा करेगा वह कर्मबन्धनमे आयेगा, कष्ट होगा, ससारमे रुलेगा। तो अनुभव करे कि यह मै ज्ञानमात्र हू। ज्ञान ज्ञानस्वरूपको ही अपनेमे लगाये, ऐसे ही अपनेमे देखिये कि मै आनन्दस्वरूप हू। ऐसा जब अपने एक सहज आनन्दस्वभावको देखा वहाँ कष्टका कोई काम नही।

संकटमुक्तिके लिये अपना कर्तव्य— अब सोचिये अपनेको क्या करना, जिससे कि

अशान्ति न हो और शान्तिका विलास बने। क्या करना चाहिए ? अपना स्वरूप निरखकर और यह कर क्या सकता है वास्तवमे, इतना निर्णय बनाकर बस उसीको करें जो निर्णयमे आया है अपने कल्याणके लिए। क्या करना ? खुद खुदके लिए खुदके द्वारा खुद जानकारी रूपसे रहे, यह ही तो है वास्तविक ईमानदारी और जो अपनी वृत्तिसे चिगे और बाह्य वृत्ति मे लगे तो बस वही सब है अपनी अशुद्धता। तो अपनेको देखो, अपनेको जानो, अपनेमे लीन रहो, बस इसीका नाम है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। जाप तो दे लेते है, जैसे रत्नत्रयका व्रत हो, और और समय हो। मालाके अतमे बोल ही लेते है— सम्यग्दर्शनाय नम सम्यग्ज्ञानाय नम, सम्यक्चारित्राय नम, किन्तु जब एक प्रेक्टिकल करते है, इसको जो मैने बताया, समझाया वह मैं अपने पर तो कुछ प्रयोग करूँ, जब अपने ज्ञानको अपने स्वरूपमे लेने बैठते है तो कुछ दिक्कतें आती है, उनका परिहार करते है। आखिर मोक्षमार्गके कामको धुन होगी तो नियमसे मोक्षमार्ग मिलेगा और मोक्ष मिलेगा, पर बात-बात ही हो केवल कि चार आदमियोमे धर्मकी बात कहनेसे बडप्पन होता है, इसी ख्यालसे अगर बात ही बात करें तो उसको लाभ तो कुछ नही, उल्टा बरबादी ही है। प्रयोग प्रेक्टिकल करें, जो सुना है उसे अपने आपपर घटित करें। उस धुनमे आयेंगे तो सब रास्ता मिलेगा। यह विश्वास रखना कि मेरेमे कष्ट नही। कष्ट तो हम उद्दण्डता करते है और सिर मार लेते है, बाह्य पदार्थोमे कुछसे कुछ कर देनेकी कुटेव रखते है और दुःखी होते है, इसलिए सब अपने अपने स्वरूपमे रहने वाला देखें। कोई अपनेसे बाहर कुछ करता हो, ऐसा मत देखो। यह तो एक मिथ्या आशय है। मै ज्ञानरूप हू, आनन्दमय है, मेरा किसीसे कुछ सम्बन्ध ही नही है, यह बात ध्यानमे रहे तो अशान्ति दूर होगी। और जो ईर्ष्या रहे, हमने इतना ही काम किया, इसने ज्यादा किया अथवा इसने इतने गहने पहन लिए, इसकी इतनी इज्जत है, हमारी इतनी ही इज्जत है, ऐसी बात जब चित्तमे रहती है तो यह बिल्कुल बेकार बात है और ससारमे रुलने जैसी बात है। अपनी शोभा बढाओ ज्ञान द्वारा। जो सद्गुण है उन सद्गुणोंके अनुसार चलेंगे तो भला ही होगा और जो बुराईकी ओर चलेगा, बुराई देखकर चलेगा, दूसरे जीव सुहाये ही नही, उसके भीतर बसे हुए परमार्थस्वरूपकी सुध ही न रखना, ऐसी प्रक्रिया अगर करता है जीव तो उसे दुःख होना प्राकृतिक बात है। अपने को सभाले तो सब सभल जायगा, अपनी सभाल न कर सके तो बाहरमे कुछ भी पदार्थका सचय करें, पर सभाल कुछ न पायेंगे। अपनेको सबसे निराला अकेला समझ लो, शान्तिका मार्ग मिल जायगा। और कैसा अकेला समझें कि शरीरसे भी निराला, छुटपुट ज्ञानसे भी निराला, सहज शाश्वत एकस्वरूप रहने वाला मेरा स्वरूप। उसमे ही दृष्टि बनाये कि यह मै हू तो सब सकट दूर हो जायेंगे,

सम्यक्त्व मिलेगा, ज्ञान बनेगा, चारित्र बनेगा। केवल एक अपने आत्माकी सुध रखनेसे सारे सकट सदाके लिए टल जायेगे।

(४६)

मृत्युसे डरनेसे मृत्यु न मिटेगी, सुखके चाहनेसे सुख न मिल जायगा। अमर आनन्द-मय निजस्वरूपकी रुचिसे मृत्यु भी मिटेगी, आनन्द भी मिलेगा। अन्तर्नाथ! तू ही सनातन स्वत परिपूर्ण होनेसे अपने लिये सर्वस्व है।

मृत्युभयको दूर करनेका विवेक—संसारके प्राणी एक बात चाहते है और एक बात से डरते है। डरनेकी बातें तो अनेक है, पर उनमे से एक मुख्य बात है मृत्यु और चाहनेकी बातोमे प्रधान है केवल एक सुख। सुख तो चाहते है और मृत्युसे डरते है। लेकिन मृत्युसे डरनेसे क्या कभी मृत्युसे छुटकारा मिल सकेगा? मृत्युसे डरने वाला तो भविष्यमे मृत्यु ही पायगा। क्योकि मृत्युसे डर उनको होता है जिनको देहसे ममता होती है। जिनको देहसे ममता है उनको मिथ्यात्व है, जिनके मिथ्यात्व है उनको ससारकी सब दशाओमे भ्रमण होता है। वे सभी दुर्दशाये मिथ्यादृष्टि जीवको सहनी पडती है। तो मृत्युसे डरनेका तो और भय-कर परिणाम है। मृत्युसे डर न आये, मृत्युके समय धीरता रहे, मृत्युके समय आनन्दरसमे मग्नता रहे, ऐसा कोई उपाय बन सके तो मृत्युपर विजय प्राप्त कर सकते है। जिन्होने मृत्यु पर विजय प्राप्त की उन्हे बोलते है कृतान्तकृत् याने यमराजको भी जीतने वाले, मृत्युञ्जय। मृत्युपर विजय कैसे होती है, उसका सीधा उपाय है कि कि मृत्युरहित जो आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप है 'यह मै हू' ऐसा अनुभव पुष्ट बने, अवश्य ही मृत्युपर विजय हो जायगी। जैसे बन्दरोसे डरे तो बन्दर और आक्रमण करते है और बन्दर तो खुद डर करके बोला करते है, घुडकी देते है और लोग समझते है कि यह मुझपर बोल रहा। जैसे यह मनुष्य डरा वैसे ही बदरोका और भी आक्रमण बढता जाता है। तो मृत्यु क्या है, समय क्या गुजरता है, यह तो होता ही रहता है। अब उस मृत्युसे डर बना तो मृत्युका भव भवमे आक्रमण चलता है। मृत्युञ्जय बनना चाहिए और यह बात कब बन सकती है जब कि सारे जगतसे निराला अपने आपके स्वरूपमे 'यह मै हू' ऐसा विश्वास बने।

अन्तःप्रकाशमान प्रभुके आश्रयसे मृत्यु आदि सर्वसकटोका निवारण—देखो अपना तथ्य स्वरूप। मुझको कोई दुनियाके लोग नही जानते और मै ऐसा सोचूँ कि मुझको बहुतसे लोग जानते है, मेरा बडा परिचय है तो सकोच होगा, शर्म होगी, भय होगा, विकल्प होगा। तकलीफमे पड जाता है। और जहाँ वास्तविकता जाना कि मै तो अविचलित चैतन्यस्वरूप हू, इस अचलित चैतन्यस्वरूपका परिचय करने वाला यहाँ कोई नही है। जिस रूपने [illegible]

परिचय करते है वह मै नही हू । अभी कोई कुछ निन्दा कर रहा हो और यह समझमे आये कि यह मेरी ही बात शायद कर रहा है तो भीतरमे बडा उद्वेग होता है और थोडा सुनकर, पूछकर जब यह जान जाय कि यह तो दूसरेकी बात कह रहा तब फिर यह शान्त हो जाता है, ठंडा होता है, निराकुल रह जाता है । जैसे मानो नाममे भी एक दो अक्षरोका ही फर्क हो, जैसे दो नाम है—अमृतलाल और अमृतचन्द्र । अब अमृतलाल यह सुनता है कि यह हमारी बुराई कर रहा है तो यह दु खी होता है और थोडी ही देरमे जब यह समझमे आया कि अरे यह तो अमृतचन्द्रकी बात कर रहा है तो यह खुश हो जाता है, मेरा कुछ नही कर रहा है । तो ऐसे ही एक तो है परमार्थ नाम, चैतन्यस्वरूप और एक है अपरमार्थ चिदाभास । चित् और चिदाभास लोग बुराइयां कर रहे और यह समझे कि मेरी बुराई की जा रही तो यह दु खी होता है । अरे जानो कि मैं तो चित् हू और यह बुराई चिदाभासकी कर रहा है, यह समझें तो आकुलता न होगी । मैं चिदाभास नही, मैं तो चैतन्यस्वरूप हू । चिदाभासका अर्थ है जो चैतन्य तो नही है, पर चैतन्यस्वरूपकी तरह लगे । क्रोध, मान, माया, लोभ, पर्याय, विकार, विचार आदि ये मैं नही हू, मैं तो अनादि अनन्त एक ध्रुव तत्त्व हू । पर ये बातें मेरेमे ही तो प्रकट होती, ये सब चिदाभास है । प्रथम तो लोग विभावको ही नही जानते । केवल एक जो आकार दीखा मनुष्यका, बस उसी आकारको समझते कि यह फलाने है । उसकी बुराई, उसके विभाव गुण पर्यायको भी नही समझते कि किसकी बुराई कर रहे ? अरे कोई इन विभाव गुण पर्यायोकी बुराई करे तो वह तो बडी भली बात है । मैं तो विकाररहित केवल एक शुद्ध चैतन्यमात्र हू, यह दृष्टि जगनी चाहिए ।

तो जिसने मृत्युरहित अविकार चैतन्यस्वरूपको 'यह मै हू,' ऐसा मान लिया तो उसको मृत्युका भय नही होता । मृत्युसे यह प्राणी डरता है और डरनेसे कही मृत्युसे छुटकारा नही हो सकता । किन्तु मेरी तो मृत्यु ही नही है । मै तो मृत्युरहित केवल एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हू । मुझे मृत्युका डर नहो । देखो इसके साथ-साथ ऐसा ही दृढ भाव होना चाहिए कि जब मै यह शरीर ही नही तो फिर यहाँके ये धन-वैभव, इज्जत, प्रतिष्ठा आदिक बाह्य चीजे तो मै हो ही क्या सकता हू ? मै तो इन सबसे निराला केवल चैतन्यस्वरूप हू—यह जिसको बोध है उसको किसीका भय नही । जिसने मृत्युको जीत लिया उसको फिर किसीका भय नही । आखिरी भय तो जीवको मृत्युका है । धन जाता है और प्राण जाते है, ऐसी घटना हो तो धनको तो चले जाने देते, पर प्राण बचाते है । किसी कुटुम्बीके या मित्रके प्राण जाते हो और खुदके प्राण जाते हो तो दूसरेकी तो उपेक्षा कर देंगे और अपने प्राणोको बचायेंगे । तो मृत्युसे अधिक भयकी चीज कुछ नही है लोकमे । जिसने मृत्युपर विजय प्राप्त कर

लिया उसने सर्व विपदाओपर विजय पा लिया। तो मृत्युपर विजय पानेका उपाय यह है कि अविनाशी आत्मस्वरूपको, 'यह मै हू' ऐसा विश्वास बन जाय।

सुखकी चाहकी अनर्थकारिता व आनन्दकी आत्मस्वरूपता—अच्छा अब सुखपर विचार करो। जगतके प्राणी सुख चाहते है और उन सुखोमे यह निर्णय कर रखा है कि यह ही तो है सुख–अच्छा खाना पीना मिले, अच्छा ऐश आराम मिले, पञ्चेन्द्रियके विषय साधन मिलें, सबपर हुकूमत चले, सबसे बडे कहलायें, ये ही कहलाते है सुख। तो इन सुखोको चाहनेसे क्या मिल जाता है ? सभी चाहते है सुख। तीनो लोकका वैभव तो जितना है सो ही है और हर एक जीव चाहता है कि मुझको तो सारा वैभव मिले। तो बताओ न तो ऐसा कभी हो सकता और न यह कभी सुख मान सकता है। तो सुखका ही स्वरूप गलत समझा है तो सुखकी चाहसे सुख कैसे मिल सकता है ? अथवा यो कहो कि सुखको तो चाहता है यह प्राणी, पर आनन्दको नही चाहता। सुखमे और आनन्दमे अन्तर है। सुख तो नाम है विषयोकी साधना करना और आनन्द नाम है ऐसा ज्ञान जगे जिसमे समतापरिणाम हो और आत्माके गुणोका सर्वतोमुखी विकास हो, उसका नाम है आनन्द। तो आनन्दकी चाह तो बिरला ही भव्य पुरुष कर सकता है, लेकिन समारके प्राणी सुखकी चाहमे निरन्तर रहते है, पर सुखके चाहे जानेसे सुखकी प्राप्ति नही होती। सुख क्या, सुखसे बढकर असीम सुख अलौकिक सुख, सहज आनन्दके लाभकी बात करनी चाहिए। तो कैसे मिले ? पहले तो यह समझना होगा कि मै स्वय आनन्दस्वरूप हू। मेरे आनन्दमे कोई दूसरा पदार्थ बाधा नही डाल सकता। तब स्वरूप ही आनन्द है। मै ही जब आनन्दस्वरूपकी सुध छोड देता हू और बाहर बाहर ही उपयोग भटकाता रहता हू तो आनन्द गायब हो जाता है और उसके एवजमे सुख मिलेगा या दुःख। दुःख मिलेगा तो कष्ट और आकुलता मिलेगा तो कष्ट। ऐसी सद्बुद्धि बने कि मुझे ससारका रच भी सुख न चाहिए। मैं तो अपने आनन्दस्वरूपमे ही मग्न रहूगा वह पुरुष आनन्द पा सकता है। जिसने सुखकी चाह की उसे आनन्द कभी न मिलेगा। सुख की चाह छोडेंगे तो आनन्द मिलेगा। तो यह जीव हमेशा सुख चाहता है, पर चाहनेसे सुखका लाभ नही होता। विलक्षण सुखका, आनन्दका लाभ मिलेगा तो आनन्दस्वरूप निज स्वरूपकी रुचि करनेमे मिलेगा।

बनावट दिखावट सजावटके परिहारसे आनन्दका सुगमतया लाभ—बनावट, दिखावट, सजावट छोड दो, अभी आनन्द मिल जायगा। बनावट क्या होती है ? मैं गृहस्थ हू, त्यागी हू, साधु हू आदि सोचना यह हो तो कहलाता बनना। मै हू एक चैतन्यस्वरूप, उसके अतिरिक्त कुछ भी अपनेको मानना यह ही बनना कहलाता है। अभी १०-२० आदमियोके

बीच कोई कुछ बनता हो याने उनसे बढ-बढकर या और-और रूपमे अपनेको पेश करता हो तो लोग कहते है कि देखो यह कैसा बन रहा है ? तो बननेको तो लोग अच्छा नही कहते। बनना एक निन्दाकी बात है। तो मै हू एक अचलितस्वरूप और अपनेको मानूं कि मै पुरुष हूँ, त्यागी हूँ, अमुक हूँ, नमुक हू, तो यही बनना कहलाता है। जो बनेगा सो दु.ख पायगा। मै न बनूँगा। जो अपने आप सहज स्वय होता हो वह हो। जो इसका ही आग्रह रखेगा उसको कष्ट न मिलेगा। तो यह तो कहलाया बनावट और इस तरहकी बात दूसरे को दिखाना यह कहलाया दिखावट। बनावटमे तो सकल्प है, मानसिक बात है, पर दिखावटमे अपनी कुछ मुद्रा दिखाना यह दिखावट कहलाती है। तो जो दिखावट करेगा वह भी क्लेश पायगा। और तीसरी चीज है सजावट। अपनेको सजाना, जैसा चाहे परिकर रखना, बहुत से लोगोका संग रखना, उनके द्वारा अपना कुछ प्रचार कराना, यह बहुत बडे है, फलाने है, विदेहसे आये है, अमुक तमुक है, ऐसा दूसरोसे प्रचार कराना, खुद भी अकेले अकेले प्रचार कराना, यह कहलाता है सजावट। तो बनावट, दिखावट, सजावट जहाँ है, भले ही इस मोही जगतमे उनका यश फैले, मगर मोक्षमार्ग तो नही मिलता। मोक्ष मार्गके पात्र वे ही है जो बनावट, दिखावट, सजावटसे अलग है और वे ही आनन्दको पा सकते है।

मृत्युभय व सुखाकांक्षाको तजकर सहज आनन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्वके आलबनसे सहज आनंदके पानेका अनुरोध—सारी दुनिया सुख चाहती है, मगर सुख चाहनेसे तो सुख नही मिलता। सुख चाहता है और मृत्युसे डरता है। सदाके लिए सकटमुक्त होना है तो अपने आपके स्वरूपपर विश्वास बनाओ। यह ही तुम्हारा अन्तर्नाथ है, भीतरका प्रभु है, जिसकी प्रसन्नतापर भली सृष्टि होती है और जिसके मुरझा जाने पर बुरी सृष्टि होती है। वह प्रभु मेरा मेरेमे ही है, उस अन्तर्प्रभुकी भक्ति करो। हे अन्तर्नाथ! तू ही मेरे लिए सर्वस्व है। प्रसन्न करूँ तो तुझको करूँ तो मेरेको लाभ है। और दुनियाके बाहरी लोगोको, कर्मके प्रेरे पापी जनोको प्रसन्न करना चाहू तो यह केवल मेरी मूढता है। हे अन्तर्नाथ! तू ही मेरा सर्वस्व है, तू अनादि अनन्त है, सनातन है, खुद ही परिपूर्ण है। तू अधूरा नही है, अपनी सत्ता लिए हुए है। ज्ञानानन्द जो स्वभाव है उस स्वभावरूपसे पूर्ण है, घन है। तू ही मेरे लिए सर्वस्व है। यहाँ ही दृष्टि अधिकाधिक रहे, उसीको तो कहते हैं योगी, ससारके समस्त सकटोसे पार होने वाला। तो सुखकी चाहमे, मृत्युके डरमे जीवन न गुजारें, किन्तु अविनाशी आनन्दमय स्वत. परिपूर्ण निज अन्तर्नाथ की भक्ति करें और अपना अच्छा भविष्य प्राप्त करें।

(५०)

प्रगति चाहते हो तो मिथ्या वचन मत बोलो, अप्रिय, अहित भी मत बोलो, अपनी विफलता, कमी, त्रुटि ढाकनेका प्रयत्न मत करो। अपनी उपलब्ध साधारण सफलताओंका डंका मत बजाओ।

आत्मप्रगति चाहने वालोंका मिथ्या वचन न बोलनेका कर्तव्य—सभी प्राणियोंके चित्तमे यह बात समायी रहती है कि मेरी प्रगति हो, उन्नति हो। भले ही किसीने प्रगति समझी है एक लौकिक बडप्पनमे तो विवेकियोने प्रगति समझी है रागद्वेष दूर करनेमें और समतापरिणाममे स्थित रहनेमे। तो वास्तविक प्रगति तो आत्मविकास है, और लौकिक प्रगति की भी बात समझो तो भी दोनो विकासोका उपाय है, मिथ्या वचन मत बोले। मनुष्यका धन वचन है। पैसा तो घरमे ही धरा रह जाता है। यहाँ आये है आप लोग तो क्या धनको अपने साथ लाये है, लेकिन आपके वचन तो यहाँ भी साथ है। वचनशक्ति सब जगह साथ है। मनुष्यका परिचय होता है तो वचनसे होता है। यह मनुष्य अच्छा है, बुरा है, कपटी है, साफ है, सब तरहकी पहिचान वचनोसे होती है। तो वचनोकी सम्हाल, वचनोका सयम इस मनुष्यको उन्नतिके लिए अति आवश्यक है। तो उस वचनसयममे पहली बात यह है कि मिथ्या वचन मत बोले। मिथ्याका अर्थ क्या ? जैसी बात है उससे उल्टी कहना। जैसा नही है वैसा कहना। जो है उसे न कहना, जो नही है उसे कहना, ये सब मिथ्या वचन कहलाते है। और इन सब मिथ्या वचनोके न बोलनेका प्रयोजन यह है कि खुदके आनन्दमे बाधा न हो, दूसरेके आनन्दमे बाधा न हो।

तो जब कोई जीव मिथ्या वचन बोलता है तब प्रथम तो वही अपने मनमे आकुलता उत्पन्न करता है, क्योकि सत्यके विपरीत सोचनेमे, विचारनेमे, बोलनेमे, करनेमे आत्मामे घबडाहट बहुत होती है। पापकार्य करनेमे घबडाहट पहले होती है। भले ही आदत ऐसी बनी है अनादिसे कि पाप करते है और बडे सुभट बनते है, घबडाहट नही करते, लेकिन कैसा ही कोई दुष्पाप हो और कैसा ही उसने पापका अभ्यास बना लिया हो, लेकिन अन्तरंग मे एक किरण जरूर आ जायगी। जो अन्तरगमे गुप्त ही गुप्त यह सिखा रही हो कि यह काम तो ठीक नही, और जहाँ यह समझा कि यह कार्य उचित नही, फिर करे तो घबडाहट अवश्य होती है। तो मिथ्या वचन भी घबडाहट उत्पन्न करने वाले वचन है, और फिर यह समझिये कि मिथ्या वचन बोलकर हमने अपना बडा महत्त्व बताया तो प्रगति हमने क्या की और भविष्यमे अनेक विपत्तियोका प्रोग्राम बनाया है। मिथ्या वचन बोलनेसे इस जीवकी हानि है, लाभ कुछ नही मिलना और कदाचित् थोडा लाभ मिल जाय, लाभ क्या, लौकिक

पुद्गल स्कधका, तो वह लाभ यो नही है कि जब भीतरमे पापकर्मका बध होता है और संक्लेश कहा क्या गया है, तो यह कितने दिनोका चिकनापन है ? अन्तमे तो बडी दुर्दशा होने को है । तो मिथ्या वचन, लोगोसे बोलनेका साधन है वचन, और जिसके मिथ्या वचन है उसकी प्रगति नही हो सकती ।

लोग सोचते है कि मिथ्या बोले बिना दूकान भी नही चलती, रोजिगार भी नही चलता, पर यह बात बिल्कुल असत्य है । ग्राहक यदि समझ ले कि यह मिथ्या वचन बोल रहा है, तो वह आपकी चीज खरीदेगा क्या ? आप चाहे मिथ्या बोल रहे हो, पर ग्राहकपर यह छाप रहे कि आप सच बोल रहे तब ग्राहक आपसे सम्बन्ध बनायगा । यदि ग्राहककी समझमे अगर मिथ्या बात आ जाय तब तो न चलेगी फर्म, न चलेगी दूकान । ग्राहकके चित्त मे जब यह बात बैठेगी कि यह सच्ची दूकान है, ठीक बोलता है, सही बोलता है, तब ही तो बात बनती है । अच्छा अगर आप मिथ्या ही मिथ्या बोलते जायें तो यह नही हो सकता कि ग्राहकको सदा धोखा ही धोखा हो । जब वह समझ जायगा कि अरे यह तो मिथ्या बोलता है तो उसी दिनसे उसका व्यवहार समाप्त हो जाता है । तो ग्राहक समझता है कि यह सच बोलता है । और दूकानदार अगर सच बोले तो क्या उसका काम चलेगा नही ? अरे विशेप चलेगा । सच बोलनेका साहस क्यो नही बनाते ? सच बोलना एक तपश्चरण है । उसमे बहुत-बहुत अनेक बाधायें आती हे, किन्तु उन बाधाओसे न घबडायें तो उसकी सत्यवादितासे जीवनभर आनन्द मिलेगा । तो आत्मप्रगति चाहते हो तो पहली बात यह है कि मिथ्या वचन मत बोलें, जो कि अभी बताया था कि मिथ्या वचन चार प्रकारके होते है ।

आत्मप्रगति चाहने वालोका अप्रिय अहित वचन न बोलनेका कर्तव्य—अब एक ५वां मिथ्या वचन भी समझिये–जो वचन अप्रिय हो, अहित हो वे वचन मिथ्या कहलाते है । चाहे चीजके हिसाबसे सच भी वचन हो, मगर दूसरेको दु.ख देवे, दूसरेकी निन्दाका हो, दूसरे का अहित करे तो उसको भी मिथ्या वचन कहा है । बोलनेका प्रयोजन क्या है ? स्व-पर आनन्द । प्रयोजनको भूल जायें तो साधना ठीक न बनेगी । जैसे रसोईका प्रयोजन क्या है ? भोजन करना । क्या कभी कोई ऐसा बेवकूफ भी देखा कि भोजन करनेकी तो बात ही न करे और भोजन-सामग्री दसो तरहकी बनाता जाय, फेंकता जाय । यदि कोई प्रयोजनको छोडकर साधनामे लगता है तो वह विवेकी नही है । जैसे व्यवहार धर्मका प्रयोजन है रत्नत्रय भावका धारण । कोई रत्नत्रय भावकी सुध न रखकर फिर उस क्रियाकाण्डमे लगे तो उसे विवेकी नही कहते । क्रियाकाण्ड छोडनेमे विवेक नही, क्रियाकाण्ड करते हुएमे भीतरमे अपना ज्ञानबल बढावे और रत्नत्रयकी साधना करे, आत्मस्वरूपको जानकर इस ही स्वरूपमे

मग्न होवें । ऐसे ही सही वचन बोलनेका प्रयोजन है स्व-पर आनन्द । यदि किसी वचनसे इस प्रयोजनमे बाधा आये तो फिर ये वचन सही न कहलाये । तो आत्मप्रगति करना है तो कभी अप्रियवचन मत बोलें और अहितकारी वचन मत बोले । अपनेसे वही वचन निकलें जिसमे दूसरेका हित हो और दूसरेको आनन्द हो । मिथ्या मत बोले, अप्रिय मत बोलें, अहित मत बोले, ऐसी साधनासे प्रगतिका मार्ग मिलेगा ।

अपनी त्रुटियां कमियां विफलतायें ढांकनेसे आत्मप्रगतिमे बाधा—आगे बढनेके लिए व्यवहारकी बात कही जा रही थी कि यदि आत्मप्रगति चाहते हो तो मिथ्यावचन मत बोलो । अप्रिय और अहित वचन मत बोलो, इसके साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना है कि चूँकि यह मानव साधनामे लगकर भी अनेक कमियोका, दोषोका यह घर रहता है । तो वहाँ जिसको प्रगतिकी वान्छा है उसे यह चाहिए कि अपनेमे जो कमी है, त्रुटि है या विफलता है उसको कभी ढांके नही, अर्थात् खुद तो समझता रहे और जिस सत्सगमे साधनामे चलते है उस सत्सगसे भी गुप्त न रखे । देखिये एक लौकिक बात है कि अभी सन् १९७१ मे जब पाकिस्तान और हिन्दुस्तानमे बगलादेशके प्रसगमे लडाई चल रही थी तो पाकिस्तानी हाई कमान ने अपनी एक शान दिखानेके लिए अपनी विफलताओंको ढाँका, कमियोको ढाका, त्रुटियोको ढाका । पाकिस्तानियोको यह नही मालूम होने दिया कि हम कुछ पराजयपर है बल्कि और उल्टे उल्टे समाचार ही फैलाये, अब बम्बई हडप लिया, अब आगराको ध्वस्त कर दिया, अब थोडी ही देरमे दिल्ली पहुचने वाले है, और खुदमे क्या विफलता थी, कहाँ हारे, कहाँ कमी पडी, इस बातको छिपा लिया तो उसका फल क्या हुआ ? जैसा कि कभी इतिहासमे नही सुना कि ९० हजार सैनिकोने आत्मसमर्पण कर दिया, वह बात सुननेमे आयी । यह तो है एक देश देशकी बात, पर उस रीतिसे अपने आत्मापर भी घटाना । इस घटनाको बताकर एक रीति बतला रहे कि हम साधना करते है और साधना करते हुए भी त्रुटियाँ रहती है । विफलतायें होती है, उनको ढाकना या उनको अपनी दृष्टिसे ओझल करना और समाजको भी पता न लगने देना और उस ही ढाँचेमे समाजको भी बहा ले जाना—ये सारी बातें खुदकी प्रगतिको भी बाधक है और दूसरेकी प्रगतिको भी बाधक है । तो आत्मप्रगति चाहने वाले पुरुष जैसे मिथ्या वचन, अप्रिय वचन, अहित वचन न बोलें, इसी तरह यहाँ भी यह ध्यान रखे कि अपनी विफलता हो, कमी हो, त्रुटि हो तो उसे भी ढाके नही । अपनी दृष्टिमे तो लायें ताकि उसका निवारण किया जा सके । सभी लोग अपने अनुभवसे जान सकते है । धर्मकी बातमे सब लोक ऐसा दिख रहा, कितना समुदाय लोक है ? कोई किसी ढगसे, कोई किसी ढगसे और कोई बिरलाको छोडकर बाकी सब जिसे क्या कहते ?

कागजके फूल । भीतरमे त्रुटि, विफलतायें, अशान्ति, असतोष, तृष्णा ऐसी कषायें सब निरंतर चल रही और काम किए जा रहे सब, तो ऐसी विफलता प्राय. प्रत्येक व्यक्तिमे पायी जाती है । सो भाई देखो अपन चारित्रमे कितना पीछे है, अपन ज्ञानमार्ग और ज्ञानानुभवकी बातमे कितना पीछे है, सो खुद दृष्टिमे नही रखते और ऐसी दिखावट, बनावट, सजावट होती है कि दूसरे भी दृष्टिमे नही ले पाते । फल क्या होता ? जैसे कहावत है ना कि रातभर पीसा पालेसे उठाया । रात भर रामायण पढा, पर यह पता नही कि सीता रामकी थी या रावण की । बहुत बडी-बडी बातें कर जाते है ज्ञानके नामपर, धर्मके नामपर, और सर्वविफलताओके धाम बने हुए है । त्रुटिको निवारण करनेके लिए, कमीको निकालनेके लिए न कोई प्रोग्राम है, न कोई अन्त साधना है, केवल बात ही बात है और कोई प्रायोगिक बात नही हो पाती कि यह ज्ञानानुभव किया जा सकता है, तो प्रगति कहाँसे हो ?

उपलब्ध कुछ सफलताओका डंका बजानेसे आत्मप्रगतिमे बाधा—आत्मप्रगति चाहने वालेको एक तीसरी धारा यह और जरूरी है, क्या कि कभी साधना करनेमे कुछ सफलता मिल जाय तो उन सफलताओका डंका न बजाना । देखो ये सारी बातें देशप्रगतिमे भी लागू, समाजप्रगतिमे भी लागू गृहप्रगतिमे भी लागू और आत्मप्रगतिमे भी लागू होती है । जैसे कभी सफलता मिली, थौडा ज्ञान बना, ध्यान बना, भीतर कुछ शान्तिकी झाँकी सी आती, कुछ गुण भी बन गए, तो अपने मुख अपना डका बजाये, मैने यो किया, मैने यो अनुभव किया, मैने यो समझा । कितने ही लोग तो पूछने लगते, आपको सम्यग्दर्शन है कि नही ? अच्छा वह क्या उत्तर दे सो बताओ । सम्यग्दर्शन है यह भी उत्तर नही बनता और सम्यग्दर्शन नही है यह भी उत्तर नही बनता । यह कोई पूछनेकी चीज नही और न उत्तर देने की चीज है । यह तो अपने-अपने समझनेकी बात है, क्योकि कोई उत्तर दे तो उसका लोको के लिये क्या प्रमाण ? ऐसी कुछ थोडी सफलतायें मिल जाये तो उन सफलताओका डका न बजाना चाहिए । जैसे कहते है ना कि जो लोग अपने मुखसे अपने गुणोकी बात कह देते हैं उनके गुणोमे कमी आ जाती है । अनुभव भी बतायगा । जो अपनी बात अपने मुखसे ज्यादह हाकते फिरेगे फिर वह विकास नही रहता है । विकास हो रहा है, अपनेमे आनन्द ले रहा है, गुप्त हो तथ्य चल रहा है, प्रगति होती है । तो तीन बाते बतलाई गई इस निबधमे आत्मप्रगति चाहिए हो तो वचनकी साधना बनाओ । आत्मप्रगति चाहते हो तो अपनी त्रुटियो को ढाको मत, और आत्मप्रगति चाहिए हो तो अपनी कुछ पायी हुई सफलताओका डंका मत बजाओ । साधक कैसा गुप्त, धीर, उदात्त होता है । उसका कोई परिचय करने वाला भी न हो तो उससे साधकमे कोई कमी नही आयी और कोई झूठा ही एक क्षण प्रशसाका पोलावा

बांधने वाला हो तो उससे कही गुण न आयेगे। यह तो अपनी दृष्टिकी बात है।

(५१)

विकारमे परिणाम मेरे मत जाओ, यही मेरी वास्तविक कमाई है, अन्य वस्तुओका लाभ नही, बल्कि उलझन और बरबादीका फन्दा है, नोकर्मके प्रसगसे हटकर ज्ञानमे ज्ञान रमाकर कर्मविपाकको फेल कर देना सच्ची शूरता है।

विकारपरिणामकी अनुत्पत्ति ही वास्तविक कमाई--मनुष्योमे एक यह बात बहुत अधिक लगी रहती है कि खूब कमाई करके, सचय करके धर जाना। भले ही तृष्णा सबमे है, परिग्रहकी सज्ञा सबमे है, मगर देखो, न तो नारकी सचय करके कुछ रखते और न देव कुछ सचयका उपक्रम करते और पशु पक्षी तो करे क्या, भले हो सज्ञाकी वजहसे परिग्रहसपर्क चलता है, मगर मनुष्योमे जो बात देखी जाती। फर्म खुल रहे, फैक्ट्री खुल रही, अनेक व्यापार चल रहे, कमाई कर रहे, सचय कर रहे, खुश हो रहे, यह बात मनुष्योमे और यहाँके जहाँ कर्मभूमि है कमाई करनी पडती वहाँ यह बात चलती है और लोग अपनी कमाईपर गर्व और बडप्पन अनुभव करते है। लेकिन पहले तो कमाई शब्द ही यह बतलाता है कि कमाईका क्या अर्थ है--कम आई सो कमाई। क्या कम आयी ? ऋद्धि सिद्धि, इनकी कमी पड जानेका नाम है कमाई। जैसे लोग कहते है ना कि हमने बहुत कमाई की तो इसका अर्थ यह लगा लेना चाहिए कि उन्होने अपनी बहुत कमी कर डाली। अर्थ तो यह है, लेकिन लोग परिग्रहसचयका अर्थ समझकर फूले नही समाते। अच्छा अगर कमाईका अर्थ तरक्की करें तो वास्तविक कमाई क्या है इसपर विचार करो। वास्तविक कमाई यह है कि मेरे परिणामोमे विकार भाव न जगे। वही अमीर है, वही सत्पुरुष है जिसके परिणाममे विकारका जागरण नही। अच्छा विकारका जागरण कहाँ नही जहाँ वस्तुका सत्य बोध हो। वहाँ जागरण नही जहाँ पर्यायबुद्धि है, पर्यायदृष्टि है, पर्यायको हो अपने रूप अनुभव करता है, पर्यायको ही यह मैं हू ऐसा मानता है। उसको विकार न आये यह कैसे होगा ? सबसे बडा विकार तो यह ही मिथ्यात्वका बसा है कि पर्यायमे अहका अनुभव करना, यह मै हू और मेरा जो निज सहजस्वरूप है उसकी दृष्टि न देना। तो मेरी वास्तविक कमाई क्या है ? मेरे परिणामोमे विकार भाव न आये, विकारमे मेरा परिणाम न जाय, विकाररूप मेरी परिणति न बने, यह बात अगर हुई तो यही वास्तविक कमाई है। इसको चाहे निषेधरूपसे कहलो, चाहे विधिरूपसे। मुझमे ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी वृत्ति जगी रहे यह ही मेरी वास्तविक कमाई है। मै घबडा न सकूँ, अधीर न होऊँ, अस्थिर न होऊ, विषम परिणामोमे न आऊ, जो है उसका ज्ञाताद्रष्टा रहू, ऐसी जाननहार देखनहारकी वृत्ति रहती है तो वह है वास्तविक कमाई।

बाह्य परिग्रहके सचयमे लाभ समझनेकी मूढता—अच्छा तो जो लोग समझते है कि बहुत परिग्रह जुड गया, सचय हो गया आदिक बाते जो करते है तो क्या वह लाभ नही कहलाता ? हाँ हाँ वह लाभ नही है । परिग्रहका सचय होना, बाह्य अर्थका एकत्रित कर लेना या जोड जाना यह कोई लाभ नही है । अच्छा लाभ नही है तो क्या हानि है ? हाँ हानि तो कह सकते, क्योकि उसमे विकल्प, सक्लेश, चिन्ता, भय, आदि ये सभी बातें बनती है और यह ही जीवकी बरबादी है । अच्छा, तो फिर एक प्रश्न होता । तो कोई गृहस्थ ऐसा करके देखे तो सही कि कुछ न जोडे, कुछ न रखे । अगर सभी लोग ऐसा सोच लें याने मुनि की तरह सभी बन जाये और गृहस्थ कोई हो ही नही तो बात कैसे बनती है किसीकी व्यवहारमे ? तीर्थप्रवृत्तिकी बात कैसे बनेगी ? तो पैसा तो आवश्यक है ना, ऐसा एक प्रश्न उठता है ? तो उसका उत्तर यह है आवश्यक अनावश्यकके प्रसगमे कि पुण्योदयके अनुसार जैसा जो कुछ स्वय प्राप्त हो जाता है एक साधारण परिश्रम करते हुए, साधारण उद्योगमे रहकर भी जो कुछ होता है उसमे व्यवस्था बनावें । गृहस्थ है इसलिए कहा जा रहा है । क्योकि गृहस्थ नाम उसका है जो त्रिवर्गका समान सेवन करता है । त्रिवर्ग मायने धर्म, अर्थ, काम, इनका जो समान सेवन करता है उसे कहते है गृहस्थ । और गृहस्थका मोक्ष तो लक्ष्य है और प्रयोगमे आ रही ये तीन बातें । सो बस इतना ही कर्तव्य है, किन्तु परिग्रहमे उपयोग लगाकर चलना, धुन बनाना, दृष्टि रखना, ये सब है अपने आत्माके लिए बाधक । तथा जब यह बाह्य प्रसग हट जाये, कुछ शुद्धता आ जाय तब फिर केवल आत्माका ही काम रहता है । तो अन्य वस्तुओका जो लाभ होता है वह वास्तविक लाभ नही, वह तो एक कमी है, बरबादीका हेतुभूत है । सबसे बडी विपत्ति आती मरण समयमे मोही जीवको, क्योकि लाचार तो हो ही गया । इस भवसे जाना तो पडेगा ही, पड ही रहा है, छूट ही रहे है प्राण और खबर आ रही है धनकी, वैभवकी । इतना सब कुछ कर लिया तो प्राण तो छूट रहे और वैभवकी आसक्ति है उसके तो उस समय जो उसे खेद होता है उसका और कोई उदाहरण क्या हो सकता है ? तो अपनी सबसे बडी कमाई यही है कि अपना सहजस्वरूप अपने ज्ञानमे रहे, उससे अधीरता नही, घबडाहट नही, भय नही, चिन्ता नही, क्षोभ नही और स्वभावके दर्शन होनेके कारण परमसतोष है, परमतृप्ति है ।

नोकर्मके प्रसंगसे हटनेका पौरुष करनेका कर्तव्य—हाँ तो बातें अभी दो आयी कि वास्तविक कमाई तो यह है कि मुझमे क्षोभ न आये और क्षोभके कारणभूत बरबादीका जो फदा लिए हुए है ऐसा जो कुछ बाह्य वस्तुओका लगाव है वहाँ बाह्यवस्तुओका लाभ हो तो वह कोई लाभ नही कहलाता । तब क्या करना अपना कर्तव्य है सो सुनो—विकार होते है

ना दो प्रकारके। अबुद्धिपूर्वक विकार और बुद्धिपूर्वक विकार। अबुद्धिपूर्वक विकारमे हम क्या करें ? और उसकी चिन्ता भी मत करें, क्योंकि जो अबुद्धिपूर्वक विकार है याने जो अव्यक्त विकार है वह है तो सही कर्मफल और है क्षोभकी स्थिति, किन्तु वह ससरण बढाने का हेतु नहीं हो पाता, जो बुद्धिपूर्वक विकार है, व्यक्त विकार है, विकारमे ईस उपचरित निमित्तमे फसनेकी स्थिति है। जान जानकर इन विषयसाधनोमे उपयोग जोडते हैं आसक्त हो होकर यह है ससरणके और आकुलता पाते रहनेके साधन। सो कर्तव्य यह है कि ज्ञान-बल तो कुछ पाया है ना, तो ज्ञानका ऐसा सदुपयोग करे कि मेरेमे व्यक्त विकार न हो सकें। वह उपाय क्या है ? नोकर्मके प्रसगसे हटकर रहना। व्यक्तविकार आया करते है उपचरित निमित्तमे उपयोग जोडनेसे और तब ही तो कहते है कि यह जो बाहरी उपचरित निमित्त हैं ये निमित्त नही कहलाते, ये आश्रयभूत पदार्थ हैं। इनको नोकर्म शब्दसे कहा है। जीवविकार के लिए तो कर्म ही निमित्त है, अन्य कुछ निमित्त नही होता और जो बाहरी बातें है, जिनका ख्याल करके, जिनका उपयोग जोडकर क्रोध, मान, माया, लोभ बनता है वे पदार्थ नोकर्म है, आश्रयभूत वस्तु है तो इतना पौरुष यहाँ चल सकता। हम आश्रयभूत पदार्थोंका आलम्बन न ले, नोकर्मका प्रसँग हटा दे। तो देखो ज्ञानी तो वह है ही। जिसने अपने सहज स्वरूपका अनुभव किया है और इतनी ऊची विरक्ति हुई नही कि वे सकल सन्यास कर सके याने सब कुछ छोड सकें, ऐसी विरक्ति अभी आयी नही तब रहना पड रहा है गृहमे, लावमे, क्योकि धर्म, अर्थ, काम—इन तीन वर्गोके प्रसगमे लगें ही हुए है। तो ऐसी स्थितिमे ज्ञानी पुरुष अधिकाधिक यह पौरुष करता है कि नोकर्मके प्रसग न रहे और उनमे हमारा उपयोग न जुडे।

नोकर्मके प्रसंगसे निवृत्त ज्ञानीके ज्ञानकी ज्ञानमे बर्तना— नोकर्मके प्रसगसे जब हटना बनता है तब ज्ञान क्या करता है ? पहले तो ज्ञान इन विषयभूत साधनोके विकल्पमे रहता था, अब कुछ ज्ञानबल पाया और इन विषयसाधनोमें नही रम रहा। तब कहाँ रमेगा वह ? बाह्यपदार्थोंका तो छोड दिया आश्रय, याने उपयोगमे कोई बाह्यपदार्थ लिया नही, तो क्या यह ज्ञान निराधार बन जायगा ? जैसे कि जो दार्शनिक तदुत्पत्ति सम्बन्ध मानते है ज्ञानका याने विषयोसे, इन बाह्य साधनोसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है ऐसा कोई दार्शनिक मानते है और उसमे युक्ति यह देते है कि अगर विषयोसे पदार्थोंसे ज्ञान उत्पन्न नही होता तो यह व्यवस्था कैसे बनती कि हमारे ज्ञानने खम्भेको जाना, दरीको जाना। तो जो प्रतिनियत जान-कारी अनुभवमे आ रही उससे सिद्ध है कि खम्भेसे ज्ञान निकलकर मुझमे आया तो हमने खम्भेको जाना। जिस किसीसे ज्ञान निकलकर मुझमे आया तो हमने उसको जाना। यह

व्यवस्था बन जाती है। ऐसा कुछ दार्शनिक उत्तर देते है। तो यो जो लोग विषयोसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानते है वे लोग तो क्या उपाय करेगे, किन्तु जैनसिद्धान्तका निर्णय है कि किसी भी बाहरी पदार्थसे मेरे स्वरूपका कोई तथ्य आया, ऐसा नही है। तो नोकर्मका प्रसग इसलिए हटाया जाता है कि वह हमारे विकारके आश्रयभूत बनता है। कही बाहरी पदार्थोसे मुझमे विकार आता हो तब हमने उनको अलग किया हो, ऐसी बात नही। विकार तो नही आता किसी भी परवस्तुसे, मगर परवस्तुका विकल्प करते हुएमे ही विकार जगता है। कोई सा भी विकार हो, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या और वहाँ कोई यह कहे कि तुम भाई विकार तो खूब करो, छुट्टी देते हैं, पर एक शर्त है कि तुम किसी भी परपदार्थका विकल्प न करो, किसी भी परपदार्थकी दृष्टि न रखो तो बतलाओ व्यक्त विकार होगा क्या ? तो व्यक्त विकार मिटानेके लिए पौरुषकी चर्चा है, अव्यक्त विकार स्वयं मिटेगा। जैसे जिस पेडकी जड कट गई वह हरा कब तक रहेगा ? स्वय मिटेगा। इसी तरह विकारकी जड है मोह। जैसे जडमे पानी डालो तो वृक्ष हरा भरा रहता और जडोको तो खूब सूखी रखे और पत्तोको, डालियोको, फूलोको खूब सीचता रहे तो क्या वह वृक्ष हरा भरा रह सकेगा ? नही रह सकता। तो जैसे पेडके हरे भरे रहनेका साधन है मूलसिंचन, इसी प्रकार इन विकार भावोका कारण है मोहभाव। मोहभाव हटे तब भी विकार कुछ समय तक रहते हैं मगर उनकी धारा टिक नही सकती। क्योकि मूल नष्ट हो गया है। तब देखो भाई विषयोसे तो मेरेमे कषायें आती नही, किन्तु उनका त्याग यों करना पडता कि हमारे विकारके वे आश्रयभूत है और यही सब चरणानुयोगमे बताया गया है।

नोकर्मके प्रसंगसे हटकर ज्ञानमे रमना आगमोपासनाका प्रयोजन—सभी अनुयोगोका कथन इस आत्मकल्याणार्थीके लिए साधन है। महापुरुषोके चरित्र पढकर भीतरमे विषयोसे हटकर वैराग्यमे लगनेकी एक भावना बनती है। करणानुयोगके पढनेसे जो पढने वाले है वे खुद अनुभव कर सकते हैं कि इसमे वैराग्यके लिए कितने साधन है ? चरणानुयोगमे बाह्य वैभवोका परिहार बताया है तो वह अध्यवसानके निषेधके लिए। समयसारमे इसका समर्थन यो किया है—जहाँ यह गाथा आयी— वत्थु पडुच्च ज पुण अज्झवसाण दु होई जीवा ण" भाई हमे नम्बर वम्बर तो कुछ याद नही, कारण कि हमारी दृष्टि खण्डन मण्डन करनेकी नही रहती। टीकामे श्री अमृतचन्दजी सूरिने कहा—न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्याध्यवसानमात्मानपुलभते। कोई भी विकार अपना स्वरूप बाह्यवस्तुका आश्रय किए बिना प्राप्त नही कर सकता। अच्छा जरा उस क्रोधका तो वर्णन करो कि जो क्रोध तो है, मगर किसी पर आया न हो। अब करो वर्णन कैसे करते ? अरे बाह्य वस्तुका आश्रय पाकर ही अध्यवसान

अपना स्वरूप व्यक्त कर पाता है। तब ही जब यह प्रश्न किया अमृतचन्द्र सूरिने यह वर्णन करके कि बाह्य वस्तु अध्यवसानको पैदा तो नही करते, किन्तु अध्यवसानके हेतुका हेतु है वह तब फिर बाह्यवस्तुका परिहार क्यो बताया ? किमर्थ बाह्यवस्तुप्रतिषेध ? ऐसा प्रश्न हो तो साफ स्पष्ट उत्तर है—अध्यवसानप्रतिषेधार्थ.। अध्यवसानके निषेधके लिए बाह्य वस्तुका परित्याग किया जाता। उदाहरण देते है कि देखो अगर कोई युद्धमे लडता है तो अपनेमे यह ही तो अहकार भरता, कि आज मै वीर माताके पुत्रको मारूँगा। क्या कोई ऐसा भी कहता कि आज मै बध्याके पुत्रको मारूँगा ? जैसे बच्चे लोग खेलमे दवा बतलाने लगते कि देखो भाई आकाशके तो कोपल लावो और बादलोका धुवा लावो और गधेके सीगसे उसकी रगड करके लगाओ। बताओ ऐसा हो सकेगा क्या ? अरे वह तो एक बातकी बात है, भाव तो नही बनता, विकार तो नही बनता। बाह्यवस्तुका आश्रय करके ही व्यक्त विकार बनता, इसलिए हम आप सबको यह आवश्यक है कि अगर प्रगति चाहते है और अपनेमे ज्ञानानुभूतिके अवसर चाहते है तो व्यसनोके प्रसगमे न लगें, पापके प्रसगमे न लगे। और उन व्यसन पापोके जो साधन है, आश्रयभूत पदार्थ है उनका परित्याग करें। नोकर्मके प्रसगसे हटकर रहेगे तो ज्ञानबल तो चाहिए ही चाहिए। उसको गौण न करना, स्वभावकी दृष्टिका तो सारा बल ही है। अब वहाँ नोकर्मका प्रसग हटे, व्यक्त विकार न हो सकें तो विशिष्ट कर्मबन्ध होगा नही। तो व्यक्त विकारके हेतुभूत निमित्तभूत जो कर्मविपाक कर्म है उनका भी क्षय हो जाता है। तो पौरुष क्या करना ? अपने आत्मबलको सभालें, ज्ञानबलको उत्पन्न करें, अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभव करे और नोकर्मके प्रसगसे हटे। इस तरह अपने ज्ञानको ज्ञानमे रमाकर जब बाह्य प्रसगमे उपयोगको न रमाया तो उपयोग निराधार तो रहता नही। स्वय आधार है, स्वय विषय बन गया, उस समय यह ज्ञान ज्ञानमे रम गया। तो विषय प्रसगसे हटना, ज्ञानमे ज्ञानका रमना, यह बात बन सकी तो कर्मविपाक फेल हो जाते है, शिथिल हो जाते है, व्यक्त नही हो पाते है। तो इस तरहसे कर्मको फेल कर देना यह ही सच्ची शूरता है, और वह सच्ची शूरता कैसे मिलती कि विषयोका उपयोग हटावें और अपने सहज ज्ञानस्वभावमे उपयोग लगावे तो जो विकास होगा वही वास्तविक अपनी कमाई है।

(५७)

जहाँ जाना है उससे उल्टा कदम बढाकर क्या वहाँ पहुचेंगे जहाँ शान्ति पाना है ? उससे उल्टी दिशामे दृष्टि हो तो क्या शान्ति मिलेगी ? शान्ति पाना है आत्मामे, सो अनात्मासे हटो और आत्मामे आवो, शान्ति मिलेगी।

शान्तिधामसे विपरीत कष्टधामकी ओर धुन रहनेमें अकल्याणका विस्तार—जैसे

किसी पुरुषको पूर्वदिशामे स्थित ग्रामको जाना है और चल देवे पश्चिम दिशामे तो वह अपने इष्ट स्थानपर कैसे पहुच सकता है ? बल्कि जितना-जितना विपरीत दिशामे बढते जायेंगे उतना ही उतना निर्दिष्ट स्थानसे दूर होते जायेंगे। ऐसे ही आत्माको चाहिए आनन्दधाम। जहाँ आनन्द प्राप्त हो ऐसे स्थानपर आत्मा चलना चाहता है, वह आनन्दधाम तो इष्ट है और पहुच जाय क्लेशधाममे तो फिर आनन्द कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? आनन्दका धाम है, शान्तिका स्थान है तो यह स्वय आत्मा, क्योकि आत्मा ही अपने सहजस्वरूपके परिचय द्वारा अपने स्वरूपमे मग्न होकर शान्ति पाता है। शान्ति पानेका दूसरा उपाय हो ही नही सकता। अपने स्वरूपको छोडकर, बाहरी पदार्थमे उपयोग जोड जोडकर कोई शान्ति चाहे तो यह असम्भव बात है। तो शान्तिका धाम है यह आत्मा और क्लेशका धाम है अनात्मा। पर-पदार्थ या परभावमे उपयोग लगाये कोई, वहाँ ही दृष्टि जोडे, वहाँ ही आशा रखे तो उस पुरुषको कष्ट ही है, शान्ति प्राप्त नही होती। यदि शान्ति पानेकी भावना है तो अनात्मासे तो हटें और अपने आत्मस्वरूपमे लगें, ऐसा करनेसे शान्ति क्यो मिलती है कि शान्ति है ज्ञानकी विशुद्ध वर्तना। जहाँ ज्ञान ज्ञाता द्रष्टा रूपसे ही चल रहा है, ज्ञानमे विकल्प उलझनें नही आती है तो ज्ञानकी ऐसी स्वच्छ वृत्तिमे क्लेशका ही प्रवेश नही होता। क्लेश वहाँ ही होता है जहाँ यह उपयोग अपने स्रोतभून ज्ञानसागर आत्मस्वभावसे हट गया। जैसे कोई मछली अपने आधारसे जलसे हट जाय, जलमे बाहर पड जाय तो जैसे वह तडफती है, तडफ तडफ-कर बरबाद होती है, ऐसे ही अपना उपयोग स्रोतभूत ज्ञानसागरसे आत्मस्वभावसे चिगकर बाहरमे आ जाय, लग जाय, पड जाय तो यह उपयोग अनेक विकल्प विडम्बनायें कर करके अपने आपको बरबाद कर लेता है। तो शान्ति मिलेगी तो खुदके स्वरूपमे मिलेगी, बाहरमे उपयोग लगानेसे शान्ति नही मिलती। तो शान्तिधाम है आत्मतत्त्व और कष्टधाम है अना-मतत्त्व। शान्तिधामसे विपरीत दिशामे कष्टधाममे पहुचनेमे आत्माका अहित ही अहित है।

अनात्मतत्त्वसे हट जानेमे आत्महित—देखिये आत्मतत्त्व तो शान्तिधाम है ही और उसमे उपयोग लगे तो शान्तिका प्रकट परिणमन होता है, किन्तु अनात्मतत्त्वमे जो परपदार्थ है वे क्लेश धाम नही है, किन्तु उनमे उपयोग जोडकर जो परभावरूप अनात्मतत्त्व है उनमे लगाव होता है तो अशाति मिलती है। इसलिए अनात्मतत्त्वका सही अर्थ है परभाव, आत्मा के विषय कषायके परिणाम। इन विषय कषायोमे आत्माका उपयोग लगे तो इसको अशान्ति होती है। तब क्या करना ? ऐसा ज्ञान बनायें, वस्तुके स्वतन्त्र स्वरूपका मनन करें। प्रत्येक पदार्थ अपने प्रदेशमे है, एक का दूसरेमे कुछ प्रभाव परिणमन गुण कुछ भी प्रवेश नही करता, यह तो उन उपादानोकी ही कला है कि वे कैसा-कैसा निमित्त पाकर किस-किस रूपमे परि-

णमन कर जाते है। तो ऐसा एक वस्तुस्वातत्र्य जानकर अनात्मासे तो हटना और आत्मामे लगना—यह है अपनी शान्तिका उपाय। आत्मामे लगनेका अर्थ यह है कि कोई अपनेको ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव करता रहे, जाननेमे जानन ही आये और जाननमे जानन ही आनेके कारण वहाँ विकल्पका अवकाश न रहे, बस यही है शाति पानेकी पद्धति। तो शातिकी आशा से जो नाना परिश्रम किए जाते है उन परिश्रमोको अन्तरग साधन न समझें, हाँ वे भी व्यवहारसे साधन है, पर वास्तवमे तो अपने आत्मस्वरूपका अपने ही ज्ञानमे धाम रहे, यही एक शान्तिका उपाय है।

(५३)

आत्मामे क्लेशका कुछ काम नही, यह तो कल्पना करके क्लेशका हौवा बना लेता है। यदि क्लेश नही चाहते हो तो जैसे निराले ज्ञानमात्र हो वैसे स्वयको जानने लगो, स्वरूपमे बात सब उत्तम है, उसे भूलकर व्यर्थ कुरूप मत बनो, बस क्लेश खत्म।

कष्टरहित आत्मामे कष्टोकी जननी कल्पना—आत्मा अज्ञानवश निरन्तर कष्टका अनुभव कर रहा है, पर उस कष्टकी बात विचारो तो सही, वह कष्ट आत्मामे है क्या या वह कष्ट बनाया जाता है? आत्मामे कष्ट नही। आत्माका स्वभाव कष्टका है ही नही। किसी भी पदार्थका स्वभाव उस पदार्थको बाधा करनेके लिए नही होता। तो मेरे आत्मामे कोई स्वरूप ऐसा नही जो आत्माको बरबाद करे, पर होता क्या है कि जब परसग पाकर आत्मामे उस प्रकारका प्रतिबिम्ब छाया होती है जो कर्मोके कणके अनुभाग रूप है तो यहाँ उपयोगमे मलिनता आयी और उस मलिन उपयोगमे उपयोगका अनुभवना, तावन्मात्र अपने आत्माको पहिचानना बस इसी अज्ञानके कारण इस जीवमे कष्ट उमड जाते है। वास्तवमे आत्मामे कष्ट का कोई काम नही है। यह आत्मा केवल कल्पनाये करके क्लेशका हौवा बना लेता है। जैसे हौवामे कोई चीज नही है, पर भावनामे हौवा एक ऐसा कुछ बन जाता है कि जिसका डर मानते और कुछ प्रवृत्तियाँ करते है। ऐसे ही आत्मामे कष्ट तो कुछ नही है, पर अपने ज्ञानको इस तरह परिणमा डालते है कि जिस प्रकारके परिणमनमे आत्मा अपनेमे कष्ट महसूस करने लगता है। तो जितने भी जगतमे कष्ट है, जो कुछ भी क्लेश है, विपदा है वे सब कल्पना द्वारा बनाये गए है। यदि क्लेश न चाहिए तो जैसा अपना स्वरूप है वैसा ही अपने को जानने लगे। क्लेश खतम। अपना जो स्वरूप है वह तो सबसे निराला है। अपना स्वरूप है ज्ञानमात्र। वैसा ही अपनेको जानने लगे, क्लेश खतम हो जायगा।

कष्टरहित अन्तस्तत्त्वके अनुभवसे कष्टोकी समाप्ति—अपने स्वरूपमे कलुषता नही है यह सहजस्वरूप है। आत्माके स्वरूपमे सभी बातें उत्तम है, पूज्य है, आदरणीय है। ज्ञान हो

तो वह भी पूज्य, दर्शन हो तो वह भी पूज्य। पूज्य वह होता है जो निराकुलताकी ओर बढ रहा हो। तो आत्मस्वभावका दर्शन भी निराकुलता की ओर ले जाने वाला है। जैसा ज्ञान-मात्र अपने आपका स्वरूप है उस प्रकार अपनेको अनुभवाने लगें कि मै सम्पूर्ण जगतसे निराला केवल ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व हू, ऐसी दृष्टि होने पर क्लेशका नाम नही रहता। ऐसी दृष्टि न जगे तो बाहरसे दृष्टि फस जानेके कारण क्लेश ही क्लेश रहा करता है। भैया! अपनेको जाने, अपनेमे मग्न हो, यह है प्रक्रिया शान्ति और आनन्दस्वरूप होनेकी, पर एक बात ही बात होती है कोई और उसका प्रायोगिक रूप कुछ नही हो तो उसे शान्तिका लाभ नही मिलने का। ऐसे ही जगतके जानकार अगर कुछ चतुर बन गए, कुछ बोलनेकी कला पा गए, कुछ लौकिक विद्या प्राप्त कर ली तो वह एक केवल कहनेमे ही अपना समय गुजा-रना है। जैसे अपना शान्तिधाम प्राप्त हो वैसे ही प्रयोग करनेमे अनेक बाधायें होती है। उनका मुकाबला करना होता। कोई भी अमूल्य बात कष्ट पाये बिना, कष्ट सहन किए बिना प्राप्त नही हो पाती। तो अपना स्वरूप पाना है तो कष्ट आये, उपसर्ग आये, उन सबको सहन करनेका साहस जगायें, वह सहज मिलेगा भेदविज्ञानके बलसे। सो भेदविज्ञान जगाकर ज्ञानी बने और सत्य सन्तोष पाकर समस्त अज्ञान विपदाओको दूर करदे।

(५४)

स्वयके स्वयंसिद्ध सहजस्वरूपकी सुधमे ही स्वयका हित है, सहजसिद्ध स्वयकी दृष्टि रखते हुए क्षण व्यतीत करनेमे ही बुद्धिमानी है। बाहर सब कुछ अपने लिये न कुछ है। कुछ का लगाव अपनेको न कुछ बना देता।

स्वयंसिद्ध सहजस्वरूपकी सुधमे आत्महित—अपनी भलाई किसमे है? हम सुखी शान्त हो सके, आनन्दमग्न रह सके, ऐसा होनेका क्या उपाय है? तो देखो बाहरी क्रियावो से, बाहरके पदार्थोमे अपना कुछ उपयोग करनेसे, सम्बन्ध जोडनेसे आत्महित नही होता, यह तो गणित जैसा उत्तर है। क्योकि आत्मासे उपयोग हटाकर बाहरी अनात्माओमे जैसे भलाई और सुखकी आशा करें यह बात कभी सम्भव नही है कि वह सुख पा सके। मनुष्य अपना कर्तव्य तो करे और कर्तव्यमे आसक्त न हो। करनेका कर्तव्य है व्यवहार और निश्चयसे आत्मा अपने ज्ञान द्वारा अपने सहज ज्ञानस्वभावमे रत होनेका यत्न करे तो वहाँ आत्महित है। आत्महित कहाँ है? खुद ही खुदके सहज सिद्ध, सहजस्वरूपकी सुध करे तो आत्महित है। देखो ऐसे निजस्वरूपकी दृष्टि रखते हुए समय व्यतीत हो तो वे क्षण सफल है। आत्मा की बुद्धिमानी इसीमे है कि आत्माका उपयोग इस सहज ज्ञानस्वभावमे ही लगा रहे। तो अपना हित कहाँ मिला? अपने आपके स्वरूपमे? बाहरमे आप अपने हितकी आशा न रखें।

बाहरमे तो जो कुछ भी है सब कुछ वह सब अपने लिए है। एक सही बात ज्ञानमें समा जाय कि मेरे आत्माके प्रदेशसे बाहर जो कुछ भी है वह मेरे लिए न कुछ है, क्योंकि दूसरा पदार्थ मेरा परिणमन नही कर सकता और उसका लगाव रखते है तो अपनेको कुछ अच्छा न बना देंगे और न कुछ कर देंगे। बाहरी पदार्थोंमे उपयोग गडानेसे विकार कुछ न कुछ बन जाता है। तो बाहरी पदार्थोंमे उपयोग न गडाये तो हम अपने लिए अपने स्वरूपमें महान बन जाते है। जो कुछ बाहर है उसका लगाव भी आकुलता ही उत्पन्न करता है। तो मै सर्वस्व कब कहलाऊँ जब अपने स्वरूपमे उपयोग दू और मै न कुछ कब कहलाता जब अपने स्वरूपको छोडकर बाहरी पदार्थोंमे अपना उपयोग लगाता हू। तो बाहरी पदार्थोंमे उपयोग न लगे, खुदमे उपयोग लगे, इसका साधन यह है कि एक बार तो अपने ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपका अनुभव करके सत्य आनन्द पा लें। अनुभवोंमें घनिष्ट अनुभव है आनन्दका अनुभव, ज्ञान द्वारा जाननेका अनुभव। यहाँ तो कुछ बहिर्मुखता मिल जायगी, मगर आनदके अनुभवमें थोडा भी फर्क नही रहता। जैसे कि मोटे रूपमे जान लो कि जब पदार्थोंको जानते हैं तो हम जगरूप तो बनते है पर मगरूप नही बनते और जब आनन्दका अनुभव करते हैं तो वहाँ हम मगरूप बनते है, जगरूप नही बनते। आत्माका स्वरूप जगमग है। भीतरमे कुछ पाना, बाहरमे कुछ पाना यही जगमगका स्वरूप कहलाता है। यद्यपि प्रदेशदृष्टिसे आत्मा बाहर कुछ नही पाता, मगर आत्माके उपयोगकी जो वृत्ति है उस ही के ये दो प्रकार पडे है—अपनेमे पाना, बाहरमे पाना। जो बाहरमे पानेकी बात है वह तो है ज्ञानकी बात। जैसे किसी पदार्थको जाना, ऐसे ही तो लोग जानते है कि वह है पदार्थ और जब आनन्दका अनुभव बनता तब बाहरकी ओर उछलकर आनन्द नही मिलता, किन्तु अपने आपकी ओर जमकर ही आनन्द पाया जा सकता।

आनन्दानुभवकी पद्धति अन्तर्मुखता—भैया! आनन्द तो एक अलौकिक बात है। दुःख और सुखका अनुभव भी अपने आपकी ओर मुडती हुई जैसी स्थितिमे होता है। यद्यपि उस वास्तविक आत्माकी ओरसे मोड नही है, उस वक्त भी बाहरी पदार्थोंका ख्याल है, विकल्प है, पर बाहरी पदार्थोंका सभी विकल्प ख्याल रहकर भी उपयोगमे जो सुख और दुःख का अनुभव होता है सो कुछ अन्तरमे झुककर अनुभवा जाता। लोग समझ तो लेते कि विकल्प बाहरकी ओर है, मगर मात्र बाहरकी ओर ही विकल्प रहे तो वहाँ कुछ अपनेमे सुख दुःखका अनुभवन नही हो पाता। भीतरमे उस विकल्पको, अनात्मतत्त्वको रचा पचाकर अपने उस विभावमे समाकर सुख दुःखका अनुभव होता है। फिर आनन्द तो एक विशुद्ध परिणमन है। वहाँ तो परपदार्थ आश्रयभूत भी नही है। तो जहाँ परपदार्थ आश्रयभूत ही नही है वहाँ

जो आनन्दानुभव होता है वह खुदमे रच पचकर जमकर होता है। तब आनन्दलाभके लिए कर्तव्य यही है कि बाहरी पदार्थोंमे न रचे पचे और अपने आपके स्वरूपमे, स्वभावमे झुकें, मग्नता लायें तो विषय कषायोकी मलिनता दूर होती है और अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूप की एक कीर्ति व्यक्ति प्रकट होती है।

आत्मीय सत्य शिव सुन्दर स्वरूपको लखकर कुरूप बननेकी मूढता तजनेमे आत्महित—अहो, प्राणी कैसा अपने सुभग सुन्दर आनन्दरूपको भूलकर बाहरी पदार्थोंमे उपयोगको लगाकर अपनेको कुरूप बना रहे है ? रूपवान बनना और कुरूप बनना—यह आत्मामे किस तरह बनता है ? जब कि आत्मामे कोई विकल्प नही, कषाये नही, केवल एक ज्ञानमात्र वृत्ति ही बिराजी है उस समय तो आत्मा कहलाता है स्वरूपी, अपने स्वरूपमे रहने वाला और जहाँ कर्मके अनुभागकी छाया होती है, मलीमसता होती है वहाँ हो जाता है आत्मा कुरूप। कुरूपको अपनाना ही कुरूपी बनना कहलाता है। तो कुरूप न बनो, अपने स्वरूपमे रहो। चैतन्यभावके अनुरूप ज्ञानोपयोगकी वृत्ति जगना सो तो स्वरूप है और स्वभावके प्रतिकूल रागद्वेष विषयकषाय इनके क्षोभमे रहना यह कहलाता है कुरूप बनना। तो हे आत्मन् ! तू प्रभुसमान है। अपने अनन्त ज्ञानानन्द धामकी सभाल कर, बाहरी उपचरित निमित्तोमे अपना उपयोग फसाकर जुडाकर अपने आपको क्षुब्ध मत बना, कुरूप मत बना। देख अपने आपमे अपना सत्य आराम कर। अपने आपमे निराकुलताका अनुभव कर। निराकुल स्वभावमे दृष्टि जायगी तो निराकुलता मिलेगी और आकुलताकी प्रकृति वाले राग द्वेपादिक विभावोमे दृष्टि जमेगी तो आकुलता मिलेगी। यद्यपि पर्याय असत्य नही है, विभाव पर्याय है वह भी उस कालमे है। लेकिन विभाव पर्यायका आश्रय करके जो मलीनता बनती है वह मलीनता कुरूप है, उसका आदर करने वाला मनुष्य कभी कष्टसे दूर नही हो सकता। अपना अनुभव कर। मै ज्ञानमात्र हूं। मेरेमे ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञानसिवाय अन्य कोई तत्त्व नही है, अपनेको अनुभव कर कि मै ज्ञानसे परिपूर्ण हू, ज्ञान सिवाय मेरेमे और कुछ नही है। अपनेको अनुभव करें कि मै आनन्दमय हू। बनावट, दिखावट, सजावट न कीजिए तो ज्ञानानुभवका सत्य आनन्द अवश्य पाया जा सकता है। हम बाहरकी कल्पनाये तजें और अपने ज्ञानमे अपने आत्माके वैभवको निरखते रहे और तृप्त रहे, ऐसे क्षण बीतें तो निकट कालमे ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

(५५)

बाहरकी कुछ भी घटनासे निजमे कुछ भी उपद्रव नही होता, अज्ञानी खुदमे कल्पनाओके पुष्प-गुच्छ बनाकर कष्टफलको जन्म देता, बाह्य पदार्थसे कुछ सम्बन्ध ही नही, फिर

वहाँ शरण क्या, शरण तो मात्र स्वयं है ।

बाह्य घटनाओसे निजमें उपद्रवकी अशक्यता—लोकमे प्राणी अपने आपके स्वरूप को न जानकर बाहरके पदार्थोसे, उनकी घटनाओसे अपना सम्बन्ध समझते आये है और इस खोटी समझके कारण यह विश्वास किए हुए है कि उन बाहरी पदार्थोकी परिणतिसे मेरेमे सुधार और बिगाड होता है । और ऐसा मानकर जगतके इन पदार्थोमे इष्ट बुद्धि और अनिष्ट बुद्धि करते है, लेकिन जगतके ये बाह्य पदार्थ ये मेरे लिए कुछ भी उपद्रव नही है, इनसे मेरेमे उपद्रव नही आता । इनका काम तो इनके प्रदेशोमे होकर वही समाप्त हो जाता है, फिर किसी बाहरी पदार्थसे मेरेमे उपद्रव कैसे आयगा ? उपद्रव बाहरमे ही है । उपद्रव भीतरी मान्यताका है । भला अपना सब कुछ ही छूट जायगा । यहाँसे कौन जायगा साथ ? जब सब कुछ छूट जाना है तब कितने दिनोके लिए ? मानो इस भवमे १०–५ वर्ष जीवित रहते है तो सारे कालोके सामने १०--५ वर्षकी गिनती क्या है ? थोडेसे समयके लिए स्वभावसे हट कर जो अन्य-अन्य कल्पनाओमे चित्त जमता है बस यह ही हमारे लिए विडम्बना है, बाहरी पदार्थ मेरे लिए विडम्बना नही । वे तो है अपनी सत्तासे । जिस प्रकार रह सकते है सो रहा करते है । तो बाहरमे मेरा उपद्रव नही, बाहरसे उपद्रव नही, किन्तु बाह्यपदार्थोके विषयमे जो कल्पनाये करते है वे उपद्रव है ।

कल्पनापुष्पके ऊपर कष्टफलोकी निष्पत्ति—यह जीव खुद ही अज्ञानवश देखो कल्पना का फूल उगाता अपनेमे । जब कल्पनाके फूल लग गए जीवमे तो फिर फूलके बाद होते है फल । फूलके आधारपर बनता है फल तो कल्पनाके फूलके बाद यहाँ कष्टके फल लगने लगे । जब किसी वर्ष आममे मौर नही आते मायने फूल नही लगते तो फल कहांसे लग जायेंगे ? ऐसे ही जीवमे यदि कल्पनाके फूल नही उगते तो इसको कष्ट कैसे मिल जायेगे ? तो जानना कि हम अपने आपके भीतर कल्पनाये जगाते और दुःखी होते । बाहरके पदार्थोकी किसी प्रकार की घटनासे मेरेमे उपद्रव नही आता । तब बाहरी पदार्थोका शरण मानकर उन पदार्थोकी ओर ही आकर्षित रहते है, यह तो विवेक नही है । वहाँ कुछ शरण नही है । शरण तो अपने आपमे अपने स्वभावका दर्शन है । देखो इस जीवपर थोडा मैल नही लगा । बहुत मैल का बोझ है और वह बोझ केवल एक रूपमे चल रहा है क्या कि परपदार्थको अपना कुछ समझना, सुख साता पानेके लिए स्वरूपका सच्चा ज्ञान और दो पदार्थोके बीच भेदविज्ञान होना । जहाँ ज्ञान जगा, मै जुदा, कर्मफल जुदा वहाँ यह जीव अन्य तत्त्वोके रूपमे कैसे अपना परिणमन बनायगा ? तो मोटी बात दो तीन कही जा रही है कि बाहरकी घटनाओसे मुझमे कुछ भी उपद्रव नही आता, किन्तु अपने आपमे कल्पनायें बनाता है, बाहरी पदार्थोमे उपयोग

जोड़ता है, ममता लगाता है और दुःखी होता है। इन मनुष्योसे माना हुआ सुख इतना ही तो है कि कुछ लोग कह दें कि यह बहुत समझदार है, बहुत विशेष धनवान है, सो यह कल्पनामात्र है तो कल्पना न करें और सुखी हों, यह ही उपाय है। कल्पनायें न करें– इसका उपाय क्या ? मेरा किसीसे कुछ सम्बन्ध नही है, ऐसा ज्ञान करें। किसीसे कुछ सम्बन्ध नही है ऐसा ज्ञान करनेका उपाय क्या ? प्रत्येक वस्तु का सही स्वरूप जान लें।

असाधारण और साधारण गुणोके परिचयमे भेदविज्ञानका प्रकाश—देखो भेदविज्ञानमे मदद देता है वस्तुका असाधारण गुण। जैसे चेतनमे है ज्ञान, दर्शन आदि गुण, पुद्‌गलमे रूप, रस आदिक गुण। तो इन गुणोकी जानकारीसे एक द्रव्यका अन्य द्रव्यसे परस्पर भेद है ऐसा समझमे आता। सो असाधारण गुणसे भेदविज्ञान होता है, यह तो बात है ही, मगर ६ साधारण गुणोका भी कोई बढिया मनन करें तो भेदविज्ञानका मूल परिचय बन जाता है। कैसे ? पदार्थ है, और हर एक पदार्थ अपने स्वरूपसे है, परस्वरूपसे नही है। लो वस्तुत्व नामक गुणने भेदविज्ञान ही तो करा दिया। अपने स्वरूपसे है, परस्वरूपसे नही है। भेदविज्ञानके लिए और क्या बात समझनी होती है। फिर पदार्थ है तो परिणमता है। व्यक्त गुण हो गया, पर प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपमे परिणमता, परस्वरूपसे नही परिणमता, भेदविज्ञान बन गया। ६ साधारण गुणोके वर्णनके सम्बन्धमे कोई विशिष्ट बात नही कही जा रही है, फिर भी भेदविज्ञानके लिए ६ साधारण गुणोका स्वरूप भी समर्थ हो जाता है। फिर असाधारण गुणोका किसीको परिचय हो जाय तो वहाँ तो भेदविज्ञान है ही। फिर प्रदेशत्वगुण आया। प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान है, लेकिन इसमे भी भेदविज्ञान विदित हुआ। प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान है, लो इसमे भी भेदविज्ञान विदित हुआ। प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान है। तो कोई दूसरेके प्रदेश वाला है क्या ? सब अपने-अपने प्रदेश वाले है। जब यह निर्णय हो गया तो एक पदार्थका दूसरे पदार्थमे सम्बन्ध माननेकी गुञ्जाइश कहाँ रहती है ? तो यो पदार्थमे भेदका ज्ञान करें और जो अनात्म तत्त्व है उससे हटकर जो शरण्य है आत्मतत्त्व उसमे प्रीति करें, यही उपद्रवोसे दूर होनेका उपाय है।

(५६)

बाहरी बातकी उपेक्षा करो, आत्माके हिताहितकी बातको महत्त्व दो, निरपेक्ष सहजसिद्ध स्वरूपकी उपासनाके प्रसादसे अन्तः प्रसन्न रहो, प्रतिकूल चेष्टा करने वालेको दयापात्र समझकर उनको सद्‌बुद्धिका आशीर्वाद दो।

आत्माके हित अहितकी बातको महत्त्व आकनेमे लाभ—अब जीवकी एक आदतकी

बात और सुनो–जीवोंकी आदत, मनुष्योंकी आदत है कि बाहरी पदार्थोंकी चर्चा करना, उसका विस्तार बनाना, बाहरी बातोंके व्यवहारमे रहना, एक यह आदत रहा करती है। जो वास्तविक बात, कामकी बात, प्रयोजनकी बात है कि आत्माकी चर्चा करना सो आत्माकी चर्चामे तो यह जीव महत्त्व नही देता और उसका उदाहरण बताओ। आत्माकी बात जहाँ सुनाई जा रही हो वहाँ नींद क्यो आती ? और अभी लश्करकी या अन्य किसी जगहकी कुछ बात छिड जाय तो कान खडे क्यो हो जाते ? यह आदत यह सिद्ध कर रही है कि इस जीवको बाहरी पदार्थोंकी घटनाका तो महत्त्व मनमे समाया है और अपने आपके द्रव्य, गुण, पर्याय आदिककी चर्चाका महत्त्व इसके चित्तमे नही है, लेकिन अपनी समझ न भी बन सकी हो तो भी बाहरी पदार्थोंकी घटना बतायें, उसकी अपेक्षा आत्माके हित अहितकी बात बतायें करे तो वह इस जीवको लाभ करेगा और आत्महितकी बात तो गौण, है ही नही। और बाहरी पदार्थोंकी चर्चायें है, तो वहाँ जीवको हित न मिलेगा। महत्त्व किसे देना ? जिसके लगावसे, जिसकी दृष्टिसे जीवको अतरगमे प्रसन्नता आ जाय। प्रसन्नता कब आती ? जब निर्मलता आये। आकाश निर्मल है तो प्रसन्न भी दिख रहा। तो प्रसन्नता है तब स्वयके लिए स्वय अपने सहजस्वरूपकी उपासना करें और उसके प्रसादसे भीतरमे वास्तविक प्रसन्नता जगे, वह है वास्तविक प्रसन्नता। जहाँ निर्मलता आये बस वही अपने लिए प्रमाण है। एकीभाव स्तोत्रमे पूज्यवाद मुनिराजने स्तवन करते करते एक जगह कहा कि मैने जो घोर दुःख सहे ससारमे रुल रुलकर उनकी अगर याद आये तो रोना आ जाय। अब इस मनुष्यको याद आती है अपनी अभीसे दो चार वर्ष पहलेकी बातें, जो कोई ज्यादा विकट घटनायें नही है, इसमे अनगिनत गुणे दुःख तो पूर्वभवमे मिले। यहाँ तो मौजका दुःख है। कल्पना किया और दुःख है। जैसे जब कोई बालक गृहस्थ बन जाता तो कुछ समय बाद पत्नीसे कुछ विशेष चर्चा सम्बन्धके बाद उसे मातामे दोष दिखने लगते है। जब कभी सास बहूमे झगडा होता है तो उस प्रसगमे पति अपनी स्त्रीका पक्ष ले लेता है और मातामे दोष दखने लगता है। तो कल्पनायें करके दुःख बनाया, तो इस भवमे कल्पनाका दुःख बनाया। देखो इससे अनगिनते, दुःख पूर्वभवमे थे, उनकी आज सुध नही। यदि उनकी सुध हो जाय तो शस्त्रके समान इस जीवको वेदना उत्पन्न करेंगे, ऐसे घोर दुःख सहे। अच्छा तो अब क्या करना चाहिए इस बारमे ? क्या कहे इस विषयमे ? तो हे भगवन् ! आप ही प्रमाण है याने हमे क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर मिलता है आपके पूर्वकृत कर्तव्यसे। जो आज भगवान हुए है उन्होने मनुष्यभवमे मुनि अवस्थामे क्या साधना बनायी, जिसके प्रसादसे भगवान हुए, बस यही साधन हमको इष्ट है। एक बात, दूसरी बात– हमने क्या दुःख सहे, क्या दुःख सहेगे, इसे हम क्या जानें ? इसमे तो

भगवान आप ही प्रमाण है ।

बाह्य घटनाओंकी उपेक्षा कर प्रतिकूल चेष्टा करने वालोंको सद्बुद्धिका आशीर्वाद देकर आत्महितकी लगन करनेका कर्तव्य—लौकिक जनोकी यह आदत होती है कि थोडीसी अगुली पकड पाये कि वह पहुचा पकड़नेकी सोचता है । तो ऐसे ही यहाँ कुछ थोडा ही कही सम्पर्क बना कि रागमे राग बढकर वह सारे उपयोगमे छा जाता है । अपने को कोई मना सके तो मना ले, पर यह भी बडा कठिन पड रहा है । हम अपने आपको ही नही मना पाते । जब जो दिमाग बना, जब जो बुद्धि बनी तब उसके हा हाथ समर्पित हो जाते है । तो इस जगतमे बाहरमें क्या होता, उन घटनावोमे महत्त्व न दें, किन्तु महत्त्व दें अपने हित और अहितकी बातमे कि मेरा हित किसमें है और अहित किसमे है ? बाहर जो हो रहा है उस की उपेक्षा करें और अपने हित और अहित भावके लिए दृष्टि दें कि कैसा कर्तव्य निभानेमे हित है ? तो जब समझ लिया जायगा कि स्वयका स्वरूप निरपेक्ष सहज भाव है और उस का आश्रय बनेगा तो भीतरमे निर्मलता प्रकट हो जाता है । तब क्या करना ? बाहरकी घट-नायें भी, बाहरकी बात भी प्रतिकूल जंचती, तब ऐसा करें कि जो भी खिलाफ प्रतिकूल कोई चेष्टा करता हो तो समझ लो कि यह दयाका पात्र है । सो प्रतिकूल चेष्टावान् जीवको दया पात्र जानकर उनको सद्बुद्धिका आशीर्वाद दें । किसी प्रतिक्रियाका आरम्भ नही । तो यह आदत चाहिए कि अपना महत्त्व दे अपने हित और अहितपर । मेरी भलाई किसमे है उसको तो दें महत्त्व और मेरा बुरा किसमे है उसको भूल जायें । यह काम पड़ा है मुख्य इस मनुष्य-भवमे, न कि दूसरेकी सभाल या कुछ भी करना । यह काम नही पडा । यद्यपि ये काम होते, मगर उनके उपादानमे उनके काम होते । तो ऐसा उनके समता परिणाम जगे और यह अधिकसे अधिक ध्यान रहे कि जिसमे मेरा हित है सो मुझे करना और मेरा जिसमे अहित है सो मुझे नही नही करना ।

(५७)

मैं ज्ञानमात्र हूं, क्यो न मै अपने ज्ञानस्वरूपमे ही मग्न हो जाऊँ ? ज्ञानमग्नतासे समस्त मानसिक सकट व शारीरिक क्लेश समाप्त हो जाते है, ज्ञानमग्नता ही मेरी रक्षण और पोषण करने वाली सच्ची माता है ।

ज्ञानस्वरूपमे मग्न होनेकी भावना—सब देखा, परखा, बाहरकी घटनाओको जाना, सब असार है, बेकार है, ऐसी खूब समझ बनी । दर-दर ठोकरें खानी पडी, उन सबके अनु-भवके बाद चित्त व्यवस्थित बना कि मै ज्ञानमात्र हू, और मैं इस ज्ञानमात्र स्वरूपमे मग्न होऊँ तो कष्टका नाम नही और एक उमंग होती, जिसमे ज्ञानमात्र निज तत्त्वको पहिचाना

कि जब मै ज्ञानमात्र हू, ज्ञानका ही व्यापार कर सकता हू, ज्ञानका ही कर्तृत्व है, जाननेका ही भोक्तृत्व है। जब ऐसा अपनेको ज्ञानमात्र समझ लिया तो अब ज्ञानीके यह उमग जगती है कि क्यों न मै अपने इस ज्ञानस्वरूपमे प्रवेश पाऊँ ? तब अपने आपके ज्ञानमे ज्ञान समा जाता है, जानने वाला ज्ञान, जाननेमें आया सम्यग्ज्ञान। ज्ञानमे ज्ञानका जब आकार आया तो वह स्वच्छ ही तो हुआ। एक सामने बिल्कुल स्वच्छ दर्पण हो, जरा भी मलिन न हो और उसके सामने दूसरा दर्पण हो तो एक दर्पणमे क्या चीज झलकी ? दर्पणमे दर्पण झलका। आखिर दर्पण स्वच्छ है, कान्तिमान है, फिर भी है तो पदार्थ। तो दर्पणमे जब कोई दर्पण झलकता है तो दर्पणमे कुछ नई चीज मालूम पडती क्या ? कुछ नहीं। न झलकने जैसी स्थिति रहती है। यह तो भिन्न दर्पणकी बात कही, किन्तु खुदके दर्पणमे खुदकी भी तो झलक है वह कैसा ? ऐसे ही जब ज्ञानमे अपना ज्ञानस्वरूप झलका तो ज्ञानने कुछ नया काम किया क्या देखनेमे ? नही किया। ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाये, यह है अपनी प्रगतिके साधनका मूल उपाय।

ज्ञानस्वरूपमे मग्न होनेके पौरुषसे संकटोंका समापन—जब मैं ज्ञानमात्र हू तो क्यो न अपने इस ज्ञानमात्र स्वरूपमे मग्न हो जाऊ ? ऐसा जिसके विश्वास है और प्रयोग है, उस ज्ञानस्वरूपमे मग्न होनेका जिनके पौरुष है उन पुरुषोके समस्त क्लेश, चाहे वे मानसिक हो, चाहे वाचनिक हो, चाहे शारीरिक हो। किसी भी प्रकारका संकट वहाँ नही ठहरता जब कि ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाया हुआ हो, क्योकि कष्ट तो मिलता है ज्ञानके किसी प्रकारके परिणमनसे। अब ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाये तो अन्य वस्तुओके परिणमनका तो वहाँ ख्याल भी नही है, विकल्प भी नही। जब ये सारे सकट स्वयमेव समाप्त हो जाते है तब निश्चयतः अपने आपमे अपने ज्ञानस्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण बनता है। तो अब ध्यानमे आया—मेरी रक्षा किसमे है ? ज्ञानमग्नता हो उसमे है और उसका पोषण किससे हो ? ज्ञानमग्नता हो उसका हो पौरुष हो। तो देखो जो रक्षा करे, जो पोषण करे, ऐसा कौनसा है निष्कपट जीव ? माता। माता बच्चेकी रक्षा करती है और बच्चेको पुष्ट करनेका उपाय बनाती है। तो ऐसे इस मुझ आत्माकी कौन रक्षा करेगा और कौन इस मुझ आत्माको निर्मल रखेगा, वह है ज्ञानमग्नता। तो मेरी माता है ज्ञानमग्नता। जो मेरी रक्षा करती है और मेरा पोषण करती है। ज्ञानमग्नताकी अपनेको धुन होनी चाहिए और बाहरी घटनाओंकी उपेक्षा कर देनी चाहिए।

कष्टका कारण बाह्यमे उपयोग जोड़ना—जीवका उपयोग लक्षण है। उपयोग जीव का स्वरूप है। सो उपयोगका जो परिणमन होता है उस परिणमनमे हम तीन प्रकारकी

कलाये पाते है, जिसमे हम जानते है कि जीवमे विश्वास करना, ज्ञान करना और कही न कही लीन होना, मग्न होना, लगना, ये तीन बाते प्रत्येक जीवमे पायी जाती है। उसमे जो जानता हो, जिसमे विश्वास हो वही तो लीन होगा। तो मग्न होनेकी बात कहनेमे तीनो बातें सिद्ध हो जाती है। कोई ससारी प्राणी विपयोमे मग्न होता है तो उसके मायने यह है कि विषयोमे उसको श्रद्धा है सुख मिलनेके आराम पानेके, और विपयोका ज्ञान है तब ही तो वह विषयोमे लगता। तो जहाँ लगनेकी बात कही जाय वहाँ तीन बातें सिद्ध हो जाती है कि इसके विश्वास है, ज्ञान है तब यह लग रहा है। तो अब यहाँ तीसरी ही बातपर विचार करें। दो तो अपने आप आ जाती है। यह जीव कही न कही लगता है, मग्न होता है, तो कहाँ मग्न होवे कि जीवको सुख शान्ति मिले और कहाँ मग्न होवे कि जीवको अशान्ति मिले ? सो अशान्तिका अनुभव तो सबको है। बाह्य पदार्थोमे विश्वास बनाया, इन विपयो का परिचय बनाया और इन विपयोमे उपयोग लगाया तो इसको अशान्ति मिलती है और अशान्तिका मूल कारण यह हो गया कि उपयोग तो है जीवके आधारकी बात। विकार किस का ? जीवका। उपयोग किसके प्रदेशमे ? जीवके प्रदेशमे। तो विकारका सम्बन्ध तो है जीव के साथ, मगर इस विकारने अपने व्यापारसे सम्बन्ध बनाया है परके साथ। तो हो तो कुछ और बने कुछ तो वहाँ आपत्ति आती है। उपयोग तो है जीवकी चीज और यह बनता है बाहरमे, तो इसको दु ख क्यो न होगा ? तो यहाँ वह विवेक करना है कि जब मै उपयोग मात्र हू, ज्ञानमात्र हू और यह आधार हमारा पुष्ट है, मेरा ही तो स्वरूप है उपयोग तो फिर मै क्यो न अपनेमे मग्न होऊँ ? तो फिर क्यो मै बाहरमे उपयोग लगानेका सोच विचार करने का कष्ट करूँ ? यह विवेक जिसके जगा है वह ससारसकटोसे दूर हो जायगा। मै हू ज्ञान-मात्र, मेरा ज्ञानाधार कभी छूटता नही। असलियत तो यह है और कषायवश, मिथ्या श्रद्धान-वश यह उपयोग द्वारा, सोचने द्वारा, कल्पनाओ द्वारा अभिमुख होता है, पर यह जो विषमता है, यह जो बेढगी बात चल रही है इससे जीवको कष्ट होता है। जब ऐसी बात है तब मै क्यो परपदार्थोके अभिमुख होऊँ ? मै तो अपने ज्ञानमे मग्न होऊँगा, ऐसा एक अपना दृढ भाव होना चाहिए। ज्ञानमे मग्न होनेसे लाभ क्या है ? ज्ञानमग्नतासे सारे मानसिक सकट दूर हो जाते है।

सकटोका आधार बनावट—मनमे जो सकट आते हे उनका आधार क्या ? जीवमे तो सकटका स्वभाव नही, परपदार्थोसे सकट आते नही। तो बस यही स्थिति है कि है तो कुछ और बनता कुछ। बस इससे सकट आते है। लोकमे भी तो यही देखा जाता है। कोई बड़ा पुरुष है और तुच्छ बने तो सकट और कोई तुच्छ पुरुष है वह बड़ेपनका बाना बनाये तो

सकट। यह एक लौकिक बात कह रहे है, किन्तु आत्मामे तो एक अपूर्व ही बात है। है तो यह ज्ञानस्वरूप, पवित्र है, पूज्य है। है तो यह बड़े उत्कृष्ट चैतन्यकुलका और बनता फिरता है यह अचेतन। चैतन्यकुलका होकर भी यह अचेतनका बनना चाहता है। तब शान्तिकी आशा कैसे हो सकती है ? तो अचेतनता न बने, अपने ही ज्ञानमे मग्न होनेका पौरुष करे तो इस ज्ञानमग्नताके पौरुषसे मनके सकट सब दूर हो जाते है। सकट क्या है ? अहकारका और ममकारका। यह मैं हू, यह मेरा है, यह भाव चित्तमे आये तो, पासमे आये तो सकट मान रहा और न मिलता हो तो सकट मान रहा। तो ये सकट कैसे दूर हो ? बाह्य वैभव मिलनेसे सकट मिट जायेगे क्या ? नही मिटेंगे। अरे ये तो ज्ञानमग्नतासे सकट मिटेंगे। जिस कालमे यह दृढ परिचय हो जाय कि मै ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानसिवाय मेरा कही कुछ नही है। मै तो ज्ञान इस ज्ञानस्वभावमे हो मग्न होऊँगा। इसके अतिरिक्त मेरा कोई प्रोग्राम नही। जिसे कहते है प्रधान प्रोग्राम। तो ज्ञानमग्नताकी बात आये तो सारे मानसिक सकट दूर हो जाते है और मानसिक सकट ही दूर नही, किन्तु शारीरिक क्लेश भी समाप्त हो जाते है। देखो जब कोई शरीरमे रोग है, फोडा फुसी या अन्य कोई बात है और शरीरपर दृष्टि हो, शरीरकी ओर ही झुक रहा हो, यह जीव शरीरमे ही मग्न होना चाहता हो तो उसका रोग कई गुना हो जाता है, वेदना कई गुणी हो जाती है, कष्ट सहा नही जाता है और जहाँ समझा कि यह तो शरीरकी बात है, शरीरका परिणमन है, मै तो शरीरसे निराला हू, केवल एक प्रतिभासमात्र, अमूर्त, अमूर्तमे फोडा फुन्सी नही, रोग नही, रूप रस, गध स्पर्श नही ऐसा यह मै ज्ञानमात्र हू, ऐसा अनुभव करने पर और ऐसा ही उपयोग बनाने पर सारे क्लेश भी दूर हो जाते हैं। सर्वसकटोसे दूर होनेकी भावना हो तो ज्ञानस्वरूपको जाने और ज्ञान-स्वरूपमे मग्न होवे, यह ही एकमात्र उपाय है, दूसरा और कोई उपाय नही। बाकी उपाय तो सब बनावटी है, दवारूप है। थोडी देरको उपयोग बदल गया, दब गया, पर मूलत उप-द्रव नही मिटता।

ज्ञानमग्नतामें सच्चे मातृत्वका दर्शन—देखो ज्ञानमग्नता यह ही हमारी रक्षा करने वाली चीज है और ज्ञानमग्नता यह ही मेरे आनन्दको पुष्ट करने वाली चीज है। तब हमारी सच्ची माता ज्ञानमग्नता है। माँ मे दोनो गुण होते है, पुत्रकी रक्षा करे, पुत्रका पालन करे। रक्षाके मायने तो यह है कि कोई सकट आ जाय, कोई उपद्रव आ जाय तो संकट और उपद्रवोसे बचा सके। रक्षा तो एक विशेष समयकी घटना है और पोषण यह निरन्तरकी घटना है। रक्षाका प्रसंग तो होता है सकटके समय और पोषणका प्रसग रहता है प्रतिसमय। हमको तो दोनो ही बाते चाहिएँ। जब विषय कषाय और उपयोग—इनका

आक्रमण होता है तो हम बेचैन हो जाते है तो उस आक्रमणसे हमारी रक्षा होनी चाहिए। इस रक्षाको यह ज्ञान ही कर सकेगा। ज्ञानका स्वरूप जाने और ज्ञानमे मग्न होनेका पौरुष बनाये तो हमारी रक्षा हो सकती है। और पोषणकी बात याने सर्वत्र हम सहज आनन्दको अनुभव करते हुए तृप्त रहे, पुष्ट रहे, यह कहलाता है पोषण तो यह पोषण भी कौन कर सकता ? ज्ञानमग्न ही कर सकता है। तो वास्तविक तथ्य तो यह है, पर हॉ प्रस्ताव तो बन गया, जानकारी तो बन गई, प्रोगाम तो बन गया। अब जरा ऐसा करनेके लिए चलें तो सही कि जब ज्ञानमग्नताके लिए हम पौरुष करने चलते है। अनेक बाधायें बीचमे आती है, वासना उमड पडती, आती है, कषाये जग जाती है, हम ज्ञानमग्नतामे निश्चित प्रोग्राममे सफल नही हो पाते, तब क्या करना ? बस उसी समयकी यह क्रिया कहलाती है व्यवहार धर्म। कषायें उछलती है तो उपयोग बदलें, प्रभुभक्ति करे, स्वाध्याय करें, गुरुभक्ति करें, सयम रखे, तपश्चरण करें। यह तन, मन, वचनकी क्रिया यह ही हमारे आनन्दमे बाधक बनती है। इसका सयम बनावें। तो जब हम ज्ञानमग्नताके कार्यके लिए प्रेक्टिकल बात बनाने को चलते है तब पता पडता है कि किसका कितना मूल्य है ? किसकी कितनी सामर्थ्य है और केवल प्रस्ताव ही प्रस्ताव करके कोई गप्प ही गप्प बनाकर चले, प्रेक्टिकल करनेका भाव ही न आये कि मुझे ज्ञानमग्न होना, स्वरूपमग्न होना। प्रेक्टिकल प्रयोगकी बात न करें तो उसके लिए गप्प करना बहुत सुगम रहता है। मुखसे ही तो बोलना है। तो बोलना होता है सरल और उसका प्रायोगिक रूप देना होता है कठिन। प्रायोगिक रूप जब देना होता है तो सब बातोका पता पडता है कि हमको क्या क्या करना चाहिए ? महापुरुषोके चरित्र पढना चाहिए ताकि भीतर उमग रहे कि ऐसा हो सकता है। जिस पथसे महापुरुष चले है उस पथसे चलें तो हम सिद्धि पा सकते है। फिर चरणानुयोगके अनुसार हमे अपने सदाचारकी वृत्ति बनानी चाहिए ताकि पात्र रहे आयें हम कि ज्ञानमग्न हो सकें। हमे न्याय और युक्तिसे वस्तु स्वरूपका सही निर्णय होना चाहिए ताकि हम निःशक होकर ज्ञानस्वरूपमे मग्न हो सके। आत्माका हममे बोध भी चाहिए। आत्माका क्या सहजस्वरूप है, इसका भान रहना चाहिए ताकि ज्ञानमग्न हो सके और ज्ञानमग्न होनेके लिए जो चलना है उसपर क्या बीतती है, क्या परिणाम बनते है, ज्ञानमग्न होनेपर क्या-क्या घटनाये बनती है, कैसे कर्मका क्षय होता है आदिक बाते ये न जाने तो ? एक उसमे पुष्टता रहती है, यह हुई करणानुयोगकी शिक्षा। तो कोई प्रेक्टिकलमे चले स्वानुभवके लिए, ज्ञानमग्न होनेके लिए तो उसे सब निर्णय होगा और केवल गप्प मारकर कोई रहे तो उसे पता नही पडता। जैसे रामचरित्रमे लोग कहते है कि जब राम रावणसे युद्ध करने चले तो रास्तेमे पड़ा समुद्र तो बदरोने समुद्रको लॉघ दिया।

अच्छा अब उसीपर एक शिक्षाकी बात लो, बन्दरोने समुद्रको लाँघ लिया तो मान लो थोडी देरको बन्दरोने समुद्र लाँघ लिया तो उन्होने लाँघा ही तो है। समुद्रमे क्या रत्न पडे है इसका परिचय तो लाँघने वाले नही पा सकते। वहाँ क्या रत्न है, इसका परिचय तो जो समुद्रमे डुबकी लगाये, देखे, खोजे, कुछ इच्छा बनाये, कुछ चले वही तो पा सकेगा। तो कोई गप्प करके शास्त्रका एक छोरसे दूसरे छोर तक उल्लघन कर दे और कहे कि हमने लाँघ लिया तो उसे अपने अन्तरका पता तो न पडेगा कि क्या होता है, कैसे समता आती है, क्या अनुभव जगता है, क्या आनन्द होता ? इन रत्नोका पता नही पड सकता। इनका पता वही पाड सकेगा जो इस ज्ञानसागरमे डुबकी लगाये, प्रयोग बनाये और उसे जब यह भी ज्ञान होगा कि मुझे और क्या-क्या तैयारी चाहिए ? तो ज्ञानमग्नता ही एक ऐसी पवित्र परिणति है कि वही आत्माकी रक्षा करती है, वही आत्माका पोषण करती है। तो हमारी सच्ची साता यह ज्ञानमग्नता ही है।

(५८)

अहो, कैसी नादानी, मतलब तो कुछ नही, व्यर्थ बाहर उपयोग जोडकर दु खी होते, अपनेमे अपने उपयोगको समाकर, समरस होकर क्लेशप्रक्षय करनेकी सच्ची शूरता करो। प्रभु को निरख, खुदको परख, अन्तर कहाँ, खुदमे समा और कृतार्थ हो जा।

संसारी जीवकी नादानी—जिस पुरुषने विवेक करके ज्ञानमग्नताका कुछ आनन्द उठाया वह पुरुष जब ज्ञानमग्नतामे टिक नही पा रहा, पूर्वबद्ध कर्मका ऐसा ही अनुभाग उपयोगमे प्रतिफलित हुआ कि जहाँ ज्ञानबलकी ओरसे ढीला पड जाने वाला पुरुष उस मलिनता का अनुभव करता है, वह पुरुष अपने आपपर पछतावाकी बात करता है। अहो कैसी है यह नादानी ? हो क्या रहा है उस उपयोगमे जो अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी ओर अभिमुखता नही है। उपयोग बाहर ही बाहर भटक रहा है। वहाँ क्या हो रहा है ? देखो जहाँ भटक रहा है, जिन पदार्थोमे उपयोग जुड रहा है वहाँ मतलब तो कुछ है नही, व्यर्थ ही बाहर-बाहर उपयोग जोडा जा रहा है। फल क्या होता है कि उसमे केवल दु ख ही दुःख मिलता है। तो यह मूर्खता है ना, नादानी है ना है। है तो ज्ञानानन्दमय, है तो अपने स्वरूपमे घन और मान रहा सोच रहा बाहर-बाहरकी बातोमे अपना सम्बन्ध तो ऐसी मान्यता जहाँ बसी हो वहाँ दु ख होना प्राकृतिक बात है। अच्छा दु खी हुआ, बाहरमे उपयोग जोडा, नादानी की तो तो इसमे भी कुछ पौरुष तो किया उसने ? अरे वह पौरुष नही है, वह तो कायरता है।

विषयोके परिहारमे शूरता—विषयोका भोगना कायरता है, शूरता नही है। विषयो का तजना शूरता है। अनादिसे जब ऐसी अज्ञान-वासना लगी और ऐसा ही संस्कार चला

आ रहा। किसीमे मोह करना, विषयोमे लगना ये बातें इसको ऐसी सरल हो गईं और वहाँ यह अपनेको कायर बना लिया। विषयभोगोके प्रसगमे ज्ञानका जागरण किसीके नही होता? पञ्चेन्द्रियके किसी भी विषयसे लगे कोई तो वहाँ ज्ञानबल किसीका उदित नहीं होता और न शूरता प्रकट होती। शूरता विषयोमे लगनेमे नही, किन्तु विषयोके छोडनेमे है। बडे-बडे शूर-वीर बहादुर राजा महाराजा, जिन्होने बडे-बडे भोगोको पाया, आखिर उन्होंने सर्वसाधन भोग छोडे और अपने आपके स्वरूपकी आराधनामे लगे, यह है उनकी शूर वीरता। सो उन्होने अपनेमे अपने उपयोगको समा डाला। उपयोग क्या है? ज्ञानका व्यापार। उस ज्ञानके व्यापारका विषय यही ज्ञानस्वरूप बना, जिसकी कणिका हे ज्ञानव्यापार। ज्ञानपर्याय, ज्ञान-स्वभाव, ज्ञेय होना, यह ही है सच्ची शूरता। भोग तजना शूरोका काम, भोग भोगना बडा आसान। दुबले पतले कुछ गदे भिखारी, कुत्ता, गधा, सूकर, बन्दर, कबूतर आदिक इन्द्रियके विषयोको भोगनेमे लग जाते है। वहाँ शूर-वीरता क्या है? यह तो जीवोकी तुच्छ प्रकृति है। शूरता है इन्द्रियविषयोका उपयोग छोडकर अपने ज्ञानस्वभावका उपयोग बनाये और उसमे स्थिर रहे। तो बाहर उपयोगको भटकानेकी नादानीको छोडें और अपनेमें अपने उप-योगको समाकर समरस बननेकी सच्ची शूरता करें, ऐसा जो शूर है उसमे दुःखका निशान भी नही रहता। दुःख है क्या? दुःख है कहाँ? दुःख है ज्ञानमे उठने वाली एक कल्पनामे ऐसा अधीर विवश हो जाना कि वह विह्वल हो जाता, अन्यत्र और कही दुःख नही। तो जब दुःखकी उत्पत्तिकी कुञ्जी समझ ली तो बस यही बदल करें, यही परिवर्तन करें, इस उपयोग मे ऐसा ज्ञानप्रकाश लावें कि यह ऐसी पराभिमुखता न कर सके, फिर उसके दुःख न रहेगा।

प्रभुको निरखने और अपनेको परखनेका प्रभाव—अच्छा दुःखरहित बननेके लिए कुछ अन्तरङ्गमे भी परखें, अपने प्रभुको परखें और कार्यसमयसार परमात्माको निरखें। निरख और परख—इन दो बातोमे थोडा ही अन्तर है। निरखसे परख अतरग है प्रभुका, अरहत सिद्ध प्रभुके स्वरूपकी परख न करना, किन्तु निरख करना है। देखा, जाना और फिर वहाँ जो कुछ समझा उससे जो स्वभाव माना देखा उसकी परख करे अपनेमे, यह ही तो मैं हूं। तो प्रभुके स्वरूपको देखें, अपने स्वभावको परखें तब विदित होगा कि अन्तर है कहाँ? वही वहाँ, वही यहाँ। एक सत्त्वका तो भेद है। वह सत् पदार्थ जुदा है, मै सत् पदार्थ जुदा हूं, मगर स्वरूपदृष्टिसे तो एक कहा जायगा। यह एक व्यक्त रूप संख्याकी बात नही। सख्या शुरू होती है एकसे। एकसे सख्या शुरू नही होती। केवल एक ही क्या सख्या है? जब दो से प्रारम्भ कर सकते हैं तो सख्याका आधार तो है एक-एक, मगर एक स्वयं सख्या नहीं। पर दो आदिक सख्याका आधार होनेसे एक भी उपचारसे सख्या मानी गई है, एक तो एक

है। और इसी कारण कोषमे एकका अर्थ समान ही है। गणनाका एक और समान दोनो ही अर्थ एकके होते है। कही गेहूका ढेर लगा है तो वहाँ कोई भाव पूछे तो वहाँ यह ही तो कहता है कि यह गेहू किस भाव दिया ? कोई यह तो नही कहता कि ये अरबो खरबो गेहूके दाने किस भावमे दिये ? उसकी गेहूके स्वरूपपर दृष्टि है। स्वरूपत: भी एक है, इसलिए एकवचनका व्यवहार है। प्रभुके स्वरूपको निरखो, अपने स्वरूपको परखो, उसे समझो एक। अन्तर अब रहा कहाँ ? तो अपनी अनादिकालकी नादानी तो मिटाना है तो खुदको परखो, प्रभुको निरखो। खुदको परखो और खुदमे समा जावो, ऐसी जो ज्ञानमग्नता आयगी उस ही मे यह जीव कृतार्थ होगा। जगतके अन्य कामोमे बाह्य पदार्थोमे उपयोग फंसा-फसाकर दौड-दौडकर कोई पुरुष कृतार्थ नही हो सकता है।

(५९)

सबके हितका चिन्तन करना, ज्ञानब्रह्मकी आराधना करना मनका शृङ्गार है, हित मित प्रिय वचन बोलना, प्रभु एव आत्मब्रह्मका स्तवन करना वाणीका शृङ्गार है, निर्बल दुःखी रोगीकी सेवा करना, गुणविकासक तपश्चरण करना तनका शृङ्गार है।

आत्मशृङ्गारसे च्युत प्राणीका बाह्यप्रवर्तनका शृङ्गार करनेका प्रयास—जीवकी सुन्दरता अथवा जीवका वास्तविक शृङ्गार तो सम्यग्ज्ञानका ऐसा विकास होना है कि जिस ज्ञानविकासमे तीन लोक तीनकालवर्ती समस्त पदार्थ प्रतिभासित होते है, लेकिन अनादिसे ही ऐसी अशुद्धता और बद्धता चली आ रही है कि जिससे आत्माका यह सत्य शृङ्गार समाप्त हो गया, और कर्मबन्धन, मलीमसता, अशुद्धता इनके कारण आज यह स्थिति है कि यह जीव तन, मन, वचनसे बधा हुआ है और इससे भी गई-बीती स्थिति है अनेक जीवोकी कि वे केवल तनसे बधे है, मन और वचन भी उनके नही प्राप्त है, तो ऐसी परिस्थितिमे कि जहाँ हम तन, मन, वचनसे बधे हुए है तो अब क्या करे ? वह शृङ्गार प्राप्त नही है जो भगवानको प्राप्त है। लोग तो भगवानका शृङ्गार बाहरी आभूषणोसे करते है, भगवानकी मूर्ति बनाकर मुकुट, कुण्डल, कपडे, धनुष, बाण, बन्शी आदिक अनेक अनेक शृङ्गार बनाकर भगवानका शृङ्गार करते तो लो देख लो पुजारियोके आधीन हो गया है भगवानका शृङ्गार। भगवान तो स्वत:सिद्ध है। भगवान नाम है उत्कृष्ट ज्ञानवानका। जहाँ उत्कृष्ट ज्ञानप्रकाश हुआ है उसे कहते है भगवान, उसका शृङ्गार क्या ? ऐसा अलौकिक, ऐसा अकृत्रिम कि जहाँ शुद्ध ज्ञानका विकास है। सर्वद्रव्योमे सर्वसे उत्कृष्ट एक आत्मतत्त्व ही तो है, अन्य सर्वद्रव्य अचेतन है। एक आत्मामे ऐसी अद्‌भुत शक्ति है, चेतना है कि स्वयको भी परखता और सर्व-वस्तुओको भी मानता है। ऐसा शृङ्गार जिसका लुट गया और लुटा हुआ ससारमे घूम रहा,

ऐसा प्राणी क्या करे अब ? एक यह समस्या सामने आती है। यह जीव घबड़ाकर, अधीर होकर जैसे कि किसीकी निधि लुट जाय तो अधीर होकर अटसट काम करता है। ऐसे ही यह आत्मा इसका शृङ्गार लुटा, निधि लुटी तो यह अटसट जगतमे बाह्य पदार्थोंको अपनाता है और उनकी आधीनता स्वीकार कर लेता है और फिर शरीरसे नाना कुचेष्टायें, नाना प्रकारके दुष्परिणाम जो बने सो करता है यह जीव। क्योकि लुटा पिटा है ना। इसका ज्ञान लुट गया, इसके आनन्द नही है। इसको अपने घरमे रहनेका आश्रय नही मिल रहा। तो यह लुटा-पिटा जीव इन विषयोमे प्रवृत्ति करके अब अपना मन भरता है।

सत्यशृङ्गारसे हटकर बनावटी शृङ्गारमे लगनेकी गरीबी—जैसे कोई धनी पुरुष हो और हो जाय अचानक गरीब, गरीब कोई दूसरा तो नही होता। जब गरीबी आनेको होती है तो आवश्यकता होती है उस द्रव्यकी तो लज्जावश अपने घरका जेवर, सोनेका जेवर खुद नही बेच सकता। शर्म लगती है, खुद नही दूसरेके यहाँ गहने धर सकते, सो दूसरेके हाथ गहने धरवाते है, कितना ही ब्याज लिखा हो, कितना ही बतानेमे हो, कितना ही बुद्धिमान हो आखिर यो लुटते-लुटते सोनेके जेवर भी, चाँदीके जेवर भी बिक गए, अन्य-अन्य बातें भी किया। अन्तमे जब इसको ख्याल हुआ, घरकी खपरियाँ भी बेचनी पडी तो खपरियाँ बेचते समय वह अपने हाथोसे गिनकर दे रहा, कही १०० खपरियोकी जगह ११० खपरियाँ न चली जाये। अरे अपनी बात रखनेके लिए बडे बडे कीमती जेवर भी शानसे न बेच सके और क्या कर रहा ? तो यह जीव जब अपने ज्ञान और आनन्दसे लुट गया तो यह अपने विषयोमे मन भरता है, यह अपना चित्त रमाता है, मगर यह न शोभा है, न शृङ्गार है, न हितका अश है। क्या है मनका शृङ्गार ? क्या है वचनका शृगार ? और क्या है तनका शृङ्गार ? शृङ्गार तो उसे ही कहेगे कि जिसके माध्यमसे यह चलते-चलते अपने असल ज्ञान और आनन्दकी निधि तक पहुच सके। वह क्या है मनका शृङ्गार ? सो सुनिये—

करणीय मनशृङ्गार—सब जीवोके हितका चिन्तन करना बहुत बडा तपश्चरण है यह। ऐसा स्वच्छ हृदय बनना कि जगतमे मेरा कोई विरोधी नही, जगतमे मेरेको कोई अनिष्ट नही। जीव है अनन्त जीव है, सबकी अपनी-अपनी परिणतियाँ है, जैसा जो परिणमता है। कर्मविपाक है आत्मा तो सबका वही समान है जो मेरेमे सो प्रभुमे, जो प्रभुमे सो मेरेमे। अन्तरका कारण बनावट है। अच्छा, हाँ क्या कहा जा रहा है, मनका शृङ्गार है हितचिंतन। हितचिन्तनकी भी अनेक श्रेणियाँ होती है। पहली श्रेणीमे तो यह कि कमसे कम इस जीवनमे तो हमे साता मिले। मेरा आराम, भोजन-व्यवस्था और-और प्रकारकी तकलीफोको दूर करना, पर परमार्थत. हितचिन्तन इसमे है कि यह भाव रहे कि इस जीवकी

दृष्टि ऐसी विशुद्ध रहे इसे अपने सहज अन्तस्तत्त्वका परिचय हो जाय तो व्यर्थमे जो उपयोग भ्रमा-भ्रमा कर कष्ट सह रहे है वे कष्ट दूर हो। तो सब जीवोके हितका चिन्तन करना यह है मनका शृंगार। और किसीके अहितकी बात विचारना—इसका ऐसा अपमान हो, इसका ऐसा तिरस्कार हो, यह इस तरह बरबाद हो, किस तरह इसको मिटाये, कैसे विनाश हो आदिक नाना प्रकारकी खोटी चिन्तनायें करना, यह है मनकी बरबादी। तो यह तो हुई पर-जीवोके प्रति हमारी कैसी परिणति हो, उस समयकी बात। अब निजके प्रति हमारी क्या निजी वृत्ति हो कि जो हमारा शृङ्गार कहलाये, मनका शृंगार कहलाये ? वह है ज्ञानब्रह्मकी आराधना। अपने आपमे अपने आपके स्वरूपका यो चितन रखना कि यह मै एक ज्ञानमात्र हू। विशुद्धका अर्थ परसे निराला, अपने स्वरूपमे रत, अपने सहज स्वभ वरूप यह मै ज्ञानमात्र हू। इसका किसी अन्यसे सम्बध नही, इसका किसी अन्य विषयका विचार करके अपने आपको मलीमस बनाना विवेक नही है। सर्व विचार छूटें, निज ज्ञानस्वरूपका मनन करना यह है मनका शृंगार। और इसके विपरीत अपने आपकी परिणतियोमे आत्मसर्वस्वकी प्रतीति रखना यह है दूषण। मनसे यो विचारना कि मै मनुष्य हू, मै अमुक ग्रामका, अमुक घरका, अमुक धंधे वाला, अमुक पोजीशनका आदिक कुछ भी चिन्तन होवे, यह है दूषण। ऐसे दुश्चिन्तनसे हटना, यह है मनका शृंगार। अब मन सब जीवोमे नही पाया जाता। जितने ससारके जीव है, जिनके मन पाया जाता उनके वचन और तन तो जरूर होता है। इसलिए मनकी बात पहले कही। कह रहे हम सब मनुष्योके लिए, पर मनके शृङ्गारका प्रभाव, वचन और तनके त्याग भी पडता, इसलिए सर्वप्रथम तो अपने मनको विशुद्ध बनाये।

अनुकरणीय वचन शृङ्गार—अब वचनका शृङ्गार देखिये—वचनसे प्रवृत्ति क्या होती ? बोलनेकी। दूसरे जीवोसे कुछ वचनव्यवहार हो तो हितमितप्रिय वचन बोलना, यह है वचनका शृङ्गार। दूसरोका हित हो ऐसे वचन बोले, परिमित व परिमाण लिए हुए हो ऐसे वचन बोलें और प्रिय हो ऐसी वाणी बोलें, यह है वचनका शृङ्गार। तो इसका तो सम्बन्ध दूसरे जीवोके साथ है और अपने साथ होवे सम्बन्ध ऐसे वचनका शृङ्गार क्या है कि प्रभुके गुणोका स्तवन करना, अपने आपके स्वरूपका स्तवन करना, यह है अपने लिए वचन का शृङ्गार। अब उस शृङ्गारके विपरीत कोई प्रवृत्ति करे तो वह वचनका दूषण है। जैसे अहितकारी वचन बोले, अनाप सनाप अधिक वचन बोले, अप्रिय वचन बोले तो दूसरेका तो अहित है, सो ठीक हो भी और न भी हो, मगर खुदका अहित इसमे अवश्य है। जब सक्लेश किया, खोटी भावना हुई, जब ऐसी परिणतियां बनी वचनो द्वारा तो यह है वचनका दूषण। यह तो हुआ परके लिए और खुदके लिए क्या है वचनदूषण ? अपने मुखसे अपनी त री

करना, दूसरेकी निन्दा करना, और और अनाप-सनाप वचन प्रवृत्तियाँ है वे सब वचनके दूषण है। वचनका शृङ्गार है हित मित प्रिय वचन बोलना और अपने और प्रभुके गुणोका स्तवन करना।

परसंगके शृङ्गारसे हटकर विरक्तिरूप तनशृङ्गार होनेमे शोभा—अब तीसरी बात सुनो—तनका शृङ्गार। तनका शृङ्गार तो लोग बहुत प्रकार करते है। कितनी तरहके कपड़े डिजाइन, एक कमीजका कपडा खरीदना हो तो कोई ५ मिनटमे नही ला सकता। कई डिजाइन देखते, कैसी कैसी उसमे सब बातें सभालना, खोजना, कोई नाना डिजाइन भी निकाले, ऐसे ही साडियोका और कपडोका कितनी तरहकी बातें। यह प्रयोजन तो नही रहा कि तन ढाकना है, प्रयोजन रहा तनके शृङ्गारका, और और आभूषणका शृङ्गार, गहनेका शृङ्गार। इससे तो तनको सजाना है, मगर व्यवहार रहे दूसरोके घृणाका, विरोधका, तुच्छताका, ऐसी तनकी क्रिया रहे तो उस शृंगारको पूछता कौन है? शृंगार क्यो किया जाता है? अपनेको खुश करनेके लिए या दूसरोको खुश करनेके लिए? पहले तो इसी समस्याका हल कर लो। एक पुरुष गरीब था और उसकी स्त्री अड गई २०-२५ तोलेके गहने बनवानेके लिए। तो अब वह रोज रोज लडे, खानेके समय ज्यादा बातें होती है, तो वह पुरुष बेचारा परेशान हो गया तो एक दिन कहीसे माँगकर, उधार लाकर २०-२५ तोले सोनेके गहने बनवा दिये, नाककी मक्खी, कानकी ततैया, सिरके मेढक, कमरका सांप आदि जितने जो कुछ गहने होते है वे सब बनवा दिये। अब पति पूछता है कि यह तो सब ठीक बन ही जायगा, मगर एक प्रश्नका उत्तर तो बताओ कि ये गहने जो तुम बनवाती हो तो किसको खुश करनेके लिए बनवाती हो, मुझे खुश करनेके लिए या दुनियाके लोगोको खुश करनेके लिए? देखो बात तो असली यह है कि दुनियाके लोगोको खुश करनेके लिए गहने बनवाये जाते है, मगर ऐसा क्या कोई स्त्री कह सकती है कि मैं इन पडौसी लोगोको खुश करनेके लिए गहने बनवाती हू और है बात यह ही भीतरमे कि पूरा पडौसके लोग खुश हो, पर मुख से कोई न बोल सकेगा।

तो अब वह बेचारी स्त्री चिन्तामे पडी कि क्या उत्तर दे? कुछ विचारकर कहा कि मैं तो तुम्हे खुश करनेके लिए गहने बनवाना चाहती हू। तो फिर पति बोला कि अगर तुम हमे खुश करना चाहती हो तो हम तो इस बातमे खुश थे कि तुम कोई गहने न बनवाती और हमे उधार लेकर कर्जी न बनना पडता। कर्जा लेकर तो तुमने हमे सकटमे डाल दिया, फिर हम कहाँ रहे खुश? तो फिर उस स्त्रीने कहा— अच्छा अब हमे गहने नही बनवाना है। हम तो उसीमे खुश है जिसमे तुम खुश हो। तो तनका जो शृंगार किया जाता है वह

तो विकारका, विभावका समर्थक है । वह कुछ आत्माके उद्धार करनेका सहयोगी नही । तब वास्तविक शृगार क्या है तनका ? निर्बल कमजोर प्राणियोकी सेवा करना—यह है तनका अच्छा शृङ्गार । अच्छा शृगार करके यह ही तो चाहते है कि दुनिया हमको अच्छा कहे । मगर आजके जमानेमे तो सजे-सजाये शृङ्गार करने वाले लोगोको देखकर तो लोग मन ही मन गाली भी दे देते है, उसे भला कोई नही कहता । कहते होगे किसी जमानेमे । आजके जमानेमे कोई पुरुष बडे शृङ्गारसे सजकर आये तो एक तो उसपर आपत्तियाँ आयेगी, दूसरे—कोई भला कहने वाला नही है, और कोई ऐसा सेवाभावी हो कि दीन-दुखियोको सेवा करता हो तो उसकी प्रशसा होती है, और हो या न हो, दूसरेकी सेवा करनेके प्रसगमे भाव विशुद्ध ही होगा, व्यसन और पापोमे न जायगा । तो इसमे आत्माकी रक्षा हो तो हुई । तो तनका वास्तविक शृगार है यह कि दीन-दुखियोकी, निर्बलोकी सेवा करना, यह तो हुई दूसरेके लिए बात । अब खुदके लिए क्या बात होनी चाहिए ? तनके शृगारमे तो खुदके लिए है तपश्चरण की बात, जिस तपश्चरणमे आत्माके गुणोके विकासमे सहयोग मिले, ऐसा जो तनका तपश्चरण है वह है तनका शृगार ।

तनका शृङ्गार तपश्चरण—अभी देखो वह मुनिरूप नही है, आजकल जिसको स्यालिनी ने खाया, शेरनीने भखा, जिसपर सिगडी जलाई गई, जो ठड गर्मी आदिके परीषह सहते रहे ऐसे मुनिराज है नही, मगर उनका चित्र बनाकर कैसा उनके प्रति एक भाव जगता है ? तो देखो यह तनके शृगारकी हो तो बात हुई । शरीरका शृगार, तपश्चरणसे, सयमसे दु:खियोकी सेवासे बनता है । कही शरीरका शृंगार गहनोसे लद जानेसे नही बनता । जहाँ शरीरपर गहने लदाये तो शरीरकी अपवित्रताकी पोल ढाकनेके लिए है । क्या करें ? नाक है, दो छेद है नाकमे । दूरसे देखो तो नाकके भीतरका लोहू, नाककी हड्डी सब दिखाई दे जाती है ।

अब क्या करें बताओ ? इस नाककी घृणा ढाकना है तो फिर नाकको सजा लिया, दो दो पोगरिया । कानमे पहन लिए, अटपट सारा शरीर किसी स्त्रीने या पुरुषने बना लिया, भले ही स्त्री पुरुष समझें कि हमारा शरीर बहुत अच्छा है और पशु पक्षी आदिक जीवोको समझते कि ये तुच्छ जीव है, चार पैरोसे चलते है । कोई पशु भी इस मनुष्यको देखकर क्या सोचते होगे, कैसा अटपट लगता आदमी और आपको पशु अटपट लगते । तो यह शरीरका शृगार कपडेसे नही है, गहनोसे नही है, और और भी बाते कई तरहकी बालोकी कटिगके फैशन । गुजरात प्रान्तमे तो सुननेमे आया कि वहाँ महिलाओके सिरके बाल बांधनेका पाँच-पाँच सौ रुपये तककी फीस पड़ती है । पता नही किस तरहसे सिरके बाल बांधे जाते है नहीं ?

तो यह भी कोई शृंगार है क्या ? जिससे जीवको सतोष हो, तृप्ति हो, आत्माके गुणोपर दृष्टि जाय, ज्ञानमग्नता बने, वह कहलाता है शृंगार। तो भाई तन, मन, वचन इनकी व्यवस्था है, हम आपको पराधीनता है तब इसको किस तरहसे प्रवर्तायें कि हम अपना वास्तविक शृंगार इसको पहिचानें कि निश्चयतः इसी तरहके तन मन, वचनके शृगार है।

मन, वचन, काय व धनादि वैभवसे विविक्त अन्तस्तत्त्वकी दृष्टिमे परम शृङ्गार—अभी तन, मन, वचनके शृगारकी बात जो हुई वह अपनेसे बँधे तन, मन, वचनसे विविक्त होनेकी बात है। अब इसके बाद एक चीज और रहती है धन। तो धनमे शोभा बने, अपनी तो इस तरह नही बनती कि होते हुए भी खुदके लिए भी कजूस, दूसरा दुःखी हो, दूसरी कोई योग्य बात हो, काम हो तब भी एक कृपणता हो, अपने लिए हो, यह भी धनकी शोभा नही। धनको कोई ऐसा जोडता ही रहे, बचाता ही रहे तो उससे कही धन नही बढता, और कोई धनको परोपकारमे व्यय कर रहा तो उसका धन कम नही होता। उसकी शोभा है। दान और भोगमे खावे खिलावे और योग्य कार्योंमे त्याग करे तो यो जो चार चीजे बोली जाती है—तन, मन, धन, वचन। उनका ऐसा सदुपयोग करना कि जिससे अपनेमे कषायभाव न जगे, न जमे और कषायरहित ज्ञानस्वरूपमात्र निज अतस्तत्त्वकी दृष्टि बन सके जो आत्माका सच्चा शृगार है, उस शृगार तक पहुचे है, जिसे लोग कहते है शुद्ध सत्य शिव सुन्दरम्। सत्य के मायने क्या ? जो आत्मा सत्से स्वयं अपने आप होता हो उसकी दृष्टि शृगार है। शिवके मायने क्या ? जो सयमरूप है, आनन्दमय है वह कहलाता है शिव, मायने अपना एक आनन्दमय स्वरूप और सुन्दरके मायने है जो अपने एकत्वको प्राप्त हो। सुन्दर शब्द प्रसिद्ध हो गया है कोई अच्छी बातमे तो अपने लिए अच्छी बात है कि अपनेको अपना कैवल्य याने केवल निजका सहजस्वरूप दृष्टिमे आये तो ऐसा आत्मस्वरूप अपनी दृष्टिमे हो तो यह है वास्तविक शृंगार और इसी शृगारके पोषणके लिए तनका, मनका, वचनका शृगार करना, सो वास्तवमे वह अपनी-अपनी पदवीमे धर्मके पथपर है और पाप बढ़े, व्यसन बढ़े ऐसी तन, मन, वचनकी प्रवृत्ति करना तो वह अपने लिए दूषण है, अनर्थ करने वाला है, जगतमे रुलाने वाला है।

(६०)

मुझमे कष्टकी तो गुजाइश नही और कष्टका बिछाव है, इसमे अपराध किसका ? मुझमे दोषको तो गुजाइश नही और दोषका बिछाव है, इसमे करतब किसका ? मुझमे विकल्पका तो स्वभाव नही और विकल्पका वितान है इसमे आग्रह किसका ?

कष्टरहित निजमे कष्टोके बिछावके कारणका निर्णय—सर्व ओरसे विकल्प हटाकर अपने आपके अन्तरमे दृष्टि करे, मै क्या हू ? जो मै सहज हू, जो मै परके सम्बध बिना हूं

अपने आपके सत्त्वके कारण इन कुछ स्वरूप मैं हू । मैं वह हू, वह स्वरूप क्या है ? चेतना, प्रतिभासमात्र । एक अपने स्वरूपकी ओरसे, ज्ञानकी ओरसे जो जाननवृत्ति चलती है वह विशुद्ध है । उसमे केवल जानन है, उसमे नवीनता नही है, तब फिर बतलावो कष्ट कैसे आया ? मेरे स्वरूपमे कष्टकी गुञ्जाइश नही । स्वरूप देखो केवल प्रतिभासमात्र सर्व जगतसे निराला, जिसका जगतमे कुछ नही है, सर्व अनन्तानन्त जीवोसे अत्यन्त निराला । न प्रदेशका सम्बध, न परिणामनका सम्बध, न गुणका सम्बध, बिल्कुल पृथक् स्वतत्र सत् द्रव्य हू मै । मैं इस जगतसे अत्यन्त निराला हू । ऐसे इस विविक्त चेतनामात्र अन्तस्तत्त्वमे कष्टकी तो गुजाइश है ही नही ।

अब जरा कुछ बाहर देखें तो कष्टका तो इतना बिछाव पडा है भीतरमे, कष्टकी तो गुजाइश नही, और बाहर देखते है तो कष्टका इतना फैलाव पडा हुआ है । यह क्या मामला है ? एक ओर देखते है तो परमात्मस्वरूपवत् विशुद्ध चेतनामात्र स्वरूप हू और जब बाहर की ओर देखते है तो बहुत-बहुत कष्टोका फैलाव चल रहा है । अब जरा देखो इसमे अपराध किसका ? कष्ट पा कौन रहा और स्वरूप कैसा है ? पवित्र अविकार कष्टरहित । तो इस विषमताके होनेमे अपराध किसका ? जब अपराधकी खोज करने चलते है तो इन खोजो की भी एक बडी समस्या बनती है, क्या कहा जाय ? क्या यह कहा जाय कि मेरा अपराध ? मैं जब अपना स्वरूप देखता हू जो वास्तविक स्वरूप है उसका निरखना होता है, तो अपराध उसका जचता नही । मूलमे जो कुछ मैं हू उसको देखना बने तो अपराध मुझे उसका जंचता नही है । तो फिर किसका अपराध कहा जाय ? क्या कर्मका अपराध कहा जाय ? कर्मका अपराध कहें तो कर्म दु.खी हो । जो अपराध करे सो दु.खी हो । कर्म अचेतन है, वह कुछ महसूस करता नही । कैसे कहा जाय कि कर्मका अपराध है ? तो क्या कहा जाय कि दोनो का अपराध है ? अपराध है एक चीज, अपराध है एक परिणमन । अगर यह अपराध दोनोका है तो जैसे मैं दुःखी होता हू वैसे ही कर्मका भी दु.खी होना चाहिए । तो क्या यह कहा जाय कि अपराध किसीका नही, अपराध किसीका नही, यह भी कैसे कहा जाय ? आखिर विडबना बन रही है, मुझमें अनुभव बन रहे है । कैसे कहा जाय कि अपराध किसी का नही ? अच्छा तो किसका अपराध है ? जब इस ओर दृष्टि और निर्णय करते है तो सुनो । अपराध यह मेरा है ? कैसे मेरा है ? अगर कोई पूछता है कि मैं अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे हटकर बाहरके इन विषयभूत उपचरित निमित्तोमे इसने अपना उपयोग फसाया है, इससे अहकार किया है, इससे ममतापरिणाम किया है, बस यह अपराध मेरा है । अच्छा, यदि यह अपराध मेरा है तो फिर यह कभी छूट ही न सकेगा, क्योकि मैं तो खुद ज्ञानसे

चिगता हू, उपचरित निमित्तोमे लगता हू, यह तो मेरा कर्तव्य है ना। तो जो मैं हू सो मेरा वह कैसे मिटेगा ? यह तो चलता रहेगा ? नहीं, न चलेगा। कारण यह है कि वह स्वयं निरपेक्ष होकर अपने आपके सत्त्वके ही कारण अपने ही स्वभावसे यह अपराध मुझमे बन रहा है, क्योंकि पूर्वबद्ध कर्मका अनुभाग खिला और उन पूर्वबद्ध कर्मोंमे यह मलिनता बनी जिसको कि अचेतन होनेके कारण कर्म अनुभव नही कर सकता, लेकिन वह छाया, वह प्रतिफलन, प्रतिबिम्ब मुझमे पडा, क्योंकि मैं उपयोगस्वरूप हू। बस पड़ा और ऐसी योग्यता है कि मै उसको अपनाकर दुःखी होता हू।

कष्टसमापनमे कष्टनिर्माणपद्धतिके निर्णयका महान् सहयोग—ये कष्ट न आयें, इसका सही उपाय क्या है ? सही उपाय यह नही है कि बाहरी पदार्थोंमे से कुछको तो जोड दें, कुछको हटा दें, किसीका सुधार कर दें, किसीका बिगाड कर दें, किसीका राग करें, किसीसे द्वेष करें। ये बाहरकी परिणतियां, ये कष्ट मिटानेके उपाय नही है, किन्तु जहां कष्टका निर्माण हो रहा उस निर्माणकी विधिको सही समझ लें अपने आप कष्टसे निवृत्ति हो जायगी। समझें अतरमे दृष्टि देकर। यह मैं ऐसे उपयोग परिणमन द्वारा अपनेको दुःखी कर रहा हू और ये सब मैं विडम्बनाये बना रहा हू। इस उपयोगको मलीमसताके कारण और यह मलीमसता हुई है कर्मके अनुभाग के प्रतिफलन के कारण। कर्मोदयमे आया है ऐसा है विभावका निर्माण। मैं अपने आपकी ओरसे विकार नही करता। अच्छा यह बात अगर सत्यतासे समझ ली है तो क्या करना ? याने बैठें अपने धाममे, अपने ज्ञानस्वरूपमे अपनी दृष्टि लावे, बस सारे कष्ट नष्ट हो जायेंगे। इस जीवनमे जो अनादिसे फिरते-फिरते बडी दुर्लभतासे आज मनुष्यदेह पाया है तो यह ममता बसानेके लिए। ममता बसानेको तो गधा, ऊंट, घोडा, गाय, भैस, सूकर आदिक सब तैयार है, सब कर रहे है। वही काम यहां हो तो उन पशु पक्षियोमे और अपनेमे अन्तर क्या है ? ये तो ससारमे रुलानेके काम है। यह तो सब महान अधकार है। यहांसे हटकर अपने आपके आनन्दधाम इस चैतन्यप्रकाशमे आये, यहां कष्टका कोई काम नही और स्वरूपमे कष्टकी कोई गुजाइश नही। पर बन जाता है, तो हम अपने सयमसे चिग जाते है कि यह कष्ट मिला। तो कष्ट दूर करनेके लिए बहुत बहुत उपाय करते है लोग। एक यह अनोखा उपाय और करना चाहिए, जिस उपायमे न पराधीनता है, न कोई प्रकारकी विघ्न बाधा है। यह तो अपने ज्ञानसे अपने ज्ञानमे सोचने समझनेकी बात है, इस पर कौन दबाव डालता है ? भले ही कोई घरमे बधनमे डाल दे, कमरेमे बद कर दे, जेलमे बद करदे, शरीरको जकड दे, कुछ भी उत्पात बने बाहरमे, मगर भीतरमे ज्ञान स्वतत्र है। यह ज्ञान अपने ज्ञानद्वारा भीतरके ज्ञानस्वभावको निहारे, इसमे कोई

झंझट नही कर सकता। तो जो कष्टरहित अविकार मेरा स्वरूप है उसको मै अपनाऊँ, फिर मैने वास्तविक विजय प्राप्त कर लिया, इसमे सन्देहकी रच बात नही।

दोषरहितमे भी दोषकी छायाका रहस्य—अच्छा अब इस ही अतस्तत्त्वको निरखकर दोषकी बात उपचरित करे। यद्यपि दोष कष्टरूप है, मगर कष्टमे तो है विषादका अनुभव, दोपसे है मलीमसताका अनुभव। क्रोध, मान, माया, लोभ, विकार नाना प्रकारके जो दोष उत्पन्न होते है उन दोषोका होना क्या मेरा स्वरूप है ? मेरा स्वरूप तो विशुद्ध चैतन्यमात्र, प्रतिभासमात्र है। बस झलक है सब, जानना रहे, ऐसा साधारण जानना कि जिसमे कोई रागद्वेषकी तरग ही नही होती, वह है मेरा स्वभाव। उसमे दोषकी गुञ्जाइश कहाँ ? जब अपने स्वरूपकी विशदता हो, शक्तिसे अपने ही सत्त्वके कारण मेरेमे जो स्वभाव है उसको जब मै निरखता हू, इसमे दोषकी गुञ्जाइश नही, अगर मेरे स्वभावमे दोषकी गुञ्जाइश हो तो वह दोष कभी मिट नही सकेगा। जैसे आत्मामे जाननेकी गुञ्जाइश है, ज्ञानकी गुञ्जाइश है, ज्ञानका स्वरूप ज्ञानका स्वभाव है तो यह ज्ञान क्या कभी मिट सकता ? वह तो स्वरूप है, वह तो स्वभाव है ऐसे ही यदि क्रोधादिक कषाये इनके दोषकी मेरेमे गुञ्जाइश हो तो बडा अनर्थ है। फिर तो यह ही स्वरूप बन जायगा, फिर मेरे स्वभावके दोषकी गुञ्जाइश नही, लेकिन जब बाहर उपयोग दें तो बडा दोपोका ढेर लद रहा, दोषोका बिछाव पड रहा। आचार्य संत समझाते है कि तुम उपयोग किसी पदार्थमे मत डालो, मगर यह तो क्षणभरको भी नही हो पा रहा। यो जैसे कि आचार्य समझाते है, लदी है विडम्बना, सारी ममता अथवा बाहरी पदार्थोके उपयोग। बाहरमे दोपोका बिछाव है, सो यह भी विचार करें कि अपराध किसका है ? उत्तर सब सही है, अपराध न मेरा है, न कर्मका है, न दोनोका और अपराध मेरा है कर्मका नृत्य है। देखो निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय निज सहज शुद्ध स्वभावके दर्शनके लिए होता है। निमित्तनैमित्तिक भाव यह नही कहता कि यह जीवका मोक्ष कर्मने किया, किन्तु वह घटना बताती है पूर्वबद्धकर्मका अनुभाग खिला, उपयोगमे प्रतिफलन हुआ और उसका निमित्त पाकर यह जीव अपने स्वभावसे चिगा और बाहरी उपचरित निमित्तोमे लगा। व्यवहारनय एक घटना बताती है, इस घटनाको सही जानकर हमे मार्ग मिलता है। क्या मार्ग मिलता है ? यहाँ भेद विज्ञान करे, जो कर्मका अनुभाग है वह कर्ममे है। उस कर्मका निमित्त पाकर जो मैने ज्ञानविकल्प द्वारा अनुभव बनाया वह मुझमे है। तो मुझमे ज्ञानविकल्प द्वारा अनुभव तो है। पर यह दोप है कर्मके प्रतिफलन की बात, उसे अपना डाला। जैसे यहाँ भी तो बहुत बाह्यकी बाते देखी जाती है। मतलब नही किसी से और राग बन गया, दुःखी हो गए, तो यहाँ भी भेदविज्ञान करना कि पूर्वबद्ध कर्मका अनु-

भाग मिला, उसका निमित्त पाकर अपनी अनादिकी वासना रीतिके अनुसार यह ज्ञानस्वरूप में चिगा। बाहरी पदार्थोंमें लगा और इसने अपने को बरबाद कर डाला।

विकल्परहितमें भी विकल्पकी छायाका रहस्य—अच्छा तो अब देखिये इसने विकल्प की पकड़ की ना, तो इस विकल्पने बरबाद किया, तो फिर सहजस्वरूपको देखो। क्या विकल्प करना मेरे स्वभावमे बना? जब अपने स्वभावकी दृष्टि करते है तो विदित हुआ कि मुझमे विकल्पकी गुञ्जाइश नही, मेरा स्वरूप तो विकल्परहित है। विकल्प क्या है? ज्ञानके व्यापारका बिगडा हुआ रूप। ज्ञानका यह बिगडा हुआ रूप बन कैसे गया? आत्मामे अपनी ओरसे अपनी सहज वृत्तिमे नही बना, यह मलिन छाया नही बनी। आत्माका ज्ञान करें सब विदित हो लेगा। जैसे पानीमे रग डाल दिया, पानी रंग गया तो क्या पानी अपने स्वभावसे ऐसा रग गया? वह रग ऐसा घुल गया कि पानी सारा रगीन हो गया। ऐसे ही वह कर्मका उदय, कर्मकी लीला, कर्मका अनुभाग, जो कर्ममे ही है, जिसका अन्वय कर्ममे है वह है कर्म की लीला। मगर जैसे रग पत्थरमे तो नही घुलता, घुलता तो जलमें है ना, ऐसे ही वह कर्म का रग जो घुला वह कही अन्य जडमे नही घुल गया, उपयोगमे आया, यह प्रतिफलन हुआ, उपयोग रगीन हो गया। तो ऐसा विकल्प होना मेरे स्वभावमे नही। हां स्वभावमे तो नही, लेकिन जब अपनेसे बाहर उपयोग रखता हुआ हो तो विकल्प होता, फिर भी प्रदेशत. इस मुझमे ही उपयोग है। जैसे कोई पुरुष कमरेमे ही तो बैठा है, मगर झुक रहा है बाहरमे, तो कही वह पुरुष बाहर तो नही चला गया। पुरुष तो कमरेमे ही है, मगर झुक रहा है बाहर। ऐसा उपयोग कही बाहर नही चला गया, उपयोग तो है मेरे आत्मामे, आत्मप्रदेशमे, मगर झुक रहा है बाहर। तो जब यह उपयोग बाहरमे कुछ झुकता है, कितना बाहरमे? क्या कोई हाथ दो हाथ दूर? अरे इसमे भी दूर तथा निज घरमे भी बाहर। घरमे भी बाहर, बाहरमे भी बाहर। बाहरमे बाहर तो ये सार पदार्थ है और घरमे बाहर क्या? जैसे अपनी परिणति हो रही है उस परिणतिको देखना है वह घरमे बाहर देखता है। तो दोनो ही तो कर रहा है यह उपयोग। घरमे बसे हुए इन बाह्य पदार्थोंको भी देख रहा और बाहरमे इन पडे हुए बाहरमे भी चित्त दे रहा, तो अपनी बरबादीका इतना डबल साधन उपक्रम करने वाला जीव है विकल्पमे। तो भीतर जब स्वभावको देखते है तो विकल्पकी गुञ्जाइश नही। बाहरमे जब बाह्य तत्त्वोको निरखते है तो ये विकल्प बहुत तेजीसे उमडते है। यहां भी सोचे कि यह विकल्पोका अपराध किसका है? तो इसका उत्तर यह हो है, मेरा अपराध नही, कर्मका अपराध नही, दोनोका अपराध नही। उत्तर आयगा, निमित्तनैमित्तिक भाव। यहां देखो वस्तुके सत्यस्वरूपको देखकर जो ज्ञानविकास जगता है वह तो है एक सीधा उपाय। सो ठीक ही

है, वह उपाय करना चाहिए, पर जो बात अपने आपपर बीत रही है उसका निर्णय न बने तो हम आगे न बढ पायेंगे। उसका निर्णय देता है निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय और उसके निर्णयसे हम स्वभावके परिचयमे पहुच जाते है। विकल्प करना मेरा अपराध नही, किन्तु पूर्वबद्धकर्मका अनुभाग खिला, उपयोग प्रतिफलित हुआ और यह मै अपनी धारणा, वासनाके अनुसार स्वरूपसे चिगा और बाह्य तत्त्वोमे लगा, बस विकल्पका रूप बन गया। तो यहाँ भी क्या पौरुष करना ? विकल्प मेरा स्वभाव नही, यह निमित्तका प्रतिफलन है। इसमे मै क्यो बसू ? इस विकल्परहित निज विशुद्ध ज्ञानप्रकाशमे अपने आपके स्वरूपका अनुभव बसो।

स्वयंके लिये स्वयंका महत्त्व—देखो अपने लिए आप ही खुद महान है, अपने लिए आप ही महान सर्वस्व है तभी तो आप पौराणिक चित्रणमे यह पाते है कि जैसे कि यह घटना आयी—वज्रभानु जब विवाह हुआ, स्त्री घर आयी, ४-६ दिन बाद उस वज्रभानुका साला उदयसुन्दर अपनी बहन (वज्रभानुकी स्त्री) को लिवाने आया तो स्त्रीके प्रेममे आसक्त होकर वज्रभानु भी स्त्रीके साथ-साथ अपनी स्वसुराल चल पडा। देखिये ऐसा तो शायद कभी किसीको न सुना होगा कि स्त्री पहली बार आये तो उसके मायके उसका पति भी उसके साथ-साथ जाये। मगर वज्रभानुको इतना तीव्र मोह था कि वह अपनी स्त्रीके साथ साथ चल पडा। अब वज्रभानु उदयसुन्दर और उदयसुन्दरकी बहन (वज्रभानुकी स्त्री) ये तीनो ही चले जा रहे थे। रास्तेमे क्या देखा कि एक जगह एक मुनिराज शान्तमुद्रामे बैठे हुए तपश्चरण कर रहे थे। मुनिराजके दर्शन होते ही वज्रभानुका मोह गल गया। देखिये बडे पुरुषोकी बडी अद्भुत महिमा होती है। परिणामोके पलटनेमे देर नही लगती। जहाँ सत्य ज्ञानप्रकाश जग गया, अपना स्वरूप दिख गया, वहाँ कोई कितनी ही कोशिश करे, वह मोह का दाग अब आ नही सकता। वज्रभानु एकदम योगीकी मुद्रा निरखने लगे। उदयसुन्दर मजाक कर बैठा—अरे मुनिराजको टकटकी लगाकर बडे गौरसे देख रहे हो, मुनि होना है क्या ? वज्रभानु तो इसकी बाट ही जोह रहा था कि मै कैसे इन दो से (उदयसुन्दर व उस की बहनसे) कैसे पिण्ड छुडाऊँ ? तो वहाँ वज्रभानु बोल उठा, हाँ हम मुनि बन जायें तो क्या तुम भी बन जाओगे ? तो वह तो यह जानता था कि इतना तीव्र मोही व्यक्ति मुनि कैसे बन सकता ? सो वह बोल उठा—हाँ हम भी मुनि बन जायेंगे। अब वज्रभानु तो मुनि बन-कर ध्यानस्थ हो गया। उसके मोहको गलते देखकर उदयसुन्दरका भी मोह गल गया और मुनि हो गया। अब वज्रभानुकी स्त्रीने जब उन दोनोको विरक्त होते देखा तो उसका भी मोह गल गया, वह भी वही आर्यिका हो गई। तो यहाँ कौन किसका है ? खुदका खुद है आलम्ब

आश्रय, महान जिम्मेदार । खुद अपने ज्ञानको सभालो, अपने ज्ञानमें प्रीति जोडो और अपने आपको अमर अनुभव करो । इस उपायसे कष्ट भी मिटेगा, दोष भी दूर होगे, विकल्प भी दूर होगे ।

विकल्प, दोष व कष्टका परस्पर संबंध तथा इन तीनो विडम्बनाओके विनाशका उपाय—यहाँ जो तीन बातें बतायी— कष्ट, दोष, विकल्प । तीन बातें होनेपर भी इनमे मूल कारण है विकल्प । उसका कार्य है दोष, उसका कार्य है कष्ट । है यद्यपि ये तीनो एक समय, फिर भी जब उनमे यह खोज की जाय कि किसके कारण क्या हुआ ? तो विकल्पके कारण दोष बना, दोषके कारण कष्ट हुआ, और फिर देखो तो तीनो एकमेक, गुत्थमगुत्था । एकके कारण दूसरी बात । तो ये सारी विडम्बनायें जो मुझमे चल रही है इनका विनाश होनेका उपाय है निमित्तनैमित्तिक भावको यथार्थ जानकर विभावोकी उपेक्षा करना और फिर अपने उपादानके स्वभावको निरखकर उस स्वभावमे मग्न होना, इस ही विधिसे ससारके समस्त सकट दूर हो जाते है ।

(६१)

मनको नियन्त्रित करो, इन्द्रियोका व्यापार बद करो, सर्व विकल्प हटा दो, अन्तरमे सहज विश्राम लेकर ज्ञानमे सहज ज्ञानप्रकाशमय हो जाओ । प्रियतम, सहजानदधाम ! निज सहज चित्स्वभावमे लीन होकर परम तृप्त होओ ।

क्लेशविनाशके उपायमे प्रथम आवश्यक कर्तव्य मनका नियंत्रण—मनुष्योको जितने भी क्लेश होते है उन क्लेशोका कारण है मनका नियन्त्रणमे न रहना । जिसका मन अपने ज्ञानप्रकाशके बिना अनियन्त्रित है अर्थात् मन चाहे विषयोमे दौडता है और इसी कारण इष्ट रागके साधन न मिलनेसे, या उनमे बाधा आनेसे बहुत व्याकुलता होती है, ऐसी व्याकुलता का कारण है मनको स्वच्छन्द बनाना । कोई सा भी काम मनको सयत किए बिना नही बनता । बुरा काम हो, चाहे भला काम हो, प्रारम्भ अन्त तक पार पाना है तो उस बुरेकी ओर मन लगाना पडता है और भले कामका कोई प्रारम्भसे अन्त तक पार चाहता है तो मनको उस भले कामकी ओर लगाना पडता है, पर बुरे कामकी ओर मनको लगानेका नाम है मनका अनियन्त्रण । बुरे कामसे बचाकर अच्छे काममे मन लगानेका नाम है मनका नियं-त्रण । सो अगर वर्तमानमे भी सुख पाना चाहते हो तो पहली बात यह है कि मनको निय-न्त्रित करें । मनको नियन्त्रित करनेके लिए पहले सही ज्ञानद्वारा अपने हितपथका निर्णय बनावें, मेरा हित किस काममे है ? भले ही हम हितके पथसे डिगते रहे, उस पर चल न सकें, फिर भी यदि हितपथका निर्णय होगा तो बिडगनेके समयमे भी हम अधिक डिगे हुए न रहेगे, क्यो

कि भीतरमे ज्ञानप्रकाश बना हुआ है और डिग भी गया तो उस डिगनेका परिहार हो सकता है। जैसे बताया है कि कोई चारित्रसे भ्रष्ट हो जाय और सम्यक्त्वसे भ्रष्ट न हो, सम्यक्त्व बना रहे तो वह कभी फिर चारित्र पाकर मुक्ति पा लेगा। जहा यह बात कहते है कि चारित्रसे भ्रष्टको भ्रष्ट नही कहा, किन्तु सम्यक्त्वसे भ्रष्टको भ्रष्ट कहा। उसका अर्थ यह है कि चारित्रसे भ्रष्ट हुआ पुरुष यदि सम्यक्त्वसे भ्रष्ट नही है तो फिर चारित्रको पा लेगा। मगर जो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट है वह वास्तविक चारित्रको नही पा सकता। इसके मायने सम्यक्त्वसे भ्रष्ट सिद्ध नही होता और चारित्रसे भ्रष्ट कभी सिद्ध हो जाता है, यह अर्थ नही है। लिखा है ग्रन्थोके भीतर तो उसका अर्थ है कि सम्यक्त्वसे जो भ्रष्ट है वह चारित्रसे भी भ्रष्ट है, सिद्ध नही होगा और जो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट नही वह चारित्रसे भ्रष्ट है तो सिद्ध न होगा, किंतु जिसे सम्यक्त्व है उसे मौका है कि वह चारित्रको पा लेगा और मुक्त होगा। मुक्ति तो चारित्र बिना होती नही, मगर यह तारतम्य बताया कि सम्यक्त्व-भ्रष्ट पुरुष तिरनेका पात्र नही है, और जो सम्यक्त्वसे लगा हुआ है वह चारित्रसे भ्रष्ट है तो वह पात्र है, फिर चारित्रको पा सकता है। तो ऐसे ही समझिये कि हमारे मनमे शुद्ध ज्ञानका प्रकाश हुआ, और, मन चाहे डुलता हो, नियंत्रित न होता हो, लेकिन ज्ञानप्रकाश है तो मनके नियंत्रणकी पात्रता है हममे। हम तो ज्ञानका उपयोग बनायें और मनको नियन्त्रित करे। सर्वप्रथम हमे प्रगतिमार्गमे आवश्यक है अच्छे काममे मनको नियन्त्रित करना, देश वालोका काम, देश नेताओका भी काम। मनको नियन्त्रित करके देशोद्धारका काम कर पायें, समाजोद्धारका काम कर पाये, वह काम समाजनेता अपने मनको नियन्त्रित करके कर सकते है। तो उद्धारका काम मनकी स्वच्छन्द प्रवर्तनकलासे नही हो सकता।

मनोनियंत्रण और संयमनका भलाईमे सहयोग—जैसे दो बातें रखी—असयम और सयम। कोई पुरुष ऐसे ही दो पुरुष जिनमे एक ऐसा है कि अज्ञान छाया है, मगर सयममे चल रहा, अपने व्यवहार सयममे, खानपानके सयममे, अपनी भक्ति उपासनाके सयममे चल रहा और दूसरा पुरुष ऐसा है कि अज्ञान छाया है और असयममे लग रहा है। न तो चारित्र है, न ज्ञानप्रकाश है और न बाहरमे कोई मनका नियत्रण है, जैसा चाहे खाया, जैसा चाहे बोला, जैसी चाहे तृष्णा रखी, जितना चाहे परिग्रहका भाव बनाया। असयममे बना है तो है तो दोनोके ही अज्ञान, मगर अज्ञान और असयम जहाँ दो बाते है वह ठीक है या अपेक्षाकृत जिसके अज्ञान तो है पर सयममे चल रहा है वह ठीक है? अपेक्षाकृत देखकर विचार करें। एक अपना बाह्य आचरण पवित्र रहेगा तो मौका मिलेगा कोई सत्संग पाकर कुछ ज्ञानप्रकाश मे आ जाय, और अज्ञानमे भी है और असयममे भी है तो उसको मौका मिलना कठिन होगा,

है। तो पहला काम यह है कि मनको नियंत्रित करें। देखो कोई पुरुष जो चाहे अटपट बोलता। उसका कारण क्या है कि उसका मन नियन्त्रणमे नही है। अच्छा फिर बाहरमे आपत्तियाँ भी कितनी ही आती है, अनेक विडम्बनायें बन जाती है। तो सुखसाता शान्ति पानेके प्रयासमे पहला प्रयास है कि मनको नियत्रित करें।

विषयव्यापारके निरसनका भलाईमे सहयोग—क्लेशविनाशके उपायमे दूसरी बात है—इन्द्रियका व्यापार बन्द करे, बहुत-बहुत जो चाहे देखते रहे। खूब राग रागनीके शब्द सुननेसे मनमे क्षोभ होता, जैसा चाहे भक्ष्य अभक्ष्य खाकर खूब खानेका मौज लिया, ऐसे ही पञ्चेन्द्रियके विषयोमे स्वच्छन्द प्रवृत्ति हो तो उसका मन अधीर रहता है और वह किसी एक निर्णयपर, सही बातपर आ नही सकता है। जीवन है और इन्द्रियविषयोके प्रसग भी होते है, खाये पिये बिना भी काम नही चलता है, फिर भी मनके भावसे बाहरमे बहुत बडा अन्तर आ जाता है। एक तो उन विषयोमे आसक्ति रखता हुआ, उनमे ही मौज मानता हुआ विषयोमे लगता है और एक यह बात स्पष्ट है कि आत्माका कल्याण तो आत्मस्वरूपको समझकर उसकी आस्था रखकर उसही मे मग्न होनेमे है। परिस्थिति ऐसी है कि करना पड रहा है। जैसे कोई कोतवाल चोरको गिरफ्तार करके ले जाये जेलमे, तो क्या वह जाना चाहता है ? नही जाना चाहता, पर जाना पड रहा है, क्योकि उसपर हटर लगते है, मार लगती है। ऐसे ही ज्ञानी जीव, जिसे संसारका और आत्माका सही परिचय मिल गया—मेरा आत्मा आनन्दधाम है, स्वय आनन्द और ज्ञानसे भरा हुआ है, स्वरूप ही इसका यह है। इस स्वरूपसे विश्राम हो तो वही कल्याण है, और यह ससार ये दुनियाके दिखने वाले बाह्यपदार्थ, ये चेतन और अचेतन पदार्थ इनका सग पाकर, इनको उपयोगमे लेकर इस जीवको सारे जीवनभर कष्ट रहता है, और जीवन गया, दूसरे भवमे गया तो यहाका सग एक भी कुछ भी साथ नही जाता है। जरा भी मदद नही करता। यहाँ तो दसो मित्रोका मन रमानेमे या उनमे दिल लगानेमे शोक मान रहा है। मरेके बाद एक भी साथी न होगा, यह है ससारका स्वरूप। तो जिसने ससारका स्वरूप जाना, आत्माका परिचय किया ऐसा पुरुष यदि स्थिति मे है ऐसा कि भूखा रह नही सकता, खाना पडेगा ही और जब खाना पडेगा तो उसके साधन जुटाने पडेंगे। तो ये सारे काम यो किए जा रहे है जैसे कि हटर लग रहे हो। परिस्थिति है, घटना है, करना पड रहा है, मगर मन तनिक भी न हो इसमे तो अपनी रक्षा है, और इसकी शक्तियाँ गईं, भीतरका ज्ञानप्रकाश समाप्त हुआ, अज्ञान अधेरेमे फस गया तो इसका अकल्याण है। भीतरी भावके अन्तरसे ससार और मोक्ष जैसे मार्गका अन्तर मिल जाता है। अब आप यह देखो कि कितनी सुगम और सरल बात है। किसीका कुछ लेना

नही, किसीको कुछ देना नही, किसीसे कोई प्रतीक्षा नही, किसीसे कोई फसाव नही, अपना मन है अपने पास है, अपना ज्ञान है, हमारेमे ज्ञान है । हम भीतरमे अपने ज्ञानद्वारा सही-सही वस्तुके परिचयको बनाये रहे तो इसमे कौनसा कष्ट है, कौनसा क्लेश है और आनन्द ही आनन्द मिलता है । और, उससे ससारमार्ग, मोक्षमार्ग—ऐसे दो पथ स्पष्ट बुद्धिमे अलग हो जाते है, तब यह ससारमार्ग छोड देता है और मोक्षमार्गमे लगता है ।

पैसेसे धर्मकी असंभवता व पैसेमे चित्त होनेसे धर्मकी असंभवता—देखो वात प्रसग मे यह आ रही हे कि अपने ही ज्ञान द्वारा अपने आपमे सुगमतया अपना कल्याण किया जा सकता है । पर ऐसा सोचते समय कोई यो खुश हो जाय कि यह तो वडा सुगम मार्ग है । इसमे तो पैसेका खर्च भी नही करना पडना । सो भैया ! ऐसा सोचने वालेको मार्ग नही मिलता, क्योकि उसकी पैसेमे बुद्धि है । जिसकी पैसेमे, तृष्णामे बुद्धि फसी हो उसे मुक्तिका मार्ग नही मिल सकता । वह असारता तो पहले चाहिए कि जगतका एक परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नही लगता, और मुझको किसी वैभवकी जरूरत नही है । और है, तो लगता हो अच्छे ठिकाने काममे तो खूब लगे, खूब प्रसन्न हो, ऐसी जिसकी भीतरी आदत बनी हो वही पुरुप इस मुक्तिमार्गके पानेमे सफल हो सकता है । आप देखो एक आत्माके अन्दर भीतरी झाड़ू बुहारू करनेका काम बना रहे कि कब कैसी झाड़ू बुहारी लगावें कि सफाई हो और उसमे हम आगे जावें । देखो सबसे वडी विपत्ति है वैभवकी तृष्णा, पहले उसको खत्म करना होगा, तब आगे कुछ हमारी प्रगति हो सकती है । तृष्णा खत्म हो जायगी । वैभव हटा दे, कुवेंमे डाल दे, यह वात नही कह रहे, किन्तु सत्य ज्ञानका प्रकाश पाकर उस वैभवकी ओरसे हमारी उपेक्षा बने, और कभी यह भावना न जगे कि हाय यह पैसा जा रहा है, यह पैसा मेरे पास ही रहे, इसमे कमी न आये, इसमे और बढाया जाये—यह भाव रहेगा तो यह भाव इतना कठिन कलुषित भाव है कि वहाँ धर्म और ज्ञानका प्रवेश नही हो सकता । बात यहाँ यद्यपि यह सच कही जा रही है कि धर्मपालनमे पैसेका काम नही, मगर पैसेमे ही जिसका दिल है उसको धर्मका मार्ग नही मिलता । पहले अपने ज्ञानप्रकाशमे उस पैसेमे से अपना दिल हटा लीजिए, फिर बादमे यहाँ आइये । बात तो यही सच है कि यह रत्नत्रय धर्म, यह आत्माका शान्तिमार्ग पैसा खर्च करनेमे नही मिलता है । यह तो अपने ज्ञानभावके द्वारा मिलता है, मगर इसके भीतर यदि यह उमग पडी हो कि मार्ग तो बिलकुल सीधा है, इसमे पैसेका खर्च नही करना पड़ता है, यह भाव आये तो मार्ग खत्म, क्योकि एक वैभवकी ओर तृष्णाका भाव चल गया और जिसे वैभवमे तृष्णा है उसको ज्ञानप्रकाश नही मिलता । कैसी ये दो बाते स्पष्ट है ? पैसेसे धर्म नही होता, किन्तु पैसेमे दिल होनेसे धर्म जरा भी नही होता

हैं, इन दो बातोकी एक ठीक विधि समभलो। कोई यह कहे कि पैसेसे धर्म होता तो वह भी धर्म नही कर सकता, और कोई यह समझे कि पैसा खर्च करनेकी तो जरूरत ही नही है, यो ही धर्म हो जाता तो उसे धर्म नही होता। कितना अंतरंगको साफ करनेकी आवश्यकता है? मनको नियन्त्रित करें, पचेन्द्रियके विषयोके व्यापारको बद करें। देखो कोई किसी का साथी है नही, यहाँ भी आप अपनेमे अकेले-अकेले बैठे है। जैसे आपके किसी विषयसुख या अन्य सुखसाताके लिए कोई साथी नही है, ऐसे ही आपके धर्ममार्गको चलानेके लिए भी कोई साथी नही है। भले ही वक्ता और श्रोताका सम्बन्ध है, योग्य वक्ता और योग्य श्रोता और वहाँ लगता है श्रोताओको ऐसा कि देखो हमारा साथी तो कोई नही, हमारा हितू तो कोई नही, मगर यह धर्मात्मा जीव है, ये साधु सतजन, ये यथार्थ उपदेष्टाजन हमारे सच्चे हितू है। हाँ अपेक्षासे तो बात यह बिल्कुल सच है कि त्यागी, साधु, सत विरक्त, ज्ञानी आपके सच्चे हितैषी है, मगर यहाँ ही दृष्टि रहे और अपने आपका अकेलापन एकत्व स्वरूप इसका कुछ प्रयोग न करें तो हित नही हो सकता। बात दोनो चाहिएँ—तीर्थ और तत्त्व। तीर्थ बिना तत्त्व नही और तत्त्व बिना तीर्थकी कीमत नही। तो यह ज्ञानप्रकाश हमको तब मिलेगा जब समस्त परवस्तुओसे हम अपनेपनका एकदम कटाव कर लेंगे। कुछ नही मेरा। उसमे चित्त न फसे।

परप्रसंगमें रहकर भी परसे कटावकी संभवता—देखो परिस्थिति है ऐसी कि आपको घर जाना पड़ेगा, आप यहाँ घटा भर रहेगे, स्वाध्याय सुनेंगे, कुछ दिन रह लेंगे, पर परिस्थिति ऐसी है कि घर जाना पडेगा, यह बात सबको मालूम है। तो परिस्थितिवश घर जाना पडेगा तो चले जायेंगे। मगर वर्तमानमे तो प्रत्येक पदार्थसे एकदम कटाव करके अपना चिन्तन करें, यह बात तो बना सकें १०—५ मिनट। कुछ तो बना सकते। तो कुछ क्षणको ऐसा सबसे कटाव करके अपने आपमें ज्ञानप्रकाशका अनुभव करनेकी योग्यता न मिले, नही है, नही कर सकते, तब तो समझो कि कल्याणमार्गसे बहुत दूर है। विषयोमे तो ऐसा हर एक कोई कर लेता है कि जब खानेके स्वादमे तेज आसक्ति है तो बाकी सभी इन्द्रियोका एकदम कटाव कर दे, आँखोको भी मीचकर, कानोको भी वन्द, नाकको भी बन्द, सब प्रकार का सोचना भी बंद। इन विषयोमे तो जानने चलते है लोग। किसी भी विषयमे लगना हो तो अन्य विषयोसे कटाव कर डालते हैं। वासना तब भी नही मिटी। मगर कटाव तो कर देते है और बातोका एक ही विषयमे लगनेके लिए। अब जरा पञ्चेन्द्रियके सभी विषयोसे कुछ क्षणको यो समझ कर कटाव कर दें कि विषयोका व्यापार करना व्यर्थ है, अज्ञान है, इस समय भूख तो लगी नही, इसलिए खानेका विकल्प तो आसानीसे छोड सकते है। स्पर्शका

कोई प्रयोजन नही। वह भी छोड सकते, गधको भी छोड दे, आँखोमें ढक्कन लगे है सो बद कर ले, यह भी बन जायगा, मगर कानोमे कोई ढक्कन नही लगा, यहाँ जरूर परेशानी हो जाती है। लेकिन फिर भी देखो चार इन्द्रियोको तो वशमे कर सकते हो, कर ही रहे हो। कान ऐसे बेढगे बने कि इनपर कोई ढक्कन ही नही है। आवाज आती है तो कानमे आती है, यह बडी विपत्ति है। लेकिन मनको यदि रोक लेगे तो छोटी मोटी आवाजसे बाधा न आयगी और कोई बडे योगीजन हो तो बडी आवाजसे भी बाधा नही आ सकती।

इन्द्रियव्यापार रोककर अन्तरमे अन्तर्नाथके दर्शनका प्रयास—भैया! इन्द्रियका व्यापार रोक दें और कुछ क्षण अपनेको ऐसा अनुभव करें कि मै ज्ञान ज्ञानप्रकाश मात्र हू। ज्ञान व जानना जानना, अमूर्त है। ज्ञानमे रूप, रस, गंध नही। एक लोकमे जिस का केवल जानन प्रतिभास मात्र ही है, यह हू मै, यह हू मै, ऐसा बोलना भी जहाँ नही यह हू मै, उसे देखो और उसमे मै का प्रत्यय बने। यह धारणा जितनी दृढ बन जायगी, मैपर एक ज्ञान जम जायगा, उस समयमे ऐसा अलौकिक आनन्द प्रकट होगा कि उसीको कहेगे स्वानुभव, ज्ञानानुभव। एक बात दृष्टिमे फिर याद दिलानी है, बोलो इस ज्ञानानुभवके काम के लिए पैसेकी जरूरत पडी क्या? कुछ पैसेसे यह काम बना क्या? एक धेलेकी भी आवश्यकता नही स्वानुभव पानेके लिए, मगर सुध हो जाय कोई—यह तो बडा सीधा काम है, इसमे तो पैसेका कुछ खर्च नही करना, बस उसकी लुटिया डूब गई। समुद्रमे डूबा। वह ज्ञानप्रकाश नही पा सकता। पहले इतना एक उदात्त भाव होना चाहिए कि धन वैभव तो मैल है, [illegible]नड है और बल्कि हमको बरबाद करनेका साधन है। उसमे लगकर मुझे कोई श्रेय न मिलेगा। यह तो मेरे एक शत्रुकी तरह है, चिपका है, लगा है, और भव भवमे मुझे रुलाता है, ऐसा वहाँ निर्णय होना चाहिए और लोकवैभवको चित्तसे एकदम हटा देना चाहिये। तो चित्त किसका हट सकेगा? कजूसका नही। जिसको पैसेका लगाव है उसका चित्त न बन सकेगा उदार, किन्तु जिसमे प्रकृति यो बनी है कि गया तो गया, कोई काम है उचित, उसमे लगा दिया जावे। यह भी करे, यह भी करें उस पुरुषके चित्तमे इतनी उदात्तता रहती है कि वह किसी समय चाहे कि सारे विकल्प छोडकर केवल अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि बनाये तो वह बना सकता है। ज्ञानानुभवमे पैसेकी जरूरत नही, पर पैसेकी जरूरत नही ऐसा समझकर खुश हो जाय तो उसे ज्ञानानुभव होता नही।

अन्तरमें पौरुष करनेका कर्तव्य—देखो बहुतसे काम पडे है, मनका नियंत्रण करना और इन्द्रियविषयोका व्यापार बद करना। तो पहला काम यह है कि मनको नियंत्रित करें, मनका व्यापार बद करें, तब क्या होगा? देखो सर्वविकल्प छूट जायेंगे, और सर्वविकल्पका

त्याग करके फिर अपने अन्तरमे अपनेको मग्न कर ले। देखो अपने अन्तरमे पोल नही, मुझ मे पोल नही है, मे ठोस हू। आप सोचते होगे कि क्या कहा जा रहा कि मुझमे पोल नही, किन्तु मै ठोस हू, कैसे हू ठोस ? ठोस तो यह शरीर है। आत्मा कहाँ ठोस होता ? आत्मा तो एक पोलका ही जैसा रूप है। क्योकि अमूर्त है। भैया! अमूर्त होनेको पोल नही कहते। किन्तु खाली रहनेको पोल कहते है। मै आत्मा ज्ञानघन हू। अमूर्त तो हू मगर सर्व प्रदेशोमे पूर्ण ज्ञानघन हू, वहाँ अन्तर जरा भी नही है। वहाँ खाली जरा भी नही है। ऐसा मै ठोस पदार्थ हू। वजन नही फिर भी ठोस। हैरानीकी बात नही है। कुछ लोग सोच सकते है कि जिस चीजमे वजन भी नही उसे कहा जा रहा ठोस, सभी पदार्थ ठोस है। जीव ठोस, अणु ठोस, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सभी ठोस। जो ठोस नही वे वस्तु नही। जो भी पदार्थ है वे पूरे ठोस है। जो मेरा स्वरूप है, जो मेरा प्रदेश है उन प्रदेशोका वह स्वरूप पूर्ण घन है। वहाँ अन्तर जरा भी नही है। तब ही तो इस बातकी याद दिलानेके लिए पानीसे भरे हुए कलशको लोग सगुन मानते है। जा रहे है और पानीसे भरा हुआ घडा दिख गया तो सगुन मान लिया। अरे सगुन वह कहलाता है जो आत्माकी याद दिलाये, असगुन वह कहलाता है जो आत्माको भुलावामे डाले। सगुन और असगुनकी अन्य कोई व्याख्या नही। वह पानीसे भरा हुआ कलश याद दिलाता है कि जैसे कलशके बीच पानी ऐसा ठोस भरा है कि जिसमे एक सूत भी खाली नही, ऐसे ही मै ज्ञानघन हू। जो अपने सर्वप्रदेशोमे ठोसा भरा हुआ हो, ऐसे ज्ञानमय अतस्तत्त्वको निहारो और देखो अपने आपको पुकारो, यह ही तेरा प्रियतम है। इससे बढकर प्रिय जगतमे कुछ नही। हे मेरे प्रियतम, हे अतस्तत्त्व प्रभु, अब तो इस ही सहज चैतन्यस्वभावमे लीन होकर परम तृप्त होवेंगे। मेरा निर्णय है। मेरा अब दूसरा कोई प्रोग्राम नही। और इस प्रियतमको भी समझावें कि हम तो अपने सहज चैतन्यस्वरूपमे लीन होकर तृप्त रहू। यदि मै उपयोग बरबाद होकर जगतमे भटकता तो मेरे सगमे हे प्रभु! तुम भी तो खिचे-खिचे फिर रहे हो। तो यह शिक्षा उपयोगको भी दें, प्रियतमको भी दें, इस चैतन्यस्वरूपको भी शिक्षा दे। यह अभेद उपासनामे जहाँ एक मन हो जाता है वहाँ ऐसी हो एक अलौकिक मैत्री बनती है कि इसकी गाली है तो मुझे गाली है, इसकी प्रशसा है तो मेरी प्रशसा है। हे प्रियतम अन्तर्नाथ! बहुत भटका मै अनादिसे अब तक बाहर ही बाहर विषयोमे उपयोग दे देकर। अब तो अपने निज सहज चैतन्यस्वभावमे दृष्टि दूँगा, उसमें लीन होऊगा, यो सदाके लिए परम तृप्त होनेका पोरुप करूंगा।

(६२)

क्रोधके समय कर्तव्यके सुनिर्णय करनेकी सुबुद्धि रहती ही नही, क्रोधके समयके निर्णयका पालन नियमसे पश्चातापकारक होगा, अत: क्रोधके समय तन, मन, वचनको विश्राम दो, कोई प्रोग्राम मत बनाओ।

परेशानीका कारण कषाय—जगतके प्राणी कषायवश परेशान हो रहे है। स्वयंके स्वरूपको देखो, सहज स्वभावको निरखो तो वहाँ परेशानीका कोई काम नही है। दृष्टिमे यदि विविक्त एकत्वगत अपना स्वरूप रहे तो वहाँ परेशानी नही होती। जितनी परेशानी है वह कषायभावकी है। विषय और कषाय दो बताते है, तो विषय भी कषायमे ही शामिल है। विषय कषायसे अलग चीज नही है, किन्तु लोगोको राग विषयोसे अधिक है, इसलिए मुख्यता से दृष्टि जाती, इस कारण विषयोको अलग बोलते है। विषय भाव कषायभावसे अलग भाव नही है, वह है एक तृष्णाका ही रूप। तो ये सारे जगतके प्राणी कषायसे परेशान है और उन कषायोमे जो चार कषायें है—क्रोध, मान, माया, लोभ, सो देखो जब जिसकी चर्चा करे वही बहुत बडा लगता है कि जीव इन कषायोसे परेशान है। क्रोधके समयकी बातमे क्रोध ही क्रोध परेशानीका कारण दिखता है और लोभसे जो परेशानी होती है वह क्या कम है? तृष्णाभाव होनेसे जो हैरानी होती है वह भी किसीसे कम नही है। सभी कषाये अपने-अपने समयमे बड़ी परेशानी करने वाली है।

क्रोध होनेकी विडम्बना—अब जरा इस समय क्रोधपर विचार करो। क्रोधसे जीव को कितनी हानि है? देखो कही धर्ममे बाधा आती हो, धर्ममार्ग मिटाया जा रहा हो, ऐसी घटना को देखकर कर्तव्य तो हो जाता है यह कि धर्ममार्ग मिट न पाये, यह है एक सम्यग्दर्शनका अग। मगर उसको भी विवेकपूर्वक बनाना है ना तो वहाँ भी क्रोध न करना। कोई जीव अपने पर अन्याय करता हो तब भी क्रोध न जगे, प्रतिक्रिया चाहे कर ले। जैसे युद्धमे लड़ते है तो लडाईका काम तो सभी करते है और क्यो जी लडाईमे कोई सुभट ज्ञानी हो, सम्यग्दृष्टि हो तो क्या यह सम्भव नही है? ज्ञानी भी हो, सम्यग्दृष्टि हो यह सम्भव है। ज्ञानी भी हो, सम्यग्दृष्टि भी हो और युद्धमे है और सघर्ष हो रहा है, मगर उसके मूलमे क्रोध नही जगता। क्रोध तो जग रहा, क्रोध बिना युद्ध करे कैसे? पर मौलिक क्रोध नही जग रहा। एक कर्तव्यके नाते जो होना चाहिए सो जग रहा। जो ज्ञानी सुभट है उसकी बात कह रहे है। तो ऐसे बडे-बडे प्रसगोमे भी मूलमे क्रोध नही, पर परिस्थितिमे क्रोध करना होता है। तब फिर अज्ञानी जो एक पर्यायबुद्धि करके क्रोध कर रहा है उसकी तो बडी व्याकुलता है क्रोधके कारण। क्रोधके समय हमको क्या करना चाहिए, क्रोधके समय सही

निर्णय नही हो पाता। देखो क्रोध होता है इष्टमें बाधा होते दिख जाय उसमे। कोई काम करना है और उस काममे बाधा आती हो तो क्रोध जगता है और क्रोध जगा कि कर्तव्यका निर्णय करनेकी सुबुद्धि नही रहती। क्रोधमे जो कपाय उपयोगमे समायी, बस वही कर बैठते है, तो क्रोधके समयमे कर्तव्यका निर्णय नही हो पाता है इसलिए क्रोध करनेके समयमे कोई प्रोग्राम मत बनावें। एक धीरतासे सोच लो, आवश्यक भी है कोई प्रतिक्रिया तो कर्तव्य जानकर प्रतिक्रिया कर ले, क्रोधमे आकर मत करें। वही काम क्रोधमे आकर किया जाय तो उसमे बाधायें विघ्न विपत्तियाँ बहुत आती है और विना क्रोध किए परिस्थितिमे जितना कर्मोदय होता है उतना ही क्रोधमे रहे तो उससे सुबुद्धि दूर नही होती। तो क्रोधके समय चूँकि निर्णय करनेकी सुबुद्धि नही रहती, इस कारण क्रोधके समय कोई निर्णयका प्रोग्राम न बनाना चाहिए। क्रोधके समय मौन और प्रभुमत्र जपना श्रेय है।

क्रोधके समयके निर्णयकी भयंकरता—घरके बालकपर भी क्रोध आ रहा हो तो क्रोधके समय उस बालकपर हमे क्या करना चाहिए, ऐसा अपना निर्णय न बनावें। वह बालकके लिए बड़ा भयकर बनेगा। एक घटना हुई ऐसी पजाबमे। एक मुख्त्यारने सुनाया था कि कोई एक किसान गेहू बेचकर आया, वह एक हजार रुपयेके नोटोकी गड्डी लिए था। जाडेके दिन थे। आग ताप रहा था। आग बहुत तेज जल रही थी, खूब मौजसे बैठे हुए आग ताप रहा था। उसके पास उसके बच्चे लोग भी बैठे हुए थे। एक बच्चे ने खेलनेको वे नोट माँगा तो पिता ने नोटोकी गड्डी दी। बच्चेने खेल खेलमे ही वह नोटोकी गड्डी आगमे डाल दी। सारे नोट जलकर राख हो गए। उस जगह उस पिताको इतना क्रोध उमडा कि उस बच्चेको उसी आगमे पटक दिया, वह बच्चा उसी आगकी भट्टीमे जलकर मर गया। तो भाई जब कभी अपने स्त्री पुत्र मित्र आदिकपर किसी कारणसे क्रोध आ रहा है तो क्रोधके समय मौन रखना अधिक उचित है। अभी घरमे किसीको तेज क्रोध आये तो उस क्रोधके समयमे जो कुछ बात बोलते है वह भी पूरी सुनने तकमे नही आ पाती। धप-धप करके बोलता है। समझमे ही नही आता कि क्या बोल रहा है? क्योकि ओठ दाँत आदि सब स्थान भग हो जाते है। शब्द स्पष्ट नही निकलते। तो क्रोधके समयमे मुद्रा बिगडे, बुद्धि बिगडे और फिर क्रोधके समय कोई भी निर्णय किया गया हो, उस निर्णय पर चले तो पीछे पछतावा होता है। जैसे उस किसानने उस बच्चे को आगमे पटक दिया था, पर बादमे उसे बडा पछतावा हुआ था। इसी प्रकार क्रोधके समयमे कुछ भी अनर्थकारी कार्य कर डाला जाय तो बादमे बड़ा पछतावा होता है। अभी कोई दो चार किलो घी से भरा हुए डबला अपने हाथमे लिए हो और किसी कारणसे उसे आ जाय क्रोध तो वह कहो उस डबलेको नीचे

पटक दे, सारा घी खराब हो जाय। क्रोधके समय बुद्धि ठिकाने नही रहती, पता नही कौन सा भूत सवार हो जाता है कि उस मनुष्यका बडा भयकर रूप हो जाता है। तो यह जीवन की एक साधना है कि किसी जीवके प्रति क्रोधभाव न जगे। भले ही कोई अन्याय कर रहा है तो वहाँ उसकी प्रतिक्रिया करे, समाधान दें, जवाब दे, पर अन्तरमे अज्ञानी बनकर क्रोधी न बनें।

क्रोधके समय मौन व स्वरूपमननका कर्तव्य—क्रोधके समय बताते हैं कि किसी स्त्रीको बहुत ज्यादह गुस्सा आती थी तो उसे यह दवा बतायी गई कि जब तुम्हे क्रोध आये तो तुम अपने मुखमे पानी भरकर गाल फुलाकर बैठे रहो। पानी गुटको नही, मुखमे भरे रहो। अब बताओ उस पानीसे क्रोध शान्त हो जायगा क्या ? अरे शान्त तो न होगा, मगर जो मुख बद किए रहेगा तो कुछ बोल तो न सकेगा। तो क्रोधके समय बोले नही कोई तो इससे भी बडा आराम रहता है। पर कोई कहे कि क्रोधके समयमे ऐसा विवेक करो कि खबर ही न रहे। तो भाई उसीके लिए तो उपदेश है कि अपने ज्ञानस्वरूपकी भावनाको दृढ बनावें तो सुध भी रही आयगी कषायके समयमे भी। तो जब क्रोधका समय आये उस समय मे विश्राम लेना चाहिए। आराम ले। आराममे क्या ? राम आ। अपना जो आत्मस्वरूप है वह उसके ज्ञानमे आ, आराम, बस इसीमे ही सच्चा आराम मिलता है। जब अपना सहज स्वरूप परमात्मतत्त्व ज्ञानमे रहता है तो आराम वही मिलता है, अन्य स्थितिमे आराम नही। तो ऐसे ही आराम पाने की अपनी धुन बनावें। मिलेगा विश्राम, मिलेगा आराम। तो क्रोधको बताया कि यह तो चाण्डाल है। उस क्रोधपर विजय प्राप्त करे तो सद्बुद्धि रहेगी और सर्वकामोमे योग्य प्रवृत्ति बन जायगी।

(६३)

धर्मार्थ भी कुछ दान करानेकी बात कहनेमे कुछ दीनता तो होती ही है, वास्तविक निःसग हुए बिना दानकी बात न कहनेमे हीनता होती है अत· नि सग होनेका पौरुष करके दीनता व हीनता दोनोसे मुक्त होओ।

लोभकषायकी विडम्बना—उक्त निबधमे बतलायी क्रोधकी बात। अब सुन लीजिए—जो बहुत तीव्र बात होती है अपने मार्गमे बाधक वह है लोभ कषाय। देखो जिस पुरुपके लोभ कपाय रहती है चित्तमे उस पुरुपसे धर्म नही बन सकता। और ज्ञान बिना ये कपायें दूर होती नही है। कभी लगता है ऐसा कि जिसके ज्ञान नही है वह भी देखो मद कषायमें है। कोई विपत्ति नही आयी ऐसी अपनी मुद्रा है, मगर वासना जो बसी भई है कषायकी वह उमड़ आती है। तो वध वहाँ भी अव्यक्त चल रहा था जब कि उस कषायमे दृष्टि भी न

थी। प्रसंग आया तो विकार जग गया। एक घरमे बच्चेके पीनेके लिए माँ कटोरीमे दूध भर कर रख देती थी और मदिर चली जाती थी। वही समय था बच्चेके दूध पीनेका और वही समय था उस बच्चे की माताके मन्दिर जानेका। तो वहाँ एक साँप रहता था तो साँप रोज रोज उस बच्चेका दूध पी जाता था। वह बच्चा साँपके पास आकर साँपपर थप्पड भी मारता था, परन्तु वह सांप भगता नही था, सारा दूध पी जाता था। कुछ ही दिनोमे वह साँप बडा मोटा हो गया। तो एक साँप उस साँपसे कहने लगा कि कहो भाई तुम इतनी जल्दी कैसे मोटे हो गए ? तो वह साँप बोला कि हम जैसा मोटा होनेके लिए बडा धीरज चाहिए। अच्छा, तुम क्या करते हो, हमे भी बताओ, हम भी वैसे ही कर लेंगे। अरे तुम से मुश्किल होगा। क्यो मुश्किल होगा, तुम भी साँप, हम भी साँप ? अरे हम रोज एक बच्चेका कटोरेमे रखा हुआ दूध पी जाते है, बच्चा हमे थप्पड भी मारता रहता है पर हम शान्तिसे सहते रहते है, तो दूसरा साँप बोला कि हम भी मार सहेगे और खूब दूध पियेंगे। ...तुमको उस बच्चेकी मार सहना बडा मुश्किल है," अच्छा तो हम नियम लेते है कि १०० थप्पड तक हम उस बच्चेसे कुछ न बोलेगे। अब पहुच गया बालकके पास वह दूसरा साप दूध पीने लगा, बच्चेने थप्पड मारना शुरू किया। अब १०० थप्पड तक तो वह साँप कुछ न बोला। १०० थप्पडके बाद जहाँ थप्पड बच्चेने मारा कि साँपने उसे डस लिया। बच्चा चिल्लाया, लोग जुडे। बच्चा भी मर गया और लोगोने आकर उस साँपको भी मार डाला। तो बात यहाँ क्या हुई कि साँप यह गिनता जा रहा था, सोचता जा रहा था कि यह मुझे मार रहा है, होने तो दो १०० थप्पड। देखो उसके देहका लोभ था और उससे क्रोध उमडा। जबसे पिटना शुरू हुआ तबसे तीव्र कषायभाव हुआ। तो कषाय जिसके रहती है उसके निरन्तर भाव खोटे रहते है।

दानसे लोभपरिहार—अब विचार करें, क्या करना चाहिये सद्गृहस्थको ? पैसा तो रहता ही है गृहस्थीमे। अब उसका किस ढगसे क्या काम करें ? देखो धनकी तीन गतियाँ होती है—दान, भोग और नाश। दान कर लो, या सम्पदाको भोग लो और दोनो ही काम न कर सके तो वह तो नष्ट होना ही है। तो भाई छोडकर जाना ही पडेगा सब, पर ऐसा क्यो किया जाय कि विवश होकर छोडना पड़े और दुर्गति हो ? तो जब धन वैभवके प्रति उपेक्षा हो जाती है तब उसकी प्रवृत्ति धर्ममार्गमे लगती है और धर्मके लिए भी वह उस द्रव्य का सदुपयोग करता है। अब उस प्रसगमे एक समस्या आती है कि कोई धर्मका काम पडा है तो उस समय चाहिए कि जिसके पास धन है वह खुद ही अपने आप बचा करके उस कामकी पूर्ति करे जो सबके लिए हितकारी है। यह तो खुदके विचारकी बात है और दूसरा

पुरुष जिसको धर्म प्रिय है, किन्तु गरीब है तो वह दान नही कर सकता, है ही नही पासमे। तो दूसरा जो काम करता हो उसमें तो समर्थन हो सकता।

दानके समर्थनकी पुण्यकारिता—अब धर्मकार्यके अर्थ दूसरोंसे पैसेकी बात कहना या न कहना, एक समस्या आती है, उस विषयका निर्णय इस निबधमें यह दिया है कि देखो पुरुषोकी दो स्थितियाँ होती है—निःसंग और नि.संग न हो सकनेकी स्थिति। निःसगतामें निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा बनती है। वहाँ तो इस विकल्पका प्रसंग नही। किन्तु जहां नि.संगता नही वहाँ बाह्य वृत्ति क्या बनती है? प्रसंग यह चल रहा था कि धर्मके लिए पैसेको बात कहे या न कहे? तो उसकी स्थिति यों है कि जो मनमे सोच रहा या निर्णयकी बात सुन रहा है कि हमको धर्मार्थ पैसेकी बात कहनी चाहिए कि नही? तो उसकी स्थितिया दो हैं— एक तो है संग सहित परिग्रही होनेकी स्थिति और एक होता है निष्परिग्रह होनेकी स्थिति। तो यह बात तो सभीको कहना चाहिए कि धर्मके लिए भी पैसा देनेकी बात कही तो भाई कुछ दीनताके परिणाम तो होते ही है, किन्तु उसके साथ एक बात और समझनी है कि कोई पुरुष वास्तवमे निःसंग तो हुआ नही, अन्तरगसे सगका सम्पर्क छूटा नही, ऐसी जिसके वास्तविक निःसंगता नही हुई और वह दानकी बात न कहे दूसरेको भी तो इसमें हीनता होती है।

अब देखलो न दीनता और हीनता। धर्मके लिए भी दूसरोसे धनका दान कहनेमें दोनता होती है, और खुद है परिग्रह सहित और ऐसी स्थितिमें धर्मके अर्थ पैसेकी बात नही करते या नही दिलाते तो उसमें हीनता होती है। बडी गहराईसे आप सोचेंगे तो मालूम पडेगा कि किस ढंगसे हीनता होती और किस ढगसे दीनता? तब निर्णय क्या? अब दोनों ही बातें है। अरे भाई समर्थन भी और अनुमोदन भी तो एक पुण्यकारी भाव है। अच्छा काम कोई कर रहा हो और उसकी सराहना करे, उसे अच्छा माने, तो यह पुण्यकारी भावना है। अच्छा कोई त्याग कर रहा है और उसका समर्थन न करें, तो उसकी हीनताकी मलिनता का वह परिणाम कारण है और देखो कभी किसी मुनिराजको आहार दिया जा रहा हो और कोई उसका समर्थन करता है तो उसे सद्गति प्राप्त होती है, तो त्यागका समर्थन न करे तो मनमें हीनता होती है। मानो अपने लिए तो कोई बहुत बातें चाहे और परोपकारके लिए दूसरेसे कुछ पैसेकी बात न कहे तो उसमें भी उसके चित्तमे हीनताके परिणाम रहते है। जैसे कहो विद्वेषके परिणाम, विरोधके परिणाम, न सुहानेके परिणाम तो ऐसे कलकित परिणाममे बंध नही होता क्या? तो अब देखिये दोनो बातें आ गई सामने कहना भी और

न कहना भी, तब क्या निर्णय है ? निर्णय यह है कि अगर दोनो ही तकलीफोसे बचना है कि न मुझमे दीनता आये, न हीनता आये। तो वह वास्तविक मायनेमे नि संग हो जाय तो फिर उसमे दीनताकी बात न आ सकेगी और न हीनताकी। दुनियासे पृथक् हो जायगा।

सद्व्यवहारकी उपयोगिता—भैया! परिस्थिति सबको समझा देती है। किसीको कोई कितना ही समझाये कि आपको यो करना या यो समझमे तो नही आता और समझावो या न समझावो, बडे हो गए तो अपने आप समझ बन जाती कि किसके करनेमे हमारा कल्याण लाभ है ? तो यह सब व्यावहारिक बात चल रही है। अपना व्यवहार कैसा होना चाहिए और देखो व्यवहार बिना गुजारा होता तो नही, जैसा होना चाहिए। व्यवहार वैसा न करें ऐसा किसीसे नही बनता। करते ही है सब, अगर मुखसे बोलें और तरह, करें और तरह, बस सघर्ष उसका होता है। मुखसे बोलना पडता है सभीको न्याय जैसी बात। पर जिसके अन्दर कषाय बसी है, चेष्टा बनेगी उसके तो उस कषायके अनुकूल चेष्टा बनेगी। क्रोधके समय निर्णय न करें और परोपकारके अर्थ सारा धन खर्च करें और दूसरोंसे भी कहकर धन खर्च कराये तो इसमे न दीनताका प्रसंग आयगा, न हीनताका कर्तव्य निभ जायगा और अगर ये दोनो बातें पसद नही है तो परिग्रह रहित हो जायेगे, फिर दोनोसे छुटकारा हो जायगा। फिर क्या करना है कुछ ? तो अपना व्यवहार कैसा बने ? शान्त बने, क्षमाशील बने, उदार बने, उदात्त बने तो इस दृढ भावनाका जो सस्कार बनेगा वह तो काम देगा, मगर यहाका यह लौकिक वैभवका प्रसग इस जीवके कोई काम न आयगा।

धन, मान, यश भोगादि विषयक तृष्णाकी सीमा होती नही, तृष्णामे विश्राम आराम आनन्दकी झलककी सभावना होती नही, अत हीन ससारी प्राणियोसे सतोषकी शिक्षा लो और आराम करो।

क्लेशविस्तारका कारण तृष्णा—ससारके प्राणी जो दुःखी है वे सब तृष्णाके सम्बन्धसे दुःखी है। तृष्णा होती है परपदार्थोंमे उपयोग जोडनेसे। कर्मोदयका निमित्त पाकर जो अव्यक्त विकार होता है याने नोकर्ममे उपचरित निमित्तमे उपयोग न जुडनेकी घटनामें जो कर्मोदयका निमित्त पाकर अव्यक्त विकार होता है उसकी कुछ चर्चा नही करते, क्योंकि उसमें अपना क्या पौरुष चल सकता है ? बुद्धिपूर्वक विकार न हो एतदर्थ पौरुष करना है। तो उसका उपाय यही है कि इन बाह्य निमित्तोमे उपयोगको न जोडें, मगर हमने परको अपनाया तो उसमें तृष्णाका अनुषग जरूर रहेगा और जहा तृष्णाका सम्बन्ध है वहा संतापकी शान्ति नही हो सकती। तो तृष्णा होती किन-किन चीजोमें ? सो पहली बात तो

लीजिए। भोगकी पञ्चेन्द्रियके विषयोके भोगमें तृष्णा जगती है। जैसे खानेको मै खूब खाऊँ अच्छा बढ़िया रसीला भोजन ऐसी एक तृष्णा रहती है और उस तृष्णामें आनन्द नही है यह तो बात प्रकट है, मगर उस तृष्णाकी सीमा भी नही है। जैसे बताओ पकवान खा लेंगे तो तृष्णा फिर मिट जायगी क्या ? मिठाई खा लेंगे तो तृष्णा मिट जायगी क्या ? जो बहुत बहुत स्वादिष्ट लगती हो उसे खा लिया तो क्या तृष्णा मिटेगी ? तृष्णा तो और बढेगी। तो पंचेन्द्रियके भोगोसे तृष्णा मिटेगी नही, बढेगी, क्योकि तृष्णाकी सीमा नही होती। तब ही तो गुणभद्राचार्यने कहा है कि आशाका गड्ढा, तृष्णाका गड्ढा प्रत्येक प्राणीमे ऐसा अद्भुत है कि इस गड्ढेको पूरा करनेके लिए जितना-जितना विषयोका कूडा करकट भरा जाय उतना ही उतना यह गड्ढा बढता चला जाता है। नही तो दुनियामे जो जमीनके गड्ढे होते है उनमे कूडा करकट भरे तो वे भर जाते है, मगर तृष्णाका गड्ढा तो ऐसा ही विलक्षण है, जितना वैभव आये, जितने साधन मिलें, जितना आराम मिले उतना ही तृष्णाका गड्ढा चौडा होता चला जाता है और उसी तृष्णाके कारण दुनिया दु.खी है।

धन मानकी तृष्णाका दुःखद विस्तार—तृष्णा होती है भोगोमे भोगका साधन है धन सो तृष्णा होती है धनमे और धनमे इतनी तृष्णा बढ जाती है कि जरूरत नही है धनकी फिर भी धनकी अवधि नही रह पाती कि कितना धन जोड लें तो हमको तृष्णा मिट जायगी या सतोष होगा। तृष्णाकी म्याद नही रहती और फिर इतनी भी तृष्णा बढ जाती कि धन का प्रयोजन क्या है—यह भी बात भूल जाती है। धनका प्रयोजन यह है कि जब गृहस्थीमे रह रहे है तो भूख आदिककी वेदनाये नही सता सकती और वे मुझे बरबाद न कर दे, इस लिए उनकी वेदनाओको सिद्ध करनेका साधन होता रहो, धनका प्रयोजन इतना ही है, इससे अधिक कुछ प्रयोजन नही है, लेकिन इस प्रयोजनको भी भूल जाते है। और फिर यह मनमें आ जाता कि मै दुनियामे सबसे बडा धनी कहलाऊ, यह प्रयोजन चित्तमे आ जाता है, फिर इसके लिए सारा जीवन लग जायगा, मगर इस लक्ष्यकी पूर्ति हो नही सकती। तो धनकी तृष्णाकी भी सीमा नही होती। जब सीमा नही है तो जितना कढते चले जायेंगे उससे आगे ऐसा लगता जायगा कि अभी तो कुछ नही है, अभी इतना और चाहिए। तृष्णा होती है मानमे। मेरा सबसे अधिक मान रहे और मै मानमे सर्वाधिक रहू, ऐसा कह सकते है तब जब अन्य सबकी तुच्छता जाहिर हो, यह छोटा है, यह बात जाहिर हो तब अपने मानका बडप्पन रह सकता। मानमे एक तो अपना गौरव चाहिए, इतनी भर बात और एक ऐसा मान जिसमे हो जाय कि दूसरे लोगोकी तुच्छता जाहिर हो, अपनी श्रेष्ठता जाहिर हो। मान की कोई सीमा नही है। करते जाओ तृष्णा, तृष्णामे संतापकी शान्ति नही है। जहाँ तृष्णा

है; वहाँ आराम नही, विश्राम नही, शान्ति नही।

यश कीर्तिकी आकांक्षाका दुःखद विस्तार— तृष्णा होती है यश कीर्तिमे। तो देखो लोग यशकी तृष्णामे ऐसा बढते है कि चाहते है कि मेरा सारे विश्वमें यश फैले। मेरा सदाके लिए यश फैले, सब जीवोमे यश फैले, मगर यह मालूम नही कि दुनिया कितनी बडी है? जितनी आजकी यह परिचित दुनिया है वह तो सारी दुनियाके आगे उतना है जितना कि समुद्रमे एक बूद और फिर उस बूदभर सारी दुनियामें जितनी जगहमें हम रहते है वह कितनी सी है? सारे विश्वमे, सारे लोकमे क्या यश फैल सकता है? यदि इस थोडीसी जगहमे यश फैलानेकी कुबुद्धि मिट जाय तो जीवका भला हो जाय, लेकिन तृष्णा ऐसी रहती है कि जितना-जितना क्षेत्र परिचित होता जाता है उतनी ही उतनी तृष्णा बढती चली जाती है। चाहते है लोग कि मेरा सर्व जीवोमे यश फैले, पर ऐसा हो सकता क्या? सभी मनुष्यो मे भी नही फैल सकता तो और जीवोकी तो चर्चा ही क्या है? २९ अंक प्रमाण पर्याप्त मनुष्य होते है। आजकलके लोग तो कहते है कि दो तीन अरब मनुष्य है। जैसे १० अक रख दिया तो अरबकी संख्या हो गई, उसके बाद और भी ११, १२ आदि १८ अंक तक बनाते गए तो वह शंखकी संख्या हुई। आजकल बस इतनी ही संख्या चलती है, पर इतनी ही सख्या मनुष्योकी नही है, २९ अंक प्रमाण मनुष्योकी सख्या है। हर अकमे १० गुना बढता जाता है, तो २९ अक प्रमाण वाली सख्याका अनुमान तो करो कि वह कितनी बडी संख्या बन जायगी? जरा विचार करो कि लाख, दो लाख, १० लाख मनुष्योमे यश फैले, तो क्या हुआ? मनुष्य कितने है, जीव कितने है और जहाँ यश फैलाया गया वे सब खुद स्वार्थी है, अपने आपका मतलब रखने वाले है, मोही जन है, उनसे क्या मिलता है? वे मेरे प्रभु तो नही, व्यर्थकी बातमें अटककर अपने प्रभुका अपमान करना, तिरस्कार करना, भूला रहना, यह कितना बड़ा भारी अपने आपपर अन्याय है और यशकी, तृष्णाकी अवधि नही हुआ करती, सीमा नही हुआ करती, इसलिए तृष्णामे जरा भी मत पडो।

तृष्णाकी अत्यन्त अनर्थकारिता—लोग तो तृष्णामे अपनी चतुराई समझते है, मगर जीवको दुःखका कारण है तो यह तृष्णा ही है। तृष्णामे विश्राम नही, आराम नही, आनन्द और शान्तिकी झलक भी नही और सम्भावना भी नही है कि तृष्णाका मार्ग अपनाकर कोई शान्ति पासके। तो बिलकुल मोटी सी बात जो सबके सामने स्पष्ट है कि जो मिला सो सब छूटेगा, सब यही धरा रह जायगा। अकेला जीवको ही जाना पडना है? यहाँका संग समागम कुछ सुविधा भी दे सकता क्या? प्रकट बात मालूम है फिर भी कैसा मोहका मद पिये है संसारी प्राणी कि जान रहे कि ये सब बेहोश पड़े है, शराब पीकर इनकी दुर्गति हो

रही है, नालीमे पडे, मुखमे कुत्ते भी मूत रहे, इतना सब कुछ देखकर भी शराबका लोभ है, शराब ही पीता है। ऐसे ही मोहके मत्त पुरुष संसारी जीवोको देख रहे है कि ऐसी विकट स्थितियोंको भोग रहे, कोई कीड़ा बना, कोई पतिंगा बना, कोई पेड बना, कोई पानी बना, कोई आग बना, ये सब ही तो जीव है जैसे कि हम है। तो ऐसी हालत देख रहे है फिर भी अपनी जो पुरानी वासना है उससे नही हटते।

तृष्णाविनाशका आन्तरिक व बहिरंग उपाय—भाई तृष्णाके त्याग बिना धर्ममे कदम नही आ सकता, यह बात पूर्ण निश्चित है। तब तृष्णाको देखनेका कोई उपाय है ना ? हाँ उपाय तो है। एक तो अतरंग अमोघ उपाय–भेदविज्ञान बना लें, मै आत्मा समस्त पर और परभावोंसे निराला एक प्रतिभासमात्र चैतन्य ज्योति स्वरूप हू, मेरा इन बाह्य पदार्थोंसे क्या सम्बन्ध ? इस ओर उपयोग देकर वर्तमानमे भी क्लेश सहू और भव-भवमे रुलते रहनेका भी उपाय रच डालू, ऐसी मुझको क्या पडी है ? तो अंतरग उपाय तो है भेद विज्ञान और बाहरी उपाय एक यह ही बना ले कि जो संसारके ये जीव दिख रहे है दीन हीन खोटी स्थितियोमें रहने वाले गधा, कुत्ता, बिल्ली, सूकर आदिक पशु, पक्षी, कीडे मकौड़े और यह तो एक बडी सुविधाकी बात है—जो सडकपर चलने वाली बीसो सुगरियाँ मिल जाती है किसीकी पीठपर विष्टा पडा, किसीके कानोपर पडा, किसीके मुखपर पडा तो आखिर यह सब क्या है ? यह भी तो अपने ही समान चैतन्यस्वरूप जीव है, उनको देखकर सतोष तो लेवें कि हम तो बहुत अच्छी स्थितिमे है। यह जीव कितना विकट खोटी स्थिति मे है, उनको देखकर तृष्णा दूर करे और ऐसा अनुभव करे कि जो वैभव मिला है वह मुझे आवश्यकतासे कई गुना अधिक मिला है, उतनेकी जरूरत न थी इस जीवनको चलानेके लिए मिल गया, ठीक है, पुण्योदय है, अब आगे की तृष्णा न करें और वर्तमानमे पाये हुए धनको खोटे कामोमें मत लगावें, अच्छे कामोमे उपयोग दें, तृष्णा मिटेगी और तृष्णा मिटने पर बुद्धि व्यवस्थित बनेगी और मोक्षमार्गमे अपना प्रवेश हो जायगा। तो यही एक उपाय बना लो। दिखने वाले इन हीन ससारी प्राणियोसे संतोषकी शिक्षा ले ले, जिसे देखकर शिक्षा मिले वह तो हमारे लिए बडा है, महान् है। कोई बोलकर शिक्षा देता है तो कोई अपनारूप देखकर शिक्षा देता है तो ये संसारकी हीन दशाये अपना रूप दिखाकर शिक्षा दे रही है। इस से सतोषकी शिक्षा ले और अपना जो सत्य आराम है, सहज आनन्द है, बिना बनावटके जो एक सहज आनन्द है उसको प्राप्त करें।

(६५)

अपने आत्महितकी भावना हो तो वर्तमान व भविष्य समृद्ध हो। आत्महितकी

भावनासे चूके तो न यहाँ कुछ मिलेगा, न आगे। सबसे निराले सहज ज्ञानमात्र अतस्तत्वके आश्रयमे हित है।

आत्महितकी भावनामें उभयत्र समृद्धि—लोग हिसाब लगाया करते है कि मै सम्पन्न किस बातमे कहलाऊँ, इतना वैभव जोड लूँ, डिग्री ले लूँ तो सम्पन्न। क्या-क्या नही सोचा करते, अपने आपको समृद्ध घोषित करनेके लिए ? मगर सब जगह खूब निरीक्षण करके समझ लें कि समृद्धि कही बाहरके कीचड लपेटनेसे न बनेगी, किन्तु आत्महितकी भावना हो तो समृद्धि बनेगी। मै अपने को अपनेमे जो चाहे कर पाता हूँ तो यहाँ ही क्यो न वह मार्ग अपनायें कि हम अपने को समृद्ध बनायें। आत्महितकी भावना हो तो देखो वर्तमानमे भी समृद्धि है और भविष्यमे भी समृद्धि रहेगी, जिसका वर्तमान सघर्षमय जीवन हो उसी वर्तमान दशामे कष्टमय जीवन हो और वह चाहे कि मुझे मोक्षमार्ग मिल जायगा, तो मिलेगा या उल्टा संसारमार्गमे बढ रहा। आत्महितकी भावना बिना मुक्तिका मार्ग नही मिल सकता। जिसके आत्महितकी भावना है उसका जीवन बहुत सुलझा हुआ होगा। आप देखते है, रेलगाडीमे सफर कर रहे, आप किसी सीटपर बैठे है और कारणवश आप कही डिब्बेसे बाहर चले जायें, उसपर कोई दूसरा आदमी आपकी सीटपर बैठ जाय और आप आकर कहते है भाई यह हमारी सीट है तो वह अगर सज्जन है तो बडी शान्तिसे उठ लेगा। कही जगह मिली तो वहाँ बैठ जायगा या खड़ा हो जायगा। मगर जो उद्दण्ड लोग है, कोई गुडा आकर बैठ जाय तो वह तो अशान्त कर देगा, कहो आपको भी पीट दे। तो भाई कारण क्या है कि वह गुण्डा है और अगर वह सज्जन है तो बडी शान्तिसे उठकर आपकी सीट आपको दे देगा। तो जब तक इस जीवमे गुण्डापन रहता, कषायोका आदर रहता, अन्यायका आदर रहता है तब तक इस जीवको वर्तमानमे भी शान्ति नही, और जिसको वर्तमानमे शान्ति नही उसको भविष्यमे शान्ति कैसे मिल सकती ? तो शाति चाहते हो तो अपने आत्माकी भावना बनायें। मुझे इस जीवनमे और कुछ न चाहिए। मेरे आत्माका ज्ञान और मेरे आत्माको शान्ति रहे, इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ न चाहिए। देखो वर्तमान जीवन शान्तिमय रहेगा तो अगला जीवन भी शान्तिमय बन जायगा और ऐसी धारा रहेगी तो निकट कालमे मुक्ति पा लेगे।

प्रभुताकी उपादेयताका स्मरण—सर्वोत्कृष्ट शुद्ध उपादेय है तो परमात्मा होना और यह बात हम आप सबमे सम्भव है, किन्तु स्वरूप तो वही एक है जो सहज वास्तविक अपनेमे स्वरूप है, वही प्रभु कहलाता, इसीके पूर्ण विकासके होने को कहते है भगवान होना। भगवान होनेमे कही यह कारण नही है कि ऐसी शोभा हो, ऐसा सिंहासन हो, ऐसे छत्र लगे

हो, ये भगवान होनेके साधन नही, यह तो भक्तजन अपनी भक्ति करते है, उस परमात्म स्वरूपका आदर करते है। और भक्ति इतनी बढ़ी है कि जिसकी जितनी योग्यता है वह वैसी भक्ति करता है। गृहस्थजन है तो छत्र वगैरहसे सजा देते है, जो योगीजन है वे गुणो का स्मरण करके अपूर्व आनंदका रस लेते है, वे छत्र चमर आदिकमे न पडेगे। ऐसी जिसकी जैसी पदवी है उसके माफिक वह अपनी प्रभुभक्ति किया करता है। पर प्रभु तो वह है कि जो आत्माका सहजस्वरूप है वही मात्र विकसित हो गया, चीजका कोई सम्बन्ध न रहा। भगवानके कोई चिन्ह नही होते कि त्रिशूल हो, स्त्री हो, पुत्र हो, भस्म, जटा आदिक लगे हुए हो। भगवानका जो चिन्ह है उसे जो पहिचान जाता है वह कहलाता है मोक्षमार्गी, जान लिया प्रभुका स्वरूप क्या और वह किस उपायसे हो सकता है? हाँ तो इस सबके लिए चाहिए आत्महितकी भावना। आत्महितकी भावना हो तो वर्तमानमे भी समृद्ध है और भविष्य भी समृद्ध मिलेगा। इसलिए जीवनमे जो चाहे परिणतियाँ गुजरें, मगर आत्महितकी भावनासे न चूको। आत्महितकी भावना, सत्य धुन अन्दरमे बराबर रखते रहे, क्योकि यह ही अपनेको शरण है, यह ही अपनेको पार करेगा, दूसरा कुछ पार न करेगा। अगर आत्म-हितसे चूक गए तो न यहाँ कुछ मिला, न आगे कुछ मिलेगा। इतनी तो एक दृढ गाँठ लगा लें अन्दरमें कि मेरे जीवनका लक्ष्य तो मात्र यही है कि आत्महित हो। बाहरी पदार्थोंसे उपयोग हटकर अपने आपके स्वरूपमे मग्न रहे, यह मात्र चाहता हू, और इसी लिए मेरा मनुष्यजीवन है। आत्महित इसीमें है कि जो अपने आपका अपने ही सत्त्वके कारण जो स्वरूप है वह मेरा अंतस्तत्त्व है, जिसको अगर कुछ विशेषतासे समझना चाहे तो ज्ञानमात्र, ज्ञान ही ज्ञानमात्र यह ही स्वरूप है और यह स्वरूप है सहज। जबसे मैं हू तबसे ही स्वरूप है और जब तक मै रहूगा तब तक वह स्वरूप है। यह मैं हू अनादिसे और अनन्त काल तक रहूंगा याने अविनाशी हू---ऐसा यह मेरा ज्ञानमात्र स्वरूप सहज है और सबसे निराला है। शरीर के बधनमे है तो भी शरीरसे निराला है। शरीर यहाँ बैठा रहे तो मै आत्मा आगे कही जा न पाऊँ, शरीर चले तो आत्मा चले, इतना विकट बन्धन होने पर भी शरीरमे शरीर है और आत्मामे आत्मा है। आत्मस्वरूपमें शरीर नही और शरीरस्वरूपमे आत्मा नही। तो ऐसा यह मै ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व समस्त परपदार्थोसे निराला हू, विभावोसे निराला हूं।

विकारोंसे भी विविक्त अन्तस्तत्त्वके परिचयका पौरुष—देखो अन्तरगमे विचारो, मैं विषय कषाय विभाव इनसे भी निराला हू, यह भी समझते है कि नहीं? इसके समझे बिना हमारा भेदविज्ञान न कहलायगा, बाहरी पदार्थोसे भिन्नताका कुछ ज्ञान बढ़ा लेना तो देह- और बिना पढ़े लिखे लोगोके भी सम्भव है। सब जानते है--शरीर निराला, आत्मा

क्योकि यह हंस उडकर चला जायगा, ऐसा सभी लोग बोला करते है, मगर वह भेदविज्ञान उन्हे मिलता जिन्होने भेदविज्ञानसे परमात्मस्वरूपका अवलोकन करके आनन्द पाया है। व्रत संयम आदिक सब सफल होते है, वह सबको प्राप्त नही होता, या प्राप्त तब ही होगा जब इन विकारोसे निराला हूं मै, यह बात समझमे आये। क्यो जी, इस बातके समझनेके लिए प्रधान उपाय क्या है? तो प्रधान उपाय है निमित्तनैमित्तिक भावको समझ। जहाँ यह परिचय हो कि मैं आत्मा तो स्वभावतः सहजस्वरूप हू, इसमे प्रतिबिम्ब, प्रतिफलन, विकार ये कुछ भी नही होते, इनकी तो निरपेक्ष वृत्ति है। सो ज्ञाता द्रष्टा रहना है। अब इसमे जो विकार झलक आया है सो कर्मविपाकका निमित्त पाकर आया है, मेरेमे अपने आपके स्वभावसे नही आया। यह नैमित्तिक है, परभाव है, देखो ऐसा ज्ञान करने पर वहाँसे वृत्ति हट जाती है और अपने आपके स्वरूपमें लग जाती है। तो भाई अपना लक्ष्य बनावें कि मै स्वभावका परिचय करूंगा। स्वभावका परिचय करना ही जब प्रयोजन है तो आपको किसी बातमें विवाद न जचेगा और न कुछ संघर्षका मौका ही मिलेगा और जहां लक्ष्यहीन बन गए वहाँ सारी बातें अटपट होगी ही और कभी अपनेको शान्ति संतोष नही मिल सकता। तो देखो हर उपायसे निश्चयनयकी बात समझकर, व्यवहारनयकी बात समझकर हर एक प्रकारके चिन्तन द्वारा यह पौरुष करें कि मेरेको मेरे ज्ञानमे सहज स्वरूप ही प्रतिबिम्बित हो, ऐसे परसे निराले, परभावसे निराले ज्ञानमात्र अतस्तत्वका आश्रय लें, इस ही मे आत्महित है। आत्महितकी भावना हो तो वर्तमान जीवन भी शान्तिमे गुजरेगा और भविष्य भी शान्तिमे गुजरेगा।

(६६)

ज्ञेयज्ञायकसांकर्यका दुष्परिणाम भाव्य बनकर भोक्ता होना है। तब भाव्य न बनकर वेदक बनते हुए ही भोक्ता बन लो। पश्चात् वेदकता दूर कर मात्र ज्ञायक रह लो, यही सत्यशूरता है।

भाव्य न बनकर वेदकतासे हटकर ज्ञायक होनेके पौरुषका स्मरण—जीव उपयोग स्वरूप है। उपयोगका परिणमन निरन्तर चलता ही रहता है, अथवा कहो चैतन्य परिणाम का जो परिणमन है वह है उपयोग। तो उपयोगका परिणमन तीन प्रकारोमे समझें-ज्ञायक, वेदक और भाव्य। जब यह जीव ज्ञेय और ज्ञायकका विवेक नही रखता, ज्ञेय और ज्ञायकमे संकरता सहित है याने ज्ञेयरूप ही अपने आपको समझता है वहाँ यह जीव कर्मविपाकका निमित्त पाकर कर्मके अनुरूप अपने आपको अनुभवता है। ऐसे अनुभवनको कहते है भाव्य। भाव्यमे कर्मफल भोगा गया, मगर बडी अज्ञानदशाके साथ भोगा गया याने कर्मविपाक हुआ

कर्ममे कर्मका अनुभाग खिला, उसका हुआ उपयोगमे प्रतिफलन और उस समय इस जीवने जिस विषयभूत पदार्थको जाना उन विषयभूत पदार्थोंमे हुआ आसक्त। ऐसी स्थितिमे यह जीव भाव्य बनकर कर्मफलका भोक्ता होता है। सो देखो जब बडी बुरी स्थितिमे फस जाते है तो धीरे-धीरे निकलनेके लिए सोचते है। तो जब कर्मफलके भोगने वाले तो हुए, मगर हुए भाव्य बनकर। तो ऐसी स्थितिमे यह जीव सकुशल नही है। कोई भी समझदार भाव्य बनकर भोक्ता न बने, किन्तु वेदक बनकर ही भोक्ता बन लेवे। वेदक ज्ञानकी सुध होनेपर भी होता है, मगर भाव्य ज्ञानकी सुध होते हुए नही रहता। फलदान देनेमे समर्थ होकर जो सामने आया है उस कर्मानुभागके प्रतिफलनरूप नाना क्रोधादिक विकारके रूपोमे यह जीव अपनेको अनुभवता हुआ कषायोको भोगता है। तो ऐसा भाव्य बनकर भोक्ता नही बना, किन्तु इसकी जो द्वितीय श्रेणी है याने वेदक बनकर भोक्ता बनता है सो उसकी अपेक्षा ठीक है। तो अब भाव्य बनकर, भोक्ता न बनकर वेदक बनकर ही भोक्ता बन ले, पश्चात् वेदकता भी दूर की जा सके प्रबल भेदविज्ञानके बलसे अनात्मतत्त्वको उपयोगसे हटाकर, अन्तस्तत्त्वमे उपयोगको जोडकर वेदकता भी दूर की जा सकी और तब ज्ञायक बनने लगे। ज्ञायक जब बनता है तो यही अपनेको सत्य शरण है और ज्ञायक रह जानेमे ही आत्माकी सच्ची शूरता है। शूरवीरता शारीरिक बलसे न आंकियेगा। मोक्षमार्गमे अथवा आत्महितमे शूरताका अकन होता है ज्ञानबलसे। शारीरिक बलकी शूरता तो बडी विषम होती है। मनुष्यसे कई गुणा बल है भैसोमे, पर भैसेको तो एक ८ वर्षका बालक भी लाठीसे हांकता चला जाता है। लोकमे भी शारीरिक बलसे शूरता माननेकी बात उत्तीर्ण नही होती है और मोक्षमार्गमे तो शारीरिक बलकी कुछ बात ही नही है। यहाँ तो ज्ञानबल चाहिए। तो यह जीव जब ऐसा ज्ञानबल पाये कि यह ज्ञायक रह जाय, वेदक न बने, भाव्यकी तो चर्चा ही क्या, याने केवल विश्वके पदार्थोंका ज्ञाता रहे, जाननहार रहे, उसको अपना कुछ न जोडे, कल्पना न करें, ऐसी स्थिति पाये तो यह कहलाता है कर्मफल टालनेका पौरुष।

(६७)

उपयोगमे कोई भी बाहरी पदार्थ मत आओ। उपयोगमे निज सहज आनन्दस्वभावी ज्ञानमय अन्तस्तत्त्व ही रहो। ऐसे पुरुषार्थपूर्वक क्षण बीतें, इसमे ही मनुष्यभवकी सफलता है।

उपयोगमें बाह्यपदार्थ विषयको न फंसाकर ज्ञानमय अन्तस्तत्त्वका मनन रहनेसे छुटकारेका पौरुष—जीव भाव्य बनकर कर्मफल न भोगे, फिर वेदक बनकर भी कर्मफल न भोगे और जगतके पदार्थोका ज्ञाता मात्र रहे, ऐसी जिसके मनमे धारणा हुई है उस पुरुषके अन्तः यही आवाज होती है कि उपयोगमे कोई भी बाहरी पदार्थ मत आये, क्योकि वेदक बनना

क्योंकि यह हंस उडकर चला जायगा, ऐसा सभी लोग बोला करते है, मगर वह भेदविज्ञान उन्हे मिलता जिन्होने भेदविज्ञानसे परमात्मस्वरूपका अवलोकन करके आनन्द पाया है। व्रत संयम आदिक सब सफल होते है, वह सबको प्राप्त नही होता, या प्राप्त तब ही होगा जब इन विकारोसे निराला हू मै, यह बात समझमे आये। क्यो जी, इस बातके समझनेके लिए प्रधान उपाय क्या है ? तो प्रधान उपाय है निमित्तनैमित्तिक भावकी समझ। जहाँ यह परिचय हो कि मैं आत्मा तो स्वभावतः सहजस्वरूप हू, इसमे प्रतिबिम्ब, प्रतिफलन, विकार ये कुछ भी नही होते, इनकी तो निरपेक्ष वृत्ति है। सो ज्ञाता द्रष्टा रहना है। अब इसमे जो विकार झलक आया है सो कर्मविपाकका निमित्त पाकर आया है, मेरेमे अपने आपके स्वभावसे नही आया। यह नैमित्तिक है, परभाव है, देखो ऐसा ज्ञान करने पर वहाँसे वृत्ति हट जाती है और अपने आपके स्वरूपमे लग जाती है। तो भाई अपना लक्ष्य बनावें कि मैं स्वभावका परिचय करूंगा। स्वभावका परिचय करना ही जब प्रयोजन है तो आपको किसी बातमें विवाद न जंचेगा और न कुछ संघर्षका मौका ही मिलेगा और जहाँ लक्ष्यहीन बन गए वहाँ सारी बातें अटपट होगी ही और कभी अपनेको शान्ति संतोष नही मिल सकता। तो देखो हर उपायसे निश्चयनयकी बात समझकर, व्यवहारनयकी बात समझकर हर एक प्रकारके चिन्तन द्वारा यह पौरुष करें कि मेरेको मेरे ज्ञानमे सहज स्वरूप ही प्रतिबिम्बित हो, ऐसे परसे निराले, परभावसे निराले ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वका आश्रय लें, इस ही मे आत्महित है। आत्महितकी भावना हो तो वर्तमान जीवन भी शान्तिमे गुजरेगा और भविष्य भी शान्तिमे गुजरेगा।

(६६)

ज्ञेयज्ञायकसांकर्यका दुष्परिणाम भाव्य बनकर भोक्ता होना है। तब भाव्य न बनकर वेदक बनते हुए ही भोक्ता बन लो। पश्चात् वेदकता दूर कर मात्र ज्ञायक रह लो, यही सत्यशूरता है।

भाव्य न बनकर वेदकतासे हटकर ज्ञायक होनेके पौरुषका स्मरण—जीव उपयोग स्वरूप है। उपयोगका परिणमन निरन्तर चलता ही रहता है, अथवा कहो चैतन्य परिणाम का जो परिणमन है वह है उपयोग। तो उपयोगका परिणमन तीन प्रकारोमे समझें—ज्ञायक, वेदक और भाव्य। जब यह जीव ज्ञेय और ज्ञायकका विवेक नही रखता, ज्ञेय और ज्ञायकमे संकरता सहित है याने ज्ञेयरूप ही अपने आपको समझता है वहाँ यह जीव कर्मविपाकका निमित्त पाकर कर्मके अनुरूप अपने आपको अनुभवता है। ऐसे अनुभवनको कहते है भाव्य। भाव्यमे कर्मफल भोगा गया, मगर बडी अज्ञानदशाके साथ भोगा गया याने कर्मविपाक हुआ

कर्ममे कर्मका अनुभाग खिला, उसका हुआ उपयोगमे प्रतिफलन और उस समय इस जीवनें जिस विषयभूत पदार्थको जाना उन विषयभूत पदार्थोंमे हुआ आसक्त। ऐसी स्थितिमे यह जीव भाव्य बनकर कर्मफलका भोक्ता होता है। सो देखो जब बडी बुरी स्थितिमे फस जाते हैं तो धीरे-धीरे निकलनेके लिए सोचते है। तो जब कर्मफलके भोगने वाले तो हुए, मगर हुए भाव्य बनकर। तो ऐसी स्थितिमे यह जीव सकुशल नही है। कोई भी समझदार भाव्य बनकर भोक्ता न बने, किन्तु वेदक बनकर ही भोक्ता बन लेवे। वेदक ज्ञानकी सुध होनेपर भी होता है, मगर भाव्य ज्ञानकी सुध होते हुए नही रहता। फलदान देनेमे समर्थ होकर जो सामने आया है उस कर्मानुभागके प्रतिफलनरूप नाना क्रोधादिक निकारके रूपोमे यह जीव अपनेको अनुभवता हुआ कषायोको भोगता है। तो ऐसा भाव्य बनकर भोक्ता नही बना, किन्तु इसकी जो द्वितीय श्रेणी है याने वेदक बनकर भोक्ता बनता है सो उसकी अपेक्षा ठीक है। तो अब भाव्य बनकर, भोक्ता न बनकर वेदक बनकर ही भोक्ता बन ले, पश्चात् वेदकता भी दूर की जा सके प्रबल भेदविज्ञानके बलसे अनात्मतत्त्वको उपयोगसे हटाकर, अन्तस्तत्त्वमें उपयोगको जोडकर वेदकता भी दूर की जा सकी और तब ज्ञायक बनने लगे। ज्ञायक जब बनता है तो यही अपनेको सत्य शरण है और ज्ञायक रह जानेमे ही आत्माकी सच्ची शूरता है। शूरवीरता शारीरिक बलसे न आंकियेगा। मोक्षमार्गमे अथवा आत्महितमे शूरताका अकन होता है ज्ञानबलसे। शारीरिक बलकी शूरता तो बडी विषम होती है। मनुष्यसे कई गुणा बल है भैसोमे, पर भैसेको तो एक ८ वर्षका बालक भी लाठीसे हांकता चला जाता है। लोकमे भी शारीरिक बलसे शूरता माननेकी बात उत्तीर्ण नही होती है और मोक्षमार्गमे तो शारीरिक बलकी कुछ बात ही नही है। यहां तो ज्ञानबल चाहिए। तो यह जीव जब ऐसा ज्ञानबल पाये कि यह ज्ञायक रह जाय, वेदक न बने, भाव्यकी तो चर्चा ही क्या, याने केवल विश्वके पदार्थोंका ज्ञाता रहे, जाननहार रहे, उसको अपना कुछ न जोडे, कल्पना न करें, ऐसी स्थिति पाये तो यह कहलाता है कर्मफल टालनेका पौरुष।

(६७)

उपयोगमे कोई भी बाहरी पदार्थ मत आओ। उपयोगमे निज सहज आनन्दस्वभावी ज्ञानमय अन्तस्तत्त्व ही रहो। ऐसे पुरुषार्थपूर्वक क्षण बीतें, इसमे ही मनुष्यभवकी सफलता है।

उपयोगमें बाह्यपदार्थ विषयको न फंसाकर ज्ञानमय अन्तस्तत्त्वका मनन रहनेमे छुटकारेका पौरुष—जीव भाव्य बनकर कर्मफल न भोगे, फिर वेदक बनकर भी कर्मफल न भोगे और जगतके पदार्थोका ज्ञाता मात्र रहे, ऐसी जिसके मनमे धारणा हुई है उस पुरुषके अन्त यही आवाज होती है कि उपयोगमे कोई भी बाहरी पदार्थ मत आये, क्योकि वेदक व–

पडता है, भाव्य बनना पडता है तब जब बाहरी पदार्थ उपयोगमे आते है। देखो अव्यक्त विकारकी अध्यात्मशास्त्रमे चर्चा नही चल पाती। यहाँ तो बुद्धिपूर्वक जो बात बनी उसकी ही चर्चा होती है। अव्यक्त विकारकी चर्चा एक सूक्ष्म चर्चा है और उसमे अधिकार करणानुयोगका है। अध्यात्मशास्त्रमे तो जिससे व्यवहार चले, काम चले अर्थात् जिसका निवारण करना शक्य हो, उसकी चर्चा चलती है। जहाँ समयसारमे निरास्रव कहा है ज्ञानीको तो अमृतचन्द्रसूरिने स्पष्ट किया है कि 'ज्ञानी हि बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहाभावान्निरास्रव एव।' ज्ञानी पुरुष बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोह न होनेसे निरास्रव कहलाता है और फिर और भी स्पष्ट किया। उसके भी जो अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष चलते है सो वह ज्ञानगुणके जघन्य परिणामसे चलते है और यथाख्यातचारित्र अवस्थासे पहले अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष होना अनिवार्य है, वह चलता ही है। तो अध्यात्मशास्त्र भी बतलाता है कि १०वें गुणस्थान तक रागद्वेष चलता है, मगर वह है अबुद्धिपूर्वक, जहाँ अप्रमत्त दशा है। तो आखिर हुआ क्यो ? इससे बाहरी पदार्थोमे उपयोग भी नही जोडा और वहाँ चल रहा है अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष, तो इसकी वही रीति है कि निमित्तनैमित्तिक भाव बराबर व्यवस्थित चल रहा है। तो जहाँ कर्मानुभाग खिले और उसे उपयोग आत्मरूपसे पकडे वहाँ जो फल भोगा जाता वह कहलाया भाव्य और जहाँ ज्ञानकी सुध भी रहे और कर्मफल भी भोगना पडे वहां कहलाता है वेदक और जहाँ फल भोगनेकी बात ही नही, केवल ज्ञाता रहनेकी बात है वह है ज्ञायक। सो ज्ञायकता ही मेरे रहे, मेरे उपयोगमे कोई भी बाहरी पदार्थ मत फसो।

अन्तस्तत्त्वकी आराधनासे ही मानवजीवनकी सफलता—देखो अन्तस्तत्त्वकी अगर दृढ भावना होगी तो अपन सफल हो जायेंगे। जहा भावना ही नही है वहाँ सफल कैसे हो सकते ? तो बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ बनावे या अन्तरमे भेदविज्ञान करे और ऐसा उपाय, ऐसा ज्ञानका उपयोग बनावें कि बाहरी पदार्थ उपयोगमे न आयें और आयें तो यह हमारा सहज अतस्तत्त्व ही उपयोगमे आये ऐसा साहस बनायें। पौरुष बनाये कि उपयोगमें निज सहज आनन्दमय यह अंतस्तत्त्व ही बसा करे। जैसे कि लोगोके चित्तमे कितने ही लोग बसते हैं ना, कोई जिसको जो इष्ट हो। जिसका वियोग हो वह बसता रहता है। तो जैसे अनेक बाते बसती है चित्तमे उस प्रकार यदि चित्तमे, ज्ञानमे, उपयोगमे यह सहज चैतन्यस्वरूप बसे अनुभवन चले, यह हू मै अविकार स्वरूप तो उस जीवके कर्मफल भोगनेकी नौबत न आयी। ऐसा पुरुषार्थ चले, पुरुषार्थमे ही अपना जीवन जाय तो समझिये मनुष्य जीवनकी सफलता है। जीवके जो कोई प्रसग हो जाता है, मोहपरिणाम बन जाता है, पक्ष आग्रह हो जाता है सो देखो आये तो थे मानो इस मनुष्यभवमे कि संसारके सकटोसे सदा छुटकारा पानेका उपाय

वन जायगा और कर बैठे है यह संसार ससरणकी रीति। तो मनुष्य जीवन वेकार रह गया। फिर तो अपनेमे अपने अंतस्तत्त्वकी आराधना बनावें। एक ही सुनो अन्तस्तत्त्व, एक ही गुनो, उसका ही मनन करो तो यह मानव जीवन सफल होगा।

(६८)

जीवके जन्मव्याधिका रोग सहजात है, अनादिका पुराना है। यह रोग असाध्य तो नही, किन्तु महौपधि द्वारा साध्य है। वह जन्मव्याधिविनाशिनी महौपधि चित्स्वभावकी दृढ आराधना है।

जन्ममरणव्याधिकी अनादि परम्परा—अपने आपको परख करना है कि मै वस्तुत' हू क्या और मुझपर बीत रही है क्या ? दोनो बाते समझनी है। मुझपर क्या बीत रही है, इसको न समझे तो वहाँ भी एकान्त हो जायगा। और मै वस्तुत' परमार्थत. क्या हू ? अपने सहजस्वरूपसे मैं क्या हू, इसको न समझे तो वहाँ एकान्त हो जायगा। दोनो बातें समझनी होगी। मै वस्तुतः हू चैतन्यस्वरूप, जिसमे विकारका कषायका कोई काम नही, अपने सत्त्वके कारण उसका जो भीतरमे स्वरूप है, शक्ति है उसको निरखियेगा। यह मैं हू एक केवल-चैतन्यस्वरूप, अविकार स्वभाव और बीत क्या रही है हमपर ? अनेक विकल्प दु'ख सुख आकुलता आदि व्याधि और इन सब व्याधियोमे प्रधान व्याधि है जन्ममरणकी। जन्म मरण का रोग इस जीवको ऐसा लगा हुआ है कि जैसे शरीररोगमे कहते हैं ना राजयक्ष्मा वगैरा तो जीवके आन्तरिक रोगमे प्रधान रोग है, जन्म और मरण। सो जीवका यह जन्म और मरणका रोग सहजात है याने जबसे जीव, तबसे ही जन्म मरणका इसे रोग लगा है। जैसे कोई जन्मसे ही अंधा हो तो कहते है कि यह तो जन्मसे ही अधा है तो ऐसे ही जबसे जीवका अस्तित्व है याने अनादि कालसे, तबसे ही इसके जन्मव्याधिका रोग लगा है। यह एक बहुत बडी समस्या है। बताओ सबसे पहले अपना मरण हुआ या जन्म हुआ ? आप कहेगे कि जन्म हुआ तो इससे पहले मरण न था क्या ? आप कहेंगे कि मरण हुआ तो इससे पहले जन्म न था क्या ? क्या कहेगे आप ? सबसे पहले हमारा मरण था या जन्म ? बस इसीको कहते है एक अनादि परम्परा। अच्छा और बताओ पेड़ होते ना, नीमका, वडका आमका तो यह बतलाओ कि पहले पेड था या बीज ? अगर कहोगे कि पेड था तब वह बीज बिना पेड़ कैसे हो गया ? और आप कहे कि बीज था तो पेड बिना बीज कहाँसे आ गया ? पेडसे पहले बीज और बीजसे पहले पेड और बोलते जावो, इतना समय जिन्दगीमे कहाँ रखा ? सारे जीवन भर बोल लो, पर कहानी पूरी न हो पायगी। यह कहलाती है अनादि परम्परा।

अच्छा बताओ इस दुनियामें सबसे पहले बेटा था कि बाप था ? अगर कहो कि बेटा था तो बाप बिना बेटा कहाँसे आ गया और अगर कहो कि बाप था तो वह भी बाप बिना कहाँसे आ गया ? बापोकी सतान थी। मेरा बाप था, उस बापका भी कोई बाप था। बताओ क्या कभी कोई ऐसा भी बाप था जिसका बाप न रहा हो ? नही था ना ? तो ऐसे ही जन्म व्याधिकी बात सोच लो। जन्मव्याधि अनादिकालसे थी, इसे बोलते है जीवका सहजात। ऐसा यह जन्मव्याधिका रोग बहुत अधिक पुराना है। यह कितना पुराना है ? जबसे जीव तब से ही यह व्याधि। अगर जन्मव्याधिके बिना जीव था पहले तो जन्मव्याधि लग कैसे गई ? कोई कारण ही नही हो सकता। तो जन्मव्याधिका रोग यह अनादिका पुराना है। बहुत पुराना रोग है।

जन्ममरणकी अनादिव्याधिके विनाशका उपाय चित्स्वभावकी आराधना—अगर तपेदिकमे तीन वर्ष हो जायें तो लोग बोलते कि अब तो यह असाध्य है, उसकी तीन सीढियाँ होती है, तो कहते है कि पहली सीढी तो सुगमतया दूर होती है, दूसरी सीढी दुःसाध्य है और तीसरा नम्बर पा लिया वह तपेदिक तो असाध्य है। ३-४ वर्षका पुराना तपेदिक असाध्य बताते है और यह जन्म मरणकी व्याधि तो अनादिकालसे लगी है। तो बताओ यह कैसे दूर हो ? हाँ यह बात ऐसी है कि भले ही अनादि कालसे रोग है जन्मव्याधि, यह असाध्य नही, किन्तु उपाय करेंगे तो यह व्याधि मिट सकती है। अच्छा चलो करो उपाय। यह जन्मकी व्याधि मिट जाय—इसका उपाय है जन्मव्याधिरहित सहज चैतन्यस्वरूपमे 'यह मै हू, ऐसी भावना पुष्ट होना, यह है उसकी औषधि, तो आप कहेगे कि इस औषधिको खाने पर भी तो जन्मव्याधि बहुत दिन तक रहती है, सो रहो कुछ भव, मगर मिटकर रहेगा। जैसे बीमार आदमीको आज वह औषधि दी और आज ही वह बिल्कुल ठीक हो जाय, लोग ऐसी आशा तो नही रखते। इलाज चलता रहता है, मिट जायगा रोग, अनुकूल औषधि चल गई तो। ऐसे ही चित्स्वभावकी आराधना हो तो जन्म मरणके नाशकी बूटी मिल गई, उस का पान भी किया जा रहा है और कुछ असार नजर आने लगे कि हाँ यह जन्म मरणका रोग मिट जायगा, क्योकि भेदरहित, विकल्परहित विशुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव हो जाता है ना, तो उस अनुभवके पानेसे इस ज्ञानीको यह सब आस्था पुष्ट हो गई कि जन्म मरणके रोग दूर हो सकते है। तो जन्ममरणकी जो व्याधि अनादि कालसे जीवके साथ लगी है, उस व्याधिको नाश करने वाली महान औषधि है तो यह चैतन्यस्वभावकी दृढ आराधना। यह जीव अचेतन तो है नही कि इसकी मलीमसता साफ करनेके लिए कोई दूसरा पुरुष आये।

चौकीपर कूडा लग गया है तो चौकी अचेतन है वह अपने आप क्या साफ कर सके ? सम्पर्क हो गया है कूडेका तो कोई पुरुष कूडा और चौकी स्वरूपका विवेक करके अच्छी सफाई करता है। अचेतन है, उसका ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग बनता है, पर यह जीव तो चेतन है, इसमे जो आने वाले विकल्प है उनको दूर करने कौन आयगा ? खुदको ही दूर करना होता है। उसकी औषधि है सहज ज्ञानस्वभावकी उपासना, आराधना।

सद्व्यवहारके विरुद्ध रह कर ज्ञानाराधनाकी असंभवता—भैया! आत्महित करें उपासना अन्तस्तत्त्वकी। और सोचे ज्ञानभावकी उपासनाका प्रयत्न करके भी लोग सफल क्यो नही हो पाते कि उनकी अनादि कालकी वासना विषयोके प्रति लगी हुई है, सो यह मन स्वच्छन्द हो जाता है और बारबार उसमे विघ्न आता है। तो उस आक्रमणको विफल करने के लिए यह ही तो उपाय बताया है कि विकारके उपचरित निमित्तमे हम उपयोग मत जोडें, इसीका नाम है व्यवहार धर्म, इसीको कहते है चरणानुयोगकी प्रक्रिया, जो आश्रयभूत बाह्य पदार्थ है उनका परिहार करें। देखो यह बाह्यवस्तुका आज त्याग कर दिया, तिस पर भी विकल्प छूट ही गया, यह नही कह सकते, मगर त्याग किए बिना विकल्प छूटता नही। चाहे बाह्यत्याग करने पर भी विकल्प न मिटे। विपाक तीव्र बने तो, मगर एक भी उदाहरण ऐसा न मिलेगा कि जो बाह्य पदार्थोका त्याग किए बिना इस जीवने मुक्ति पायी हो। वहाँ कोई पूछ सकता है कि ज्ञानको ज्ञानस्वभावमे लीन करना है। यह तो सारा भीतरका काम है। इसमे त्यागकी क्या बात है ? कोट, बूट, सूट भी पहने हो और भीतरमे ज्ञान-स्वभावकी आराधना बनायें तो मुझे मुक्त हो जाना चाहिए। भले ही जूते पहने हो, टोप लगाये हो, पर ज्ञानको ज्ञानमे ही तो सोचना है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोकी एकताको ही तो मोक्षमार्ग बताया है। फिर क्या आवश्यकता है कि कपडे भी त्यागें, घर भी त्यागें ? तो भाई भगवन्तोने यह बताया है कि बाह्य भेष रख लिया, द्रव्य-लिग पा लिया, उसकी मुक्ति होगी ही ऐसा नियम नही है। लेकिन द्रव्यलिंग पाये बिना मुक्ति नही हो सकती—यह नियम जरूर है। अंतरंगका वह विकास इस अनादिकालकी वासनाको लिए हुए जीवमे कैसे त्वरित हो जाय, विषयवासनायें सताती है, तो उनको आवश्यकता हो जाती है कि वे बाह्यपदार्थोका त्याग कर दे ? देखो जिस चीजसे क्लेश होना है वह चीज सामने बनी रहे उसके क्लेशकी बात देखो और उसकी चीजको कही हटा दें, उसके सामने ही न जायें। हठ करके बाहर रहने लगे तो उसके विकल्पकी बात दिखे। चाहे मूलसे नष्ट न हो, फिर भी विकल्पमे अन्तर अवश्य ही आता है और लोग अहानेमे कह देते है ना कि न देखें, न भोकें। तब फिर कोई कष्ट ही नही है। तो बाह्यपदार्थोका परित्याग करना अपनी शक्ति

माफिक आवश्यक है। इसीको कहते है व्रत नियम सयम तो यह जीवनमे तो रहना अच्छी बात है।

व्यवहारचारित्रमें रहकर व्यवहारचारित्रको गौण कर ज्ञानाराधनामे लगनेका अनुरोध—अब यदि अज्ञान बस रहा तो भीतरमे अज्ञानको टालनेका उद्यम भी कर लें, भेद-विज्ञान करे, वस्तु स्वरूपका सही ज्ञान करें, भीतरका भी काम करें। इस जीवने एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पशुपक्षी नर नारकादिक पञ्चेन्द्रियमें, देवो तकमें इन्होने सयमवृत्ति नही प्राप्त किया, योग्यता ही नही, पा ही नही सकते। अब गाय, बैल, भैसोसे पूछो कि भाई तुम्हारे जीभ लगी है और हमारी जीभसे तुम्हारी ८ गुनी लम्बी जीभ है, पर जैसे हम बोलते है, भाषण करते है, समझाते है, कविता गाते है, अरे एक आध दिन तुम भी तो उसी तरहसे बोलकर सुना दो तो क्या वे सुना देंगे ? नही सुना सकते। अरे भाई उनकी ऐसी पर्याय ही है कि उनके ऐसी भाषा बोलनेकी पात्रता ही नही है। तो इसी प्रकार नारकी, देव, पक्षी और एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक तिर्यञ्च—इन तीन गतियोमे व्रत और संयमकी पात्रता नही होती, संज्ञी तिर्यंचमे भी सकलसयमकी पात्रता नही। एक मनुष्यभव ही ऐसा है कि जिसमे सयम धारण करनेकी पात्रता हो सकती है। अगर अज्ञान है और सयम भी धारण न किया तो यह मानव जीवन पाना भी व्यर्थ रहा। शास्त्रोमे भी बताया है कि "कोटिजन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म भरै जे, ज्ञानीके छिन माहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।" हाँ इस तरह बताया तो गया, पर इसमे मुनि मुनिको समझा रहे, जरा उन शास्त्रोकी बात देखो आज श्रद्धाहीन क्यो बन रहे ? भाई जो बात मुनि मुनिको समझाते थे उस बातमे हम श्रावक अपनेको समझाने लगे, इससे श्रद्धामे कुछ अन्तर पडता ही जायगा। जो व्यवहार-चारित्रमे ही लगे है उन मुनियोको खूब डाट फटकार की गई कि तुम इस ही मे लगे रहोगे तो मोक्षमार्ग नही पा सकते। उसका अर्थ यह नही कि व्यवहारचारित्र छोडकर तुम हमारी बताई ज्ञान–आराधनामे लग जावो, किन्तु उसका अर्थ यह है कि तुम मुनि हो तो मुनि बने रहो, पर तुम ज्ञानाराधनाकी मुख्यता रखो और ज्ञानका अनुभव करके अपना जीवन सफल करो। है उपदेश उन मुनियोको और उनकी मान्यता बना लिया अपने को कि व्यवहार चारित्रके लिए तो बहुत डाट फटकार दिखाया है कि हेय है, इसको छोडो, अरे व्यवहार-चारित्रमे लगे हुएको फटकारा है। व्यवहारचारित्रसे हटे हुएको फटकारनेकी बात इसमे नही है। कुछ तीर्थ प्रवृत्तिके लिए भले ढगसे पहले यह बात सोचिये और अपने पर अपनी व लोकसमूह के कल्याण अकल्याणके वातावरणकी जिम्मेदारी समझकर प्रवृत्ति करिये। जो प्रवृत्ति चली आयी अपनी दिगम्बर जैन आम्नायमे साधु सतोकी वह संशोधितरूप है व्यवहारसयममे चल

कर कीजिये अपनी ज्ञानाराधना और ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि करनेकी मुख्यता दीजिए। तो बात यहाँ यह कही जा रही कि जन्म व्याधिके विनाशकी करने वाली औषधि चैतन्यस्वभावकी आराधना है, मगर चैतन्स्वभावकी आराधनाके हम पात्र बनें, इसके लिए कुछ सदाचार धारण करना आवश्यक है। अब कोई झूठ लेख लिखे, झूठ दस्तखत करे, गहनेकी चीजें चुराये, सोना-चाँदी बदले, अनेक प्रकारके अन्याय हो, मनमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इनकी वासनायें रहे, ऐसा आचरण खोटा हो और चाहे कि ज्ञानकी आराधना बन जाय तो वह गप्प मात्र है। जितना कर सके, जितना बन सके, प्रमाद न करें, बढ़ें, इस ओरसे भी बढें, भीतरसे भी बढें, आखिर काम तो आयगी भीतरकी बात, मगर उसके पानेका उपाय क्या है इस सम्बधमे, सो भाई व्यवहार संयम भी रखो और अन्तः ज्ञानाराधना बनाकर उस ज्ञान-सयमकी अपनी योग्यता बनावें, सब तरहसे अपने आपको तैयार रखे। इस जन्म व्याधिसे अपने आपको मुक्त होना चाहिए।

(६९)

निज सहज ज्ञानस्वरूपका मात्र जाननरूप परिणमनमे संकट नहीं। कर्मविपाकके प्रतिफलनसे सम्पर्क जुडनेपर ज्ञानका विकल्पपरिणमन ही संकट है। कर्मविपाक और ज्ञान-वृत्ति——इनमे भेदविज्ञान करना अमृतपान है।

संकटमुक्तिके अभिलाषियोको अवश्य ज्ञातव्य तीन बातें—ससारमे संसारी जीवोपर सकट ही सकट छाये नजर आ रहे है, और सभीकी यह आकांक्षा है कि मुझपर कोई सकट न रहे। तो इस आकाक्षाकी पूर्तिके लिए तीन बातोका निर्णय आवश्यक है। सकट क्या है। सकट कहाँ नही है और सकटके मिटनेका उपाय क्या है ? जब तक सही न मालूम पड़े कि यह कहलाता है सकट, तो उस संकटको मिटानेकी आकाक्षा ही कैसे बनेगी ? और जब तक यह न मालूम हो कि सकट कहाँ नही है तो जहाँ सकट नही वहाँ पहुचनेका प्रयास कैसे किया जा सकेगा ? और सकटोके मिटनेका उपाय ही ज्ञात नही है तो सकटोके दूर करनेका उपाय कैसे किया जा सकेगा ? कारण कि जो संकटोसे मुक्ति चाहते है उनका कर्तव्य है कि वे इन तीन बातोका निर्णय कर लें। इस लोकमे सकट क्या है ? किसे सकट कहते है और यह सकट कहाँ नही है और इन सकटोसे दूर होनेका उपाय क्या है ? इन तीन बातोका विवरण इस निबन्धमे किया गया है।

संकटका रूपरण—अब पहले यह सोचो कि संकट क्या है, हम क्या है ? उपयोग स्वरूप। मेरा काम जाननेका है, जाननेके अतिरिक्त और कुछ काम कर नही पाते। यह तो

अज्ञान है, भ्रम है कि मैने मकान बनाया, दूकान बनायी, लडकोको पढाया या जो-जो भी विकल्प किया, विकल्प ही है, जीव तो अमूर्त है, उपयोगरूप है, वह इन मूर्त बाह्य पदार्थोंपर कर क्या सकेगा ? जैसे आकाश कही परपदार्थोंको चलाता नही और परपदार्थोंके चलनेसे आकाश चलता नही, आकाश तो बाह्य पदार्थोंसे निराला ही स्वरूप रखता है, इसी प्रकार इन सब बाह्यपदार्थोंसे निराला ही मेरा स्वरूप है उपयोगरूप। तो यह बाह्य पदार्थोंमे कुछ नही कर सकता। यह तो अपना उपयोग परिरामन करता है। तो उपयोगका परिरामन जब विकल्परूप होता है, विकल्प किया, कल्पना किया कि मेरा यह अच्छा, यह बुरा, तो ज्ञानकी ही तो कोई प्रकारकी परिणति बनी। तो जब ज्ञानका विकल्परूप परिणमन होता है तब वही सकट कहलाता है। भले ही यह जीव उस ज्ञानविकल्परूप परिणमनसे अनभिज्ञ है और उसे सकट समझ नही पाता तथा उस विकल्परूप परिणमनमे जो बाह्य पदार्थ आश्रयभूत हुआ उस बाह्य पदार्थके रहने, न रहने या किसी प्रकार परिरामनेसे यह सकट समझता है। वास्तवमे तो उपयोगका ही विकल्परूपसे परिणमन हो जाना सकट कहलाता है।

विकल्परूपसे परिरामनकी निष्पत्तिका काररा—अब इस बातपर विचार करें कि ज्ञानका विकल्परूप परिरामन होता क्यो है ? जब ज्ञान ज्ञान है, एक ज्योति है, एक प्रतिभास है तो प्रतिभास होनेरूप इसमे विकल्प और संकट क्यो बन जाते है ? तो पहले यह जानना होगा कि यह जीव मात्र अपने आपके निमित्तसे यह विकल्परूप या सकटरूप नही बनता, क्योकि वस्तुमे यह स्वभाव ही नही है कि कोई वस्तु अपने आपसे अपनेमे परकी अपेक्षा न करके विकल्परूप परिणम जाय, ऐसा वस्तुमे विकारका स्वरूप नही है, तो यह समझना होगा कि मुझमे किसी अन्य पदार्थका या अन्य भावका सम्पर्क जुड गया, सम्बन्ध बन गया, जिससे कि यह विकल्पजाल उठता है तो उस सम्बन्धके भी दो किस्म है—एक तो किसी परवस्तुका सम्बन्ध और दूसरा है अपने उपयोगमे किसी प्रतिफलनका, मायाका सम्पर्क। तो देखो यहाँ जो अनादिकालसे कर्मबन्धन चले आये, इस जीवने पूर्वकालमे जो कर्म बाँधा उस कर्मका तो है इसके साथ संयोग सम्बन्ध। यह हुआ परद्रव्योका सम्पर्क। और उस कर्मका जब अनुभाग खिलता है तो उस अनुभागका प्रतिफलन हुआ उपयोगमे तो अब कर्मविपाकके प्रतिफलनका सम्पर्क जुड गया उपयोगमे, बस यह है मूल काररा कि जीवके विकल्परूप सकट उत्पन्न हो जाते है।

अब यहाँ दो बातें निरखनी है कि मेरा स्वभाव तो है प्रतिफलन उपयोग, प्रतिबिम्ब, विकल्प, संकटसे रहित और कर्म उपाधिका सम्बन्ध है। इस कारण ये सारी विपत्तियाँ चल

रही है। जब इस प्रकार देखते है कि मै तो हू अविकारस्वरूप और इसमे कर्मविपाकका प्रतिफलन हुआ है तो मार्ग मिलता है कि यह प्रतिफलन तो परभाव है। उससे उपेक्षा करके निज अविकार स्वभावको निरखना चाहिए। यह बात मिलती है, सकट कैसे होता है इसका निर्णय वाले ज्ञानमे ? अच्छा तो संकट तो हुआ इस तरहके कर्मविपाकका प्रतिफलन। और उस प्रतिफलनका उपयोगमे सम्पर्क जुडा, उपयोगने नही जोडा सम्पर्क, किन्तु जुड गया। जैसे अजीव अजीव पदार्थोंमे कोई पदार्थ अपना सम्बन्ध जोडता नही, किन्तु जुड जाता है। तो यो उपयोगमे कर्मविपाकके प्रतिफलनका सम्पर्क जुडा तब ज्ञानमे विकल्परूप सकट बन गया।

संकटसे विविक्त धामका दिग्दर्शन—अब यहाँ देखिये कि यह संकट कहाँ नही है ? यदि यह विश्वास हो कि यह संकट न रहे, ऐसी भी स्थिति बनती है तब तो संकट न रहे इसका उपाय किया जा सकता। तो है ऐसी स्थिति कि जहाँ विकल्परूप संकट नही होते। देखो ऐसी बात दो जगहमें दिखती है—एक तो कार्यसमयसार अरहतसिद्ध भगवानमे, वहाँ विकल्परूप सकट नही, मगर भगवानका आलम्बन तो हम नही कर सकते, क्योकि वे परपदार्थ है। तो दूसरी बात देखिये अपने निजमे निज बसा हुआ अन्तःप्रकाशमान कारणसमयसार। निज सहज ज्ञानस्वरूप मात्रका जानन जब होता है तब समयसारका परिचय होता है तो वहाँ रह जाता है मात्र जाननरूप परिणमन। तो ऐसे अपने स्वभावके अवलम्बनसे होने वाले उपयोगके परिणमनमे कोई सकट नही है। देखो जहाँ सकट नही है वहाँ अपनी गति हो सकती है। ज्ञान द्वारा ही तो ज्ञानस्वरूप प्रतिभासित होता है कि यह मै सहज ज्ञानस्वरूप अपने आपके सत्त्वके ही कारण खुद जो बन रहा है उस स्वरूपमे विकार नही है, कष्ट नही है, प्रतिफलन नही है। वहाँ तो केवल एक जाननरूप वृत्ति चलती है। देखो भले ही उपयोगमे विकल्प कष्ट चल रहा है, मगर उसकी यहाँ मनाई की जा रही है। दृष्टिबल ही तो है ऐसा। जब अन्तर्दृष्टि करके अपने आपमे सहज ज्ञानस्वरूपका अवलोकन हुआ तो उसमे नियमसे सकटरहित स्थिति होती है।

संकटसे छुटकारा पानेके उपायमें कर्तव्य—यहाँ तक समझे कि सकट क्या है और सकट कहाँ नही है ? इन दो बातोको जानकर अपनेको क्या करना चाहिए कि सकट वाली स्थितिसे हटकर सकटरहित स्थितिमे पहुचे, ज्ञानकी चेष्टा, ज्ञानका व्यापार, यो कर्मविपाक और ज्ञानवृत्तिका भेदविज्ञान करना—यह है उपाय सकटोके दूर करनेका। इस उपायको करने का नाम है अमृतपान करना। कर्मविपाक अजीव है और ज्ञानवृत्ति निज चेतनाकी वृत्ति है। इन दोनोमे तो बहुत अन्तर है। उस अन्तरको समझे और उस अन्तरका ज्ञानमे प्रयोग करें

तो ससारके विकल्पजन्य संकट हटते है और नि संकट आत्मस्वरूपमे अपना प्रवेश होता है, यह ही कहलाता है अमृतपान । इस आत्ममग्नतारूप अमृतके पीनेसे, इस भेदविज्ञानके करनेसे स्पष्ट अन्तर आता है और अपने आपके स्वरूपका आलम्बन मिलता है । वह अमृतपान ही कहायेगा जिसका पान करके जीव अमर हो जाता है । तो वह अमृत कही बाहर नही रखा, कोई फलसा या पानीसा हो, ऐसी बात नही है, क्योकि हो कोई ऐसा अमृतफल जिसको खाने से अमर हो सकते हो तो जब उसे खाया तो पहले तो वह ही बरबाद हुआ, मिटा, उसकी दुर्दशा हुई, तो जो स्वय ही नष्ट हो वह मुझे क्या अमर कर सकेगा ? पहले वह अमृत फल अपने आपको तो अमर करले, फिर दूसरेको अमर करनेकी बात बने । तो वह नही है अमृत । अमृत है अपने भीतरका ज्ञान, यह ज्ञान जगे तो वही कहलाया अमृतपान । ऐसा अमृतपान करके उपयोगके विकल्परूप सकटको समाप्त कर देना चाहिए ।

(७०)

मुझे तो सिद्ध ही होना है, ऐसे निर्णयसे सतोष मार्गपर विहार होने लगता है । परपदार्थ व परभावकी उपेक्षा होनेपर सतोष सुतराम् ही हो जाता है, साथ कुछ रहता नही । संतोषबलसे शान्त हो लो तो बुद्धिमानी है ।

ज्ञानीका सिद्ध होनेका प्रतिज्ञापन—यह जीव ऐसी स्थिति चाहता है कि जिसमे सतोष मिले, अपने सतोषको पानेके लिए ही जीव नाना प्रकारकी चेष्टायें करता है, सो किया तो है सब कुछ, लेकिन सतोष तो न मिला, ऐसे सबके अपने-अपने अनुभव बता रहे होगे । बहुत बहुत चेष्टायें कर लेनेपर भी सतोष प्राप्त न हुआ तब फिर कौनसा काम करना चाहिए जिससे कि सतोष प्राप्त हो ? प्राप्त भी न हो, किन्तु सतोष मार्गपर चलने तो लगे, इतना ही कोई ज्ञानप्रकाश हो तो उस प्रकाशसे अपनेको सत्पथ मिलेगा । तो संतोषमार्ग पर चलने के लिए क्या पौरुष चाहिए ? सीधी बात यह है कि अपनेमे यह निर्णय होना चाहिए कि मुझे तो सिद्ध ही होना है । मुझे क्या होना है—इसकी बात हर एक जीवमे बनी रहती है । रोजकी बात, महीने भर बादकी बात, वर्षों बादकी बात चित्तमे अभीसे समाई रहती है कि मुझे यह बनना है । अच्छा तो पहले ससारकी सारी स्थितियोके बारेमे विचार करलें कि मुझे यह बनना है और उसका फल भी देख लो क्या सतोष मिल जायगा ? न मिलेगा और अब जरा अपने भीतरमे अपने इस अन्दरमे पायी हुई प्रभुतासम्पन्न निज समयसारको देख लो और उसके दृढ निरखनसे बनते है सिद्ध भगवान । जैसे यहाँ यह अकेला स्वरूप है वैसे ही वह सिद्धालयमे अकेला स्वरूप है । सिद्ध होनेमे ही सकट मिटता है, सकट न रहे तब हो सताप

मिलता है तो यह निर्णय बनायें कि मुझे तो सिद्ध होना है और कुछ नही होना है और किसी फंदमे नही रहना है। मुझे तो सिद्ध ही होना है, ऐसा निर्णय जब आ जाता है तब उस जीवका संतोषमार्गपर विहार होने लगता है। सही मार्गपर ले जाना ही एक सही उद्देश्यको पा लेनेकी निशानी है। चलना सरल हो जायगा जब हमे किसी मार्गपर चलना है यह निर्णय बन जाय कि मार्ग यही है, उसपर जितना चलेंगे उतना ही संकट मुक्त होते जायेंगे और उतनी ही दूर ससार होता जायगा। तो यह निर्णय बनायें पहले कि मुझे तो सिद्ध ही होना है। देखो इसके खिलाफ लोगोकी कितनी भावनायें वासनाये रहती हैं ? मुझे तो ऐसा सम्पन्न होना है, मुझे तो बाल-बच्चो वाला होना है, कितनी ही बातें चित्तमे अज्ञानी जनोके बसी रहती है। तो जैसे अज्ञानी जन अपने आपमे बडी दृढताके साथ अपने आशयके अनुरूप संकल्प बनाते है, पर्यायको आपा मानते है तो वे ऐसा मानते तो मानने दो, किन्तु ज्ञानी पुरुष तो अपने आपमे अन्त.प्रकाशमान सहज स्वभावरूपसे अपना निर्णय रखते है और उसके विकासकी याने सिद्ध होनेकी भावना रखते है तो उसका सतोष मार्गपर विहार होने लगता है।

संतोषका साधन पर व परभावकी उपेक्षा—अब देखिये, संतोष मार्गपर आये ही है कि सब कुछ अनाकुलताकी विधि दिख गई और जब संतोप मार्गपर विहार होने लगा तो इस जीवका सम्यक्त्व दृढ हो जाता है। सतोष होता किस तरह है ? उसकी विधि एक है,जो परपदार्थ है अथवा परभाव है उनकी उपेक्षा हो जाय, ये मेरे नही, मेरे हितरूप नही, ऐसे पर और परभावके विषयमे उपेक्षा जग जाय तो संतोप स्वयं हो जाता है, पर और परभावकी उपेक्षा होनेसे सतोष क्यो होता है ? यो होता है कि असतोषका बीज वही था क्या ? पर-पदार्थकी ओर लगाव करना और परभावकी ओर लगाव करना, यह ही संतोषमे बाधक था। जहाँ यह लगाव दूर किया कि जीवमे सतोष स्वय स्वतः आ जाता है। असतोष नही वहाँ, सतोष है। सतोष नही वहा असंतोष है। यह स्थिति तो हुई साधारणतया गृहस्थजनो को और जहाँ उपेक्षा हुई वहाँ सतोष है, यह घटना बनती है बुद्धिमान जनोकी।

अच्छा पर और परभावके लिए उपेक्षा क्यो नही करते ? जिनसे हम परेशान है उनसे हम उपेक्षा क्यो नही करते ? करना चाहिए उपेक्षा। तव यह समझमे आयगी कि अनर्थ परपदार्थमे लगनेसे है। उनका लगाव मिटायें, सतोप स्वतः हो जायगा, और मोटी बात भी तो निरखते जावो, जब दुनियाके समागममे आये हुए पदार्थोंमे कुछ भी साथ नही रहना है तो क्यो नही संतोष करके शान्ति पानेको बुद्धिमानोमे चलते ? कल्पनासे अपना

लिया है कि यह मेरा है, अब इतना धन हो गया, इतनी बात हो गई, पर वस्तुतः इस जीव का सम्बन्ध नही है किसीसे कुछ भी । यह तो अपने आपमे ही कल्पनायें करता और दुखी होता है, साथ कुछ रहना तो है नही, कुछ दिन और जी लें, कुछ दिन और मौज लें, मगर कुछ भी वस्तु सदा नही रहती और निजके स्वरूपमे किसी प्रकारकी आकुलता नही है । तब हे अनन्त प्रभु, क्यो नही सन्तोष बल लगाते ? सन्तोष लायें, शान्त होवें, इसीमे अपनी बुद्धिमानी है, इसके लिए करें परपदार्थ और परभावसे उपेक्षा और उपेक्षा तब ही बनेगी जब अपना यह निर्णय बन जाय कि मुझे कुछ नही करना है, सिर्फ सिद्धभगवान होना है । सबसे निराला जो अपना ज्ञानस्वरूप है उसकी उपासनामे ही सतत रहना चाहिए, यह निर्णय बनाये कि मुझे सिद्ध होना है और ये बीचके निर्णय मत रखें कि मुझे धनिक होना, विद्यावान होना, प्रतिष्ठावान होना आदिक विकल्प न रखें । मुझे तो सिद्ध ही होना है, यह एक परिज्ञान अपना रहेगा तो प्रोग्रामके अनुरूप अपनी वृत्ति चलेगी, और यह मुक्ति स्वय अपने आप होगी । कोई दूसरा मुक्ति दिलाने न आयगा । भगवानका स्मरण तो सदा मुक्त ज्ञायक स्वभावका परिचय पानेके लिए है । सन्तोष मिलेगा, साता मिलेगी, शान्ति मिलेगी तो अपने स्वभावमे 'यह मै हू, **ज्ञानमात्र हू**' ऐसा अपने आपका निर्णय बनायें तो शान्ति मिलेगी ।

(७१)

कोई भी जीव वस्तुतः परपदार्थसे लगाव कर ही नही सकता है । उपयोगमे प्रतिफलित कर्मविपाकसे ही लगाव बनाया जाता है । यह तो निजके घरकी बात है, अपने स्वरूप को सम्हाल लो, सब सम्हल गया ।

निजमे विभावके लगावसे निजकी विडम्बना—हम आप ससारी जीव जो कुछ कष्टमे नजर आ रहे है तो ऐसा ही मालूम होता है कि हम किसी बाहरी चीजमे अपना उपयोग लगाते है और कष्ट हो होता है याने जितने भी कष्ट है वे हम बाहरी पदार्थोमे लगाव किए है इसका कष्ट है । किसी प्रकारका लगाव न हो, कोई भी बाह्य पदार्थ चित्तमे न बसे तो क्या कोई कष्टका रूप बन सकता है ? कष्ट जब बनता है तो किसी न किसी बाहरी पदार्थके विकल्पमे कष्ट बनता है । न हो विकल्प तो कष्ट नही, ऐसा यद्यपि नजर आ रहा, फिर भी परमार्थदृष्टिसे देखें तो किसी भी बाह्य पदार्थमे मेरा लगाव हो ही नही सकता, क्योकि भिन्न द्रव्यमे भिन्नका लगाव नही बनता । मै चेतन हूं, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हू । बाहरी पदार्थ वे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है । मेरा उन पदार्थोमे लगाव कभी सम्भव नही है, फिर भी जो बोल जाते है कि बाह्य पदार्थमे लगाव रखनेसे कष्ट है । उसका अर्थ है कि बाह्य

पदार्थके बारेमें अपनेमे विकल्प करके कष्ट किया जाता है। तो वास्तवमे मेरा किसी बाह्य पदार्थमे लगाव नही हो सकता। तब फिर हमारा कही लगाव है क्या ? या है ही नही। हाँ लगाव तो है, पर बाहरी पदार्थमे लगाव नही बनता। तो कहाँ है लगाव ? कर्मका उदय हुआ, कर्ममें अनुभाग खिला, और उसका प्रतिफलन, प्रतिबिम्ब उपयोगमे आये तो हम लगाव रखते है उपयोगके प्रतिफलनसे। सो यह भी लगाव हम जानकर नही करते, किन्तु ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि कर्मके अनुभागका उपयोगमे प्रतिफलन हुआ तो उसका प्रभाव अपने आपमे होता है, यो उपयोग लगता है। यहाँ एक बात और समझ लेनी है, भीतरमे दो बातें हुई—कर्मविपाक और कर्मविपाकका प्रतिफलन। सो विकारका लगाव तो प्रतिफलनमे है, पर कर्मविपाकमे नही, और उस प्रतिफलनमे बुद्धिपूर्वक नही, किन्तु निमित्त उपादानमे जितना सम्बन्ध होता है उस नातेसे उस प्रतिफलनमे लगाव है। बस जहाँ यह लगाव है वहां ही इस जीवको कष्ट होता है। यह लगाव कैसे मिटे ?

निजकी संभालसे निजकी विडम्बनाकी समाप्ति—देखो किसकी बात कही जा रही है ? क्या यह दूसरे गाँवकी या दूसरे घरकी बात कही जा रही है ? अरे यह तो अपने खास निज घरकी बात है, शरीरकी भी बात नही है। शरीर भी परघर है, पर निजके जीवके जो आत्मप्रदेश है वह निज घरकी बात है। शरीर भी परघर है, पर उसके जो आत्मप्रदेश है वह निज घरकी बात है। यहा ही प्रतिफलन है, यहां ही उपयोगका लगाव है, यहा ही तो परिणामका भोगना है, सब कुछ यहां हो रहा है। अपराध भी मुझमे, फल भी मुझमे, सर्व कुछ मेरे निज प्रदेशमे हो रहा। तो जब यह अपने निज घरकी ही बात है तो यहा क्यो न अपनी सभाल कर लूं ? घरको सभाल करना तो सरल है ना, परघरकी सभाल नही कर सकते, पर अपने घरकी संभाल तो बन सकती। तो अपना घर है अपने जीवका प्रदेश, जीव का स्वरूप, जीवका निज क्षेत्र। तो यहा ही अपनी सभाल कर लीजिए। मैं ज्ञानमात्र हू, ऐसा निर्णय करें। इस ज्ञानस्वरूपमे ही अपना अनुभव करना, ऐसी सभाल अगर बन सकी तो समझ लीजिए कि सब सभल गया और एक अपने आपके स्वरूपकी सभाल न बने तव समझो कि मैने कुछ भी नही सभाल पाया। तो अपना यह निर्णय बनायें कि मै किसी बाह्य पदार्थमे लगता नही, किन्तु अपनेसे ही कषाय बना बनाकर मै दु:खी होता हू। सो कल्पनाको छोडे और स्वयं सहज जो अपनेमे ज्ञानानन्दका अनुभव हुआ बस वही रहे तो वही ससारके समस्त संकटोके नष्ट करनेका उपाय है।

(७२)

ज्ञानमे खेद असम्भव है, बाह्यसे खेद आता नही। खेद तो उपयोगमे प्रतिफलित

कषायके आग्रहसे ही है। कषायका आग्रह न करो, स्वरूपका आग्रह करो, खेद सब समाप्त।

अकषाय आत्मस्वरूपके मननसे खेदका समापन—खुद-खुदका तो अनुभव सब करते हैं, मगर यह तो बताओ कि खुदको पाला पोषा किसने है, खुदको उत्पन्न किसने किया, खुद पर छाया, छत्रछाया किसकी है ? इस विषयमें कुछ विचार तो करें। देखो ज्ञानमे खेद तो सम्भव नही, याने आत्मामे, आत्मस्वरूपमे खेद सम्भव नही है। वह तो प्रभुस्वरूप सो वह जानता रहे, देखता रहे, प्रतिभासता रहे, इतना ही काम है। तो जैसे खेदसे खिन्न रहते है लोग, जिस खेदसे विडम्बना, आपत्ति और एक समस्या मानते है लोग वह खेद ज्ञानमे तो सम्भव है नही, और बाह्यसे खेद आता नही, दोनो बातोको समझ लीजिए। मेरे आत्माका जो स्वभाव है, स्वरूप है, प्रतिभासमात्र ज्ञानस्वरूप उसमे तो खेद है ही नही और बाहरी पदार्थोंसे खेद आता नही। किसीने देखा हो कभी कि किसी बाह्य पदार्थसे खेद निकलकर जीवमे आया हो और यह जीव उससे खिन्न हो रहा हो, ऐसा किसीने देखा हो तो बताओ। होता ही नही। मै ही स्वयं खेदरूप परिणम जाता हू, अज्ञानरूप परिणम जाता हू। मगर मेरे स्वरूपमे खेद नही, स्वभावमे खेद है नही, और बाहरसे खेद आता नही, तब समझनेके लिए क्या समस्या उपस्थित होती है कि फिर यह खेद है क्या चीज ? इसकी जड कहाँ है ? हाँ नही है, कही जड नही है, कोई खास चीज नही है, फिर खेदका निर्माण कैसे हुआ ? तो यों बना खेद कि जो कर्मोदय आते है उनमे कषायें जगती है, वे कषायें आत्मामे झलकी और उस कषायका कर लिया इस जीवने आग्रह। यह ही मै हू। इस भावसे ही मेरा बडप्पन है। ऐसा इस जीवने कषायमें कर लिया एक अपनायत तो बस कल्पनासे यह उपयोग खेदरूप परिणम जाता है। तब यह खेद न रहे और आत्मा शान्त विश्राममे रहे, उसका उपाय है कुछ क्या ? हाँ उपाय है। कषायोंका आग्रह मत करें स्वरूपका आग्रह करे, आग्रह मायने हठ। आग्रह मायने उसको ही पकडकर रह जाना। कषाय जगी, किसकी कषाय थी, किसका कषाय परिणाम था मूलमे ? कर्मका। सो वह कर्म कही स्वरूप रूपसे कर्म नही है, किंतु हमारे ही विभावका निमित्त पाकर वह कर्म बँध गया था। कब ? खरबो वर्ष पहले और वे अनगिनते वर्ष पहलेसे बँधे बँधे पड़े रहे, और आज उनका उदय हुआ, विपाक झलका, तो वह क्या है ? कषाय प्रकृतिमे कषाय थी, वह कषाय झलकी। उस कषायका इस जीवने कर लिया आग्रह। यह ही मै हू, अज्ञानी जीवना कैसा आग्रह रहता है पर्यायमे कि उसने एक क्षण भी तो तका नही कि यह हू मै विशुद्ध ज्ञानस्वरूप। तक लें तो सम्यग्दर्शन हो जाय, तो यह जीव अब तक कषायोका आग्रह करता आया, कषायोको नही छोडना चाहा। जैसे बिल्ली कोई शिकार कर ले चूहा पकड ले तो लोग उसपर डडा भी बरसाते, पर वह चूहेको नही

छोड़ती, ऐसे ही ससारी जीवोंने कषायोका आग्रह करके एक दुःख पाया है और उस दु.खमे इस पर डडे वरषते है मायने अनेक विडम्बनायें विपत्तियां आती है फिर भी यह मोही जीव कषायोका आग्रह किए है, कषायोको छोड नही सकता। यह ही विपत्तिका कारण है। कष्टका कारण है कषाय छोड दें तो कष्ट न रहेगा। लेकिन जब अज्ञान छाया है। यह समझ बनाये है कि यह मेरा अमुक है, इसको मै जानता हू। ये सब मुझे पहचानते है। मेरे रगमे भग न हो, ऐसा सोचकर जो कषायोका आग्रह किया जा रहा बस इसीसे दुःख है। कषायोका आग्रह तज दें, स्वरूपका आग्रह करें, अर्थात् मै क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायोरूप हू ऐसा अपना अनुभव मत बनाये, मै इन विकारोसे भी रहित केवलज्ञानमात्र हूं, यह भावना दृढ करें।

(७३)

सकट तो है, मगर वहुत वडी उलझन हो तो हिम्मत हारो। उलझन तो अन्दरमे वहुत नही, सिर्फ अभिमुखताके जरासे फेरकी है। प्रतिफलित कर्मविपाकके अभिमुख न होकर स्वभावके अभिमुख होओ, उलझन सब खतम।

संकटरहित निज स्वरूपकी अभिमुखतामे उलझनोकी समाप्ति—सब जीवोको कष्टसे, सकटसे दूर होनेकी बात मनमे पडी है। सभी सोचते कि कष्ट दूर हो, और उसके लिए प्रयत्न भी करते, मगर कष्ट दूर नही हो पाता, इसका कारण क्या है ? कारण तो यही है कि कर्म कर्मोदयमे आये, उसका प्रतिफलन हुआ और यह जीव ज्ञानस्वरूपसे चिगा और मलीमस परिणतिको अपनाता है, सकट बनते है। सो देखो सकट तो है, सब जीव अपनेमे कोई न कोई सकट लिए हुए है, किसीको सुख समृद्धि है तो भी वह संकट मानता है। किसीको कष्ट है, क्लेश है तो वह भी सकट मानता है। तो संकट तो है इस संसारमे, मगर यह सकट कोई बहुत बडी उलझन नही है, अगर यह बहुत बडी उलझन होती तो हिम्मत हारो कि अब मैं क्या कर सकता हू, मगर सकटका होना कोई बडी उलझन नही। कैसे उलझन नही सो परख लो अदरसे। उलझन यहां है यहां बहुत ? सिर्फ उपयोगकी अभिमुखतापर आधारित है सकट, यह सब बडी उलझन कुछ नही, उपयोगको बाहरमें रखें, अभिमुख करें तब ही है उलझन और अपने स्वरूपकी ओर अभिमुखी करें तो उलझन सब समाप्त हो जाती है सो कुछ बडा उलझन तो नही है। कितना सरल काम है—इस उपयोगको बाहरमे घुमावें तो संकट है, उलझन है और अपने स्वरूपमे लगावें तो कष्टका काम नहीं, उलझन कुछ है ही नहीं। तो अपनी उलझन कोई खास नही है। हम आपमे केवल एक ज्ञानको अभिमुख करने भरकी कला है मूलमे, तब फिर क्यो न अपने आपमे समाकर इन उलझनको समाप्त कर दें। हो

क्या रहा है अन्दरमे कि यह विकार प्रतिफलित कर्मविपाककी ओर हो अभिमुख है याने उसके विषयभूत बाहरी पदार्थोंमे यह उपयोग लदा हुआ है। सो यही उलझन है। कर्मविपाक जो कि आत्मामें झलका उस ओर मत बढें, वहाँ उपयोग न लगावें, वहाँ अभिमुखता न हो और स्वभावमे अभिमुखता आये तो सारी उलझन समाप्त हो जाती है, क्योकि उलझन कोई बाहरसे नही आयी। भीतरमे ही राग किया, द्वेष किया, इष्टबुद्धि की, किसीको अनिष्ट माना, ऐसा जब मैं अखड ज्ञायकस्वरूप होकर भी धीरता नही रख पाता, बाहरी पदार्थोंमें उपयोग जोडते है, यही है अपनेपर एक संकट और उलझन। सकटरहित निज स्वरूपको सभालें तो उलझन समाप्त।

संकटोंका मूल भ्रम—देखो—जब तक भ्रम है तब तक सकट है। जहाँ भ्रम नही है वहाँ सकट नही रह सकता। जैसे एक दृष्टान्त लो—एक कुम्हारका गधा गुम गया था, वह अपने गधेको ढूढने निकला। उसी दिन हुआ क्या कि कुछ थोडी बरसात हो रही थी तो एक कच्चे घरमे पुरुष बात कर रहे थे। घरमे पानी टपक रहा था, चू रहा था। उसके बारेमे बात कर रहे थे कि देखो उतना हमे शेरका डर नही है जितना हमे टपकेका डर है। पानी टपक रहा था। यह बात सुन ली एक शेरने कि हमसे बडा कोई टपका हुआ करता है, जिस-से लोग तो डरते है और हम नही डरते। सो शेर कुछ भय खा गया कि टपका तो कोई मुझ से भी बडी चीज है। कही यह टपका मुझपर न आ जाय। तो वो घबडाया हुआ शेर बैठा हुआ था रात्रिको ९–१० बजे और उसी समय वह कुम्हार अपने गधेको खोजता हुआ चला। डडा हाथमे था, रस्सी भी साथमे लिए था। सो जैसे ही कुम्हारको कुछ नजर आया अधेरेमे कि यह तो मालूम होता है कि गधा है, सो वह तो निःशक होकर चला गया और उसके कान पकडे। था तो शेर, पर समझा गधा। तो जब समझा कि गधा है तो अब डर काहेका रहा? सो उसके कान पकडे और शेर यो समझ बैठा कि लो मुझपर अब टपका आ गया, सो डरके मारे जैसा कुम्हार नचाये सो नचे। रस्सीसे बाधा और चला। पहुच गया जहाँ बहुतसे गधे बधा करते थे, वहां जाकर बँध गया, कायर बन गया और जहा कुछ उजेला हुआ और शेरने देखा कि अरे मै तो यहा गधोके बीचमें बंधा हुआ हू, ये तो सब गधे है, सो उसको ऐसा बल जगा कि भीतरकी रस्सी-पस्सी सब तोडकर छोडकर छलाग मारकर जगलमे चला गया। तो जैसे टपकेका भ्रम लगने से शेर जैसा शूर भी कुम्हारके वशमे पहुच जाता है, ऐसे ही विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी परमात्मस्वरूप होनेपर भी भ्रमवश यह अनेक विपत्तियां मानता है और दु.खी होता है। सो जितने भी दु ख होते है ये दु ख कोई उलझन नही है। जब तक अपने स्वरूपको नही सभाला तभी तक ये उलझनें कहलाती है। जहाँ अपना अनुभव किया कि मै

तो शुद्ध चैतन्यमात्र हू, वहाँ फिर इसको कष्ट नही रहता । तो करनेका काम यही है अहर्निश, इसीका उद्यम बनाये कि ऐसा अनुभव जगे कि मै तो सिर्फ ज्ञानमात्र हू । जिस बच्चेपर सकट आता तो उसे माँ की खबर आ जाती और माँ की ही ओर भागता है, ऐसे ही जब जब भी अपनेपर संकट आये तब तब अपने स्वरूपकी दृष्टि दें और उस स्वरूपकी ही शरणमे पहुचे तो सकट तो बाहर दुःख तो है और जब अन्तरमे एक ज्ञानस्वरूप अपने आपको निरखा तो वहाँ कोई सकट नही । ऐसा ही अनुभव बने कि मै ज्ञानमात्र हू, ज्ञानघन हू, मै सहज आनन्दमय हू, ऐसे अपने उस दर्शन ज्ञान चारित्रके विषयमे कुछ चिन्तन करें, कष्ट दूर हो जायगा । तो देखो अपने आपमे हमपर कष्ट आये या आनन्दमे हम रमे, यह जरासे फेरका फर्क है । इसमे कोई ज्यादह फेरकी बात नही । बैट्रीसे अगर पूरबको उजेला है और उसे पश्चिमको करना है तो बैट्रीमे तो फर्क बहुत आयगा, फेर बनेगा बहुत, मगर आत्मामे उपयोगके फेरके लिये देशान्तरका फेर नही बनता । कुछ जरा सा ही फेर है अभिमुखताका । तो जरासे फेर को समाप्त करे, अपनेमे अपना ज्ञानबल प्रकट करें, ये सब उलझनें समाप्त हो जायेगी । इनमे चित्त देनेके लिए मनुष्य जीवन नही है, किन्तु अपने स्वरूपका निर्णय करके उस ही मे मग्न होनेके लिए यह जीवन है ।

(७४)

राग तो दबी आग है जिससे अदर-अंदर तो जलते रहते, बाहर मौज मानते । अन्दर की जलन व बाहरकी मौजके कारण रागसे दोनो ओरसे प्रगतिमे रुकावट रहती है । 'राग त्यागि पहुचूँ निज धाम । आकुलताका फिर क्या काम ?'

राग द्वेषकी आग—अब यहाँ देखो जगतके जीव परेशान हो रहे है तो राग और द्वेषसे । जब द्वेष पैदा होता है अन्तरमे तो यह जीव बहुत सतप्त होता, झुलस जाता और जब राग होता है किसी चीजके प्रति तो यह नही समझ पाता कि मैं झुलस रहा हू, क्षुब्ध हो रहा हू और हो रहा है दु खी । तो बडे दु खोमे भी मुकाबला बनायें कि जिस दुःखको हम दु ख मान ले और दु ख भोग रहे हो वह दु ख बडा है या जिस दु खको हम दु ख ही नही समझ पा रहे है और दु खमे ही रम रहे है वह दु ख बडा है । ससारका सुख दु ख ही है । उसको दुःख न मान सके कोई अज्ञानी और उस ही मे लिप्त रहा करे तो यह तो दुःख भोगनेसे भी बुरी बला है । तो यहाँ यह बात जाननी है कि क्लेश होते है रागसे और द्वेषसे, मगर राग तो है दबी आग और द्वेष है खुली ज्वाला । तो राग दबी आग है, तो इससे यह जीव अन्दर ही अन्दर झुलसता रहता है । इससे क्या स्थिति बनती है कि यह जीव बाहरमे तो मौज मानता है और अन्दरमे इसको बड़ी जलन उत्पन्न होती, आकुलता रहती, व्यग्रता

रहती, हम दुःखी रहे और अपनेको दुःखी न मालूम करें ऐसी स्थिति तो बडी भयकर होती है। ऐसा हो सकता है क्या ? हां होता ही तो है। जगतके जीवोको ऐसी बात बनती ही तो रहती है। जैसे कि मिर्चसे जीभ जल रही है और फिर भी मिर्च खानेमे कष्ट नही मानते, उमग रखते है और अधिक मिर्चकी चाह करते है। यो ही समझ लो कि संसारके सुखोका जितना भोगना है वह सब है कष्ट क्लेश, पर उसे क्लेश नही मानते और उस ही सुखको पानेकी तरस लगाये रहते है। तो देखो किसीके रागभावकी पकड हो, राग हो रहा हो तो दोनो ओरसे इसके मोक्षमार्गकी रुकावट है। कैसी रुकावट कि राग होने पर बाहरमे मौज मानते, सो बाहरसे रुकावट हो गई। अन्दरमे यह चल रहा है, व्यग्र हो रहा है सो यह अदर से मोक्षमार्गकी रुकावट है।

समतामृतसेवनसे राग आगका शमन—रागभाव यह सचमुच आग है, यह जीवको जलाता रहता है। उसकी औषधि है समतारूपी अमृत। तो अमृतका पान करके इस रागके सतापको दूर कर दिया जाय तो फिर इस जीवको कष्टका नाम न रहेगा। भावना भायें— 'राग त्यागि पहुचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ?' रागको छोडकर जो मेरेमे कर्मकृत विकार झलकता है उसकी अपनायत तजकर ज्ञानमे आस्था न रखकर अगर यह मैं अपने धाममे पहुचूं याने मेरे स्वरूपमे अपने आप जो एक सहज प्रतिभास है उसमे ही 'यह मै हू, ऐसा अनुभव करता रहू तो वहाँ आकुलताका फिर क्या काम रहता है ? हम करते है राग और दु खी होते है और रागको छोड नही सकते। बच्चोके कारण भी तो बहुत दु ख होता है कि नही सुबहसे शाम तक ? और देखो तब ही बच्चेको पीटते भी रहते है, झल्लाते भी रहते है, गाली देते रहते है, कष्ट ही कष्ट तो पाते हैं। पर भीतरमे है राग। अगर राग न हो और ऐसा कष्ट मिले तो बच्चेको छोड़ देनेमे किसे हिचकिचाहट होती ? दुःखी भी होते जाते और राग भी करते जाते, यह स्थिति होती है मोह दशामे। तो जब तक रागका परिहार न होगा, अपने आपके ज्ञान प्रकाशका अनुभव न होगा तब तक यह जीव अपने खास आराम के महलमे नही पहुच सकता। याने आत्माकी विशुद्ध परिणति रूप जो आनदधाम है वहाँ नही पहुचता और आकुलता भोगता रहता है। तो एक यह निर्णय बनावे कि मै तो रागको छोडकर अपने शान्तिधाममे पहुचूंगा और मुझे अन्य किसी भी प्रकारकी आवश्यकता नही है। सो इस दबी राग आगसे छुटकारा पाकर अपनेमे अन्त प्रकाशमान सहजज्ञानानन्द अमृत का पान करे और समग्र आकुलताओसे अपनेको हटा लें। यह काम किया जा सके इस मनुष्यभवमे तो बुद्धिमानी है, और राग द्वेष मोह ये ही करते रहे, जैसे गधे, कुत्ते, सूकर आदि कर रहे है तो उससे इस मनुष्यभवमे कौनसी विलक्षणता समझी जाय ? इसलिए निर्णय

बनाये कि 'राग त्यागि पहुंचूगा निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम।'

(७५)

न इकतरफा क्रोध करो, न दुतरफा क्रोध करो, क्रोध करो ही नही। क्रोधसे बुद्धि बिगडती है, बिगडी बुद्धिमे विपदा आती है। अपने अविकार शान्तस्वरूपको ही अपना सर्वस्व समभकर इसी अन्तस्तत्त्वकी भक्ति करो।

कषायोके आग्रहसे हुई परेशानीसे शान्तिका विघात—आत्माकी भलाई शान्तिमे है और शान्ति मिलती है मुक्तिमे, अनाकुलतामे और अनाकुलताका उपाय है अपने विशुद्ध सर्व-विशुद्ध अर्थात् समस्त पर और परभावोसे निराला जो सहजस्वरूप है उस स्वरूपमे 'यह मैं हू' ऐसी भावना, ऐसा ज्ञान, ऐसा ही उपयोग बना रहे तो इस रत्नत्रयके प्रतापसे भव-भवके बाँधे हुए कर्म दूर हो जाते है और मुक्ति प्राप्त होती है, पर जो आत्मज्ञान, आत्माचरणकी धुन बनाये है उसका जब पहले विषयवासनाके वातावरण थे तो वह वातावरण बदलता है और व्यवहार चारित्रके वातावरण आते है। अब जो अनिवारित है, आता ही है उसके प्रति विवाद कर ले और मूलमे उद्देश्यको भूल जायें, एक तो यह जीवको मुक्तिके मार्गमें विघ्न है। दूसरे तत्त्वको भूल जायें, तीर्थ और तत्त्व—ये दो जब तक चलते रहेगे तब तक सन्मार्ग मिलेगा। यदि तीर्थको मिटा दें तो तत्त्वकी पात्रता न रहेगी। तत्त्वको मिटा दें तो तीर्थ न चल सकेगा। जिसमे कि अनेक जीवोके कल्याण होनेकी सम्भावना हो। हाँ तो देखो अपने व्यवहार आचरणमे चलते हुए, भीतरमे अपने स्वरूपको निरखते हुए एक शान्तिमे अपनी प्रगति करना, भगवान महावीर और और अनेक तीर्थंकर मुनिराज निर्वाणको प्राप्त हुए तो उनका आत्मा अब सदाके लिए शान्त निराकुल कल्याणमय हो जाता है, यही चीज हम आपको हो सकती है, पर इसमे कषायका आग्रह कर लिया, इस कारण यह ससारमे रुलता है। कषायका आग्रह किया, क्रोधका आग्रह, क्रोधसे दुःखी होते जाते और उस क्रोधको ही पसद करते। मानका आग्रह, जो मैंने समभा सो ठीक, मैं ही महान, शेप सब तुच्छ। तो अपने आपकी पर्यायमे अहबुद्धि करके मानका आग्रह किया जाता है—छल, कपट, मायामे दु खी हो रहे है कपटोकी वजहसे और उन कपटोका जाल ही गूँथा जाता है। और लोभका रंग कितना कि कोई धर्मप्रसग हो अथवा कोई दीन दु खी तडफ रहा हो, ऐसा देखकर भी और पाये हुए फाल्तू पैसेका त्याग न कर सके, यह है लोभका रग। जिसको जितना पैसा मिला है वह फाल्तू है, मुफ्त है, आत्माका उससे सम्बन्ध नही है। यह तो पूर्वकृत पुण्य कर्म का, कर्मविपाकका सम्बन्ध हो, जो समागम मिला उसमे क्या आत्मबुद्धि करना ? तो यो यह

जीव कषायोके आग्रहसे परेशान है ।

समाजपर वर्तमान दो संकट—कषायोके आग्रहकी परेशानी कब छूटे ? जब आत्मा मे सद्बुद्धि आये, सम्यग्ज्ञानका प्रकाश हो, सुबुद्धि आये तो कषायोका आग्रह छूटेगा । यह बात मानकर चले कि मेरा जिम्मेदार केवल मै ही हू, अगल बगल सग साथी दोस्ती आदिक का चक्कर न लगायें, क्योकि मेरा कोई दूसरा मददगार नही । खुदके किए हुए कर्मोका फल खुदको ही भोगना पडता है । तब अपने आपपर दया करके कषायोका आग्रह छोडना चाहिए । देखो आज समाजपर दो संकट छाये है एक तो छाया है सकट जिसे कहते है दहेज वह है लौकिक विरूप, जिसकी वजहसे समाज परेशान है । सभी घर घर परेशान है । मगर वह बढता ही जाता है । यह है लोभके रगकी प्रकृति । दूसरा सकट छाया है यह कि कोई जैन साधुसंत जन व्रत लेवें, नियम लेवें तो उसे पापी कहकर घृणा करना, ऐसी कुबुद्धिको फैलाने वाला एक विभाग बन गया, यह उससे भी बडा सक्ट है । इन दो संकटोसे समाज परेशान क्या, बरबाद होने वाला है । तो कुछ थोडा विचार करें, लोभका रंग त्यागें । जो मिलता है सो भाग्यसे मिलता है, जो नही मिलता सो नही मिलता । किसी दूसरेके देनेसे कही धन अधिक नही बढ जाता और दूसरा सकट टाले, मान कषायका त्याग करें । गुरु, साधु सत व्रती तपस्वी समाजमे न हो तो समाजमे कोई आदर्श न मिलेगा और फिर ऐसे ही भटकते रहेगे । तो ऐसे समयमे भाई जो धर्मके विरुद्ध आग्रह करते है तो गृहस्थ होकर उसका तो कुछ उपाय करना ही पडेगा, मगर क्रोधके वशीभूत होकर उपाय न करें ।

क्रोधपरिहारकी उपयोगिता—धर्मके विघातके विरुद्ध अपना उपाय तो बनावें, किंतु किसी भी समय क्रोध न करना । न एक तरफसे क्रोध करे, दूसरा अन्याय करते है धर्मके विरुद्ध धर्मका विनाश करना चाहते है तो भी क्रोध न करे । शान्तिसे जो उचित है वह अपना उपाय करें । प्रथम तो ऐसी भावना भरें कि विरोधी जनोमे सद्बुद्धि जगे ताकि उनके आत्माका कल्याण हो और भावी अनेक संतानें होगी उनका भी कल्याण हो । क्रोध जीवकी बरबादी करने वाला भाव है । क्रोध किसी समय मत करे, विवेक करें, विवेकसे अपने आप की रक्षा, समाजकी रक्षा, धर्मकी रक्षाका उपाय करें । एक तो होता है आधारमे धर्मका अनुराग, जो आधार हो वही प्रसग कहलाता है । तो धर्मके प्रेमसे, धर्मके अनुरागमे आकर सब कुछ करें । क्रोध भी आयगा, किन्तु धर्म प्रसंगके आधारमे है वह । पर मूलमे एक क्रोध का ही लक्ष्य बनाकर मत करे । अपना जगतमे कोई बैरी नही है । सर्व जीव समान है, पर जब कुबुद्धि छा जाती है किसीपर तो उसको उल्टा ही उल्टा सूझता है । फिर देव, शास्त्र, गुरुका विनय नही रहता है । अपने आपकी पर्यायका अभिमान हो जाता है, तो यह सब कर्म

की लीला है। किसी जीवका अपराध नही है वह अपने स्वभावसे, ऐसा जानकर भीतरमे सबके प्रति क्षमा रखे और हाँ धर्मका विछोह हो, धर्मका विनाश हो, विध्वंस हो तो वहाँ अपने कर्तव्यका पालन करें, क्योकि धर्मके विध्वसके समय कर्तव्यका पालन न करे तो कहलाता है कायरता और क्रोध मूलमे रखकर कोई बात करे तो वह कहलाता है अविवेक। न तो अविवेक बनावें और न कायरता बनावे। मूलमे क्रोध मत करें, क्योकि भीतरमे यदि क्रोधका अंधेरा छा गया तो उसमे बुद्धि बिगडती है और बुद्धि बिगडनेमे विपदा आती है। तो कषायोसे वचनेका उपाय क्या है ? तो मूल उपाय है अविकार शान्तस्वरूपको ही अपना सर्वस्व समझें, उससे प्रीति रखें और उस अतस्तत्त्वकी भक्ति करें।

(७६)

इष्टके अलाभमे होने वाले विषादसे इष्टलाभमे होने वाला मौज अधिक भयकर है। विषादमे तो आत्मप्रभुकी सुध रह सकती, मौजमे प्रभुकी सुध नही रहती। जहाँ आत्मप्रभुकी सुध नही वहाँ भव-भवमे रुलाने वाला कर्मबन्ध होता है।

इष्टालाभजन्य विषादसे इष्टलाभजन्य मौजकी अधिक भयंकरता—देखो अनादिकालसे भटकते भटकते आज हम मनुष्यभवमे आये, इससे पहले अनेक भव पाये, सभी भवोमे विषयो के साधन मिले, उन विषयोके साधनोमे इष्ट बुद्धि की, उन विषयोके साधनोमे उपयोग लगा कर मौज माना, वही करते आये भव-भवमे और उस इष्टबुद्धिमे बाधा हुई तो क्रोध किया, बस यही रागद्वेषकी संततिमे अनन्त भव बिता डाले, इष्ट न मिले तो खेद किया, इष्ट मिले तो मौज किया, बस ये दो ही व्यापार अनादिसे इस जीवके चले आये है। इसके अतिरिक्त अन्य व्यवसाय कुछ सीख ही नही पाया, भले ही मुखसे बोलें, अमुक व्यापार करते, ये सैकडो तरहके धधे, मगर सैकडो तरहके धधे नही कर रहा यह। यह तो दो ही धधोमे लगा है। यह जीव हर समय रात दिन कोई अपनी मनचाही चीज मिल जाय तो मौज मानता और मनमानी चीजमे बाधा आये तो विषाद मानता, बस ये ही दो धधे करता आया यह। तो इसमे बतलावो कौनसा धधा बढिया है जिसमे इस जीवको नफा मिलता हो ? इष्टका लाभ मिले, मौज मिले यह धंधा अच्छा है क्या ? अथवा इष्ट चीज न मिले, विषाद हो रहा, यह धधा अच्छा है। प्राय. करके लोग जल्दीमे यह कह सकते है कि इष्टका लाभ मिले, शान्ति आये, आनन्द मिले, मौज मिले, यह धधा अच्छा है, और इष्ट न मिले, वहाँ विषाद रहे यह धंधा अच्छा नही, लेकिन विचार करके समझे तो दोनो ही धधे नुकसानके है इस जीवके लिए। इष्ट चीजके मिलनेसे मौज मानते है यह भी नुकसान वाला धधा है और इष्टके न मिलनेसे विषाद हो यह भी धधा नुकसानका है, क्योकि आकुलता दोनोमे है। मौजकी आकु-

लता तो ऐसी भयानक है कि आवृ न्नित होते जाते और आकुलताका पता नही पाडते और विषादका धधा प्रकट आकुलताका धधा है। फिर भी यदि मुकावला करें तो इष्ट चीज न मिलनेसे होने वाले विषादके धघेसे बुरा है इष्टके लाभ होने पर होने वाले मौजका धंधा, क्योकि मौजके धधेमे प्रभुकी सुध नही रहती, आत्माकी सुध नही रहती। जहाँ ज्ञानकी, आत्माकी सुध न रहे वह धंधा वहुत विकट भयंकर है, भव-भवमे रुलाने वाला है, अनेक दुर्गतियोमे जन्म लेनेका कारण है और इष्टके अलाभमे जो विषाद हुआ उस विषादके समय मे इस जीवको प्रभुकी सुध होती है।

इष्ट लाभमे मौजमस्त होनेके कारण प्रभुताकी बेसुधीका महान् उत्पात—अच्छा थोडा मोटी बात यहीकी विचार लो—किसी गृहस्थको यदि घरके कोई झफट लद गए, कोई विपदा आ गई तो देखो मन्दिरमे आकर प्रभुमूर्तिको देखकर कैसा अनुराग बनता है ? एक लगन हो जाती। होती है इस भावसे कि हे प्रभु मेरा दु.ख मिटा दो, दु ख आनेपर आते तो है मन्दिरमे, बडी भक्तिमे लगते तो है। कोई विरले ही होते है ऐसे कि जो सुखमे प्रभुभक्तिमें बहुत समय बितायें। जो सुखमे भी प्रभुभक्तिमे अपना समय बिताये ऐसा पुरुष धन्य है। प्राय. करके यह देखा जाता कि लोग दुःख आनेपर प्रभुके गुणगानमे भारी समय देते है और सुख आ जाय, बाधा मिट जाय तो प्रभुको सुध भी नही लेते। तो देखो जो ज्ञानकी सुध कराये, प्रभुकी सुध कराये, कठिन कर्मबधनको रोक दे, ऐसा जो विषादका धधा है वह तो कुछ अच्छा है, पर इष्ट चीजके मिलनेपर जो मौज माना जाता है वह मौजका धधा इस जीवको अच्छा नही। जो लोग मौजमे मस्त रहे है उनको बडे बुरे दिन देखने पडते है, क्योकि मौज रहेगा कब तक ? किसी भी तरहका मौज मान ले तो वह मौज कब तक रहेगा ? चीज मिटेगी, तुम मिटोगे, वियोग होगा, कल्पना जगेगी और पहले मौज पाया उसका स्मरण होगा, तो जो वर्षो मौज पाया है उस सबकी कसर ५–७ मिनटमे निकल जायगी। इतना विषाद होगा, इतना सक्लेश होगा कि वह सारे मौजमे मस्त होनेकी कसर ५ मिनटमे अतिसक्लेशरूप मे निखर जायगी। मौजमे मस्त होना भला नही है। इस मौजके साधनको मानो यह कर्म-विपाक है, कर्म लीला है। समागम मिला है मुझको फसानेके लिए, तो देखो इष्टके न मिलने पर होने वाले विषादसे कही बुरा है इष्टके मिलनेपर होने वाला मौज। मोहमे ज्ञानकी सुध नही, अपनी सुध नही, प्रभुकी सुध नही रहती। वहाँ विकट कर्मबन्ध होता है।

पापसे दूर रहनेमें ही लाभ—देखो हम चाहे छुपकर पाप करें, प्रकट पाप करें, जहाँ दुर्वासना है, दुर्भावना है वहाँ कर्मबन्ध अवश्य है और जो कर्म बध जाते है वे भोगे बिना नही टलते है। किसी बिरले महात्मा सतका अधिक समाधिभाव बन जाय तो भले ही कर्म

सक्रान्त होकर निर्जराको प्राप्त हो जायें, मगर यह तो समझो लाखोमे एककी बात, किन्तु जो कर्म बाँधे है वे कर्म भोगने अवश्य पडते है। मोही पुरुष यह मानते हे कि मुझको तो बहुत मौज है, दुःख आ ही नही सकता, क्योकि मै बहुत ही भला हू, बढिया हू, सुख है, पुण्यका उदय है, मगर कलका भी भरोसा नही कि यह पुण्य टिकेगा या नही। पता नही कब कैसी विपत्ति आ जाय, कुछसे कुछ हो जाय, इसलिए कर्मबन्धसे अवश्य डरो। और कभी भी पाप भाव, विषयोका भाव मत करो। विषयोको देखकर हर्ष न मानो, उन विषयोको देखकर पापमयी भावके समर्थनके भाव मत बनाओ, नही तो विकट कर्मबन्ध होगा और उसका फल इसको ही भोगना पडेगा। सर्व जीवोमे मित्रताका भाव रखें, भीतरमे सब जीवोका स्वरूप एक समान समझें, स्वरूपकी भूल न करें। संसारमे कुछ भी चीज उपादेय नही है जिसके लिए मायाचार छल कपट बनाया जाय और लोभके परिहार करनेमे तो ऐसे कौतूहली बनें कि जरूरत समझे, आवश्यक समझें तो उसका परित्याग करे धर्मके काम और जीवोके उपकारके लिए। एक ऐसा निःसग बनें भीतरमे कि कुछ विचार मत करें कि मै इसको त्याग दूगा तो मेरेको कमी पड जायगी। जैसे बहुतसे खेल देखे वैसे ही एक यह भी खेल देख लो, मरनेपर तो छूट ही जाता है, जरा जिन्दगीमे ही उसका खेल बना लो। उसके लोभ त्यागकी मौज माननेकी और न जानें क्या क्या बातें गुजर सकती है ? क्या मै दुःखी हो सकता हू, अथवा नही, ये सारी बातें देख तो डालो, मरने पर छूटेगा तो वह तो विवश होकर छूटेगा, पर अपने जीवनमे इतना उदारताका भाव लावें कि जिसका सुफल इसी भवमे मिले, भविष्य भी अच्छा बने।

सद्भावनाओसे कषायरंग तज कर शान्तस्वरूपमे मग्न होनेका संदेश— देखो— कषायोका रग त्यागकर अपने आपके अविकार स्वरूपको निरखकर अपनेको शान्त बनावें। चार भावनायें जो आचार्यसतोने कहा है—१–मैत्रीभाव, २–प्रमोदभाव, ३–कारुण्यभाव और ४–माध्यस्थ्यभाव, इन भावनाओका पूरा पालन करें। सर्वजीवोको जब भी देखें तब एक बार यह जरूर सोचले कि इसका सहजस्वरूप वही है जो मेरा है। गुणियोको देखकर, सयम, व्रत, पालनकरनहारको देखकर प्रमोद लावें, हर्ष लावें, मार्ग तो यही है, इसके विपरीत अन्याय करे, पाप करें अथवा गुणी जनोको देखकर गाली दे घृणा करें तो इससे बडा विकट कर्मबन्ध होता है। भले ही कुछ पुण्यका उदय हो सो अभी पता नही पडता, लेकिन जब कर्मोदय आयगा तब सब सामने आएगा और पछताएगा। व्यर्थकी क्रियायें है, खोटी क्रियायें है। जब एक अजैन साधुको देखकर आप गाली नही दे सकते, उन्हे पापी नही कह सकते और बल्कि उनके हाथ भी जोड़ने लगते और एक यहाँ जैन व्रती, त्यागी, साधुसत कोई हो,

उससे नाक-भौ सिकोडना, घृणा करना, पापी कहना, निरन्तर चित्तमे यह कैसे दु:खी हो, यह कैसे टले आदिक खोटी-खोटी भावनायें बनाना और ऐसी भावनाओमे सहयोग देना, भला सोचो तो सही कि यह अपने लिए कितनी कलककी बात है? पश्चिमी अत्यात्मकी खोटी वासनामे न बह जावें, क्रोधभाव न लायें, गुणियोको देखकर हर्ष मानें, कोई न करे तो न करे मगर खुदकी जिम्मेदारी तो समझें। खुदका किया हुआ खुदको ही भोगना पडता है। दीन दुखियोको देखकर करुणाभाव चित्तमे लायें, दया लाये। यदि बन सके तो उसका दु:ख दूर करें। जो ऐसा भाव भी बना रहा हो तो वह भी कुछ शान्त परिणाममे आयेगा और जो अविवेकी है, कुबुद्धि जिनके छायी हुई है उनमे माध्यस्थभाव रखे, ससारसे विरक्ति लावें, शरीरसे वैराग्य लायें, ससारका स्वभाव विचारें, ऐसे कुछ शुद्ध चिन्तनमे आवें और पाये हुए इस दुर्लभ मानवजीवनको सफल करे। अगर हमने इस जीवनमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र और इनके आराधक महान पुरुष सतोकी आस्था की तो हम इस जीवनको पवित्र बना सकेंगे और यदि हमने रत्नत्रय और रत्नत्रयके धारक पुरुषोके प्रति विरोध किया, विद्वेष किया तो जैसे अनेक भव गुजार डाले व्यर्थ, ऐसे ही यह भव भी व्यर्थ गुजर जायगा।

(७७)

समस्त बाह्य पदार्थोसे उपयोगका दकदम कटाव कर दो। उपयोगमे ज्ञानमात्र अत: सहजस्वरूप ही प्रतिभासने दो। भव-भवमे क्लेश सहते रहना अच्छा नही, ज्ञानमग्न होकर भवरहित हो जाओ।

(७८)

द्वेष वाला व्यवहार विपत्ति करता है, राग वाला व्यवहार विडम्बना करता है। विपत्ति और विडम्बना दोनो ही सक्लेशहेतु होनेसे अहित है। अन्तस्तत्त्वको निरखो, रागद्वेषसे हटो, ज्ञानमग्न होओ, यह समाधि ही सत्य सम्पदा है।

॥ सहजानन्द ज्ञानामृत प्रवचन समाप्त ॥